प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड

लेखक
डॉ० रांगेय राघव
एम० ए०, पी-एच० डी०

प्रकाशक
सरस्वती पुस्तक सदन, मोतीकटरा, आगरा

प्रकाशक
फूलचन्द गुप्त संचालक
सरस्वती पुस्तक सदन
मोतीकटरा, आगरा

प्रथम संस्करण १००० { मूल्य चार पया } सन् १९५४

मुद्रक
राकेशचन्द्र उपाध्याय,
आगरा पॉपूलर प्रेस, आगरा

आओ!

लेखको! मनुष्य की आत्मा के शिल्पियो! अतीत के सारे लेखक हमारी ओर हैं और कह रहे हैं कि "जितना हम मनुष्य के लिये अपने युग के बन्धनों में रहकर कर सकते थे, वह सब प्रगति हम तुम्हें देते हैं, तुम उसे लो, और मनुष्य के अन्तर्बाहर को सुन्दरतम बनाने के लिये, अपने व्यक्ति के संकुचित स्वार्थों को छोड़कर एक हो जाओ! उससे युद्ध करो जो मनुष्य का शत्रु है। उन कारणों को मिटाओ जिन्होंने आज तक के मानवतावादी मेधावियों और बलिदानी वीरों के तपस्पूत स्वप्नों को व्यर्थ कर दिया है; जिन्होंने बार बार रूप बदल बदल कर संसार को दुख से भर दिया है।"

तमसो मा ज्योतिर्गमय,
असतोमासद् गमय!

विषय सूची

भूमिका

प्रस्तुत पुस्तक में मैंने जो लिखा है मेरी विभिन्न विषयों पर प्रगतिशील चिंतन के लागू करने की साधना है, जिससे अतीत, और वर्तमान की व्याख्या की जा सके। इसमें रस, सन्त सम्प्रदाय, गांधीवाद, भाषा, कम्युनिस्ट पार्टी और प्रगतिशील आन्दोलन के सम्बन्ध और मतभेद, ईश्वर, धर्म, प्रकृति, राजनीति, रोमान्स, प्रेम आदि विषयों पर प्रकाश डाला गया है। इसमें हिंदी साहित्य के इतिहास को समझाने के साथ भारतीय इतिहास का भी विवेचन किया गया है। विभिन्न वादों की भी समीक्षा है। परन्तु मैंने जिनका भी विरोध किया है, सैद्धांतिक आधार को लेकर किया है। मेरे विरोधियों से मेरा कोई भी व्यक्तिगत वैमनस्य नहीं है, और उनको भी मुझसे नहीं है, और नहीं होना ही चाहिए। वे अपना मत प्रगट करने को स्वतन्त्र हैं, मैं अपना। ठीक गलत का निर्णय भविष्य ही कर सकेगा।

प्रगतिशील खेमे के लोगों की भी मैंने कड़ी आलोचना की है। प्रगतिवादी कह सकते हैं कि यह तो प्रगति के विरोधियों को अस्त्र देने के समान है। मैं इस तरह की बात नहीं मानता। मैं किसी पार्टी का सदस्य नहीं हूँ अतः जनता के प्रति ही जिम्मेदार हूँ, पार्टियों के प्रति नहीं। मैंने पक्ष और प्रति पक्ष दोनों ही दिखाये हैं और अपना मतभेद भी स्पष्ट कर दिया है।

सैद्धांतिक विवेचन के कारण इसमें सिद्धान्तों की बात पर ही विचार किया गया है, व्यक्तियों के नाम नहीं गिनाये गये। आधुनिक प्रगतिशील साहित्य की समस्त प्रवृत्तियों की व्याख्या भी विस्तार भय से नहीं कर सका हूँ।

यहाँ कुत्सित समाज-शास्त्र पर भी एक दृष्टिपात कर लेना

आवश्यक है। कुत्सित समाज-शास्त्र की व्याख्या करना इसलिये सहज नहीं है कि इस शास्त्र का पारंगत शास्त्री अपने को क्रान्ति-कारी शब्दावली में छिपाने में लगा रहता है। इस प्रकार के अनुभवी शास्त्रज्ञ की पहली पहचान है अतिक्रान्तिवाद या क्रान्ति को रोकने को प्रयत्नशील रहना। ऐसा व्यक्ति एक जीवित दर्शन की वैज्ञानिकता को नष्ट कर के उसे रूढ़ बनाने का प्रयत्न करता है। ऐसा शास्त्री अवसरवादिता में पटु होता है। उसकी बात का तर्क यह होता है कि वह कभी किसी तर्क पर स्थिर नहीं रहता, वरन् अपने हाली मतलब को साँधने के लिए गलत उद्धरण देते हुए भी नहीं हिचकिचाता और हर बदलती परिस्थिति में अपनी पुरानी गलतियों पर पर्दा डाले रहने की चेष्टा किया करता है।

प्रगतिशील साहित्य शोषण का विरोध करता है। शोषण केवल आर्थिक ही हो ऐसा नहीं है। उसके विभिन्न रूप हैं। वह मानसिक भी होता है और पेट की मजबूरी से जब बुद्धि को बेचना पड़ता है तब कला का ह्रास प्रारंभ होता है।

मनुष्य का इतिहास प्रमाणित करता है आज तक शोषण किसी न किसी रूप में जीवित रहा है। समाज की व्यवस्था बदली है, वर्गों के पारस्परिक संबंध बदले हैं, किंतु पूंजीवाद तक शोषण जारी रहा है, उसके रूप सदैव ही बदलते रहे है।

शोषण किसी भी रूप में हो प्रगतिशील साहित्य उसका प्रत्येक युग में विरोध करता है। आज ही नहीं, वह कालिदास के युग में भी यही देखता है कि उस समय कौन शोषक वर्ग का हियायती था और कौन नहीं था। जब हम प्रगति खोजते हैं तब यही देखते हैं कि कौन जन-समाज की स्वतन्त्रता में बाधा डालता था, कौन नहीं। जो जन-समाज को आगे बढ़ाता था वही हमें प्रगतिशील दिखाई देता है।

क्रान्ति केवल रक्त पात से नहीं समझनी चाहिये। क्रान्ति वह अवस्था है जब एक व्यवस्था दूसरी व्यवस्था को एक झटके से प्राप्त

कराती है। अगर वह परिवर्त्तन धीरे-धीरे विकास से प्राप्त होता है तो उसे क्रान्ति नहीं, विकास कहा जाता है।

आज प्रगतिशील साहित्य उस अवस्था को शीघ्रतम लाना चाहता है जो शोषण का दौर समाप्त करने में सहायक हो। क्रांति का मतलब मजदूरों का उत्थानमात्र नहीं है। पहले बौद्धिक परिवर्त्तन की जड़ें जमानी पड़ती हैं। एक विशेष अवस्था में जब समाज के विभिन्न वर्ग अपनी क्रान्तिकारी शक्तियों को काम में लगा चुकते हैं तब मजदूर वर्ग आगे आता है। आज मजदूर क्रान्ति का दौर नहीं है, साम्राज्यवाद विरोधी मोर्चे को दृढ़ करने का भारत में प्रयत्न है। यही प्रगतिशील साहित्य का राजनैतिक और वर्त्तमान पक्ष है। किंतु प्रगतिशील साहित्य इतने में ही समाप्त नहीं हो जाता। उसका ध्येय जनकल्याण है और मनुष्य के जीवन का सर्वाङ्गीण चित्रण करते हुए श्रेष्ठ कला को जन्म देना है। वह व्यंग्य और प्रहारों में समाप्त नहीं हो जाता, वह स्वयं नया निर्माण है।

अध्यात्मवाद के समर्थकों का कहना है कि जब आप हर चीज को बदलता हुआ मानते हैं तो फिर वह क्या चीज रहेगी जो आगे के युग में भी साहित्य में स्थायी बन कर रह सकेगी।

इस प्रश्न का तथाकथित प्रगतिशील साहित्य के आलोचक उत्तर नहीं देते। वे इसका उत्तर दे भी नहीं सकते क्योंकि वे पार्टी के दस्तावेजों की राजनीति के पुनर्लेखन को साहित्य कहते हैं। वे रवीन्द्र की आलोचना के समय केवल रवीन्द्र की रजनीतिक रचनाओं का हवाला देते हैं। कला-कला के लिये वाले, या प्रकृतवादी, प्रयोगवादी आदि भी इसका उत्तर नहीं दे सकते क्योंकि वे साहित्य को एक रस बनाने वाले होते हैं जिसका युग से संबंध नहीं हो।

युग ही साहित्य का आधार होता है। आज का युग कल को अतीत हो जायेगा। आज का सफल चित्रण ही कल मानवी भावनाओं के तादात्म्य से साहित्य बनता है। केवल युग के सफल

चित्रण के लिए इतिहास काफ़ी है। साहित्य मनुष्य का सर्वाङ्गीण चित्रण है। मानवी भावनाओं, युग चित्रण, जनकल्याण का सत्य तथा सुन्दर अभिव्यक्ति से ही साहित्य बनता है। किसी भी युग का असली ईमानदार वर्णन ही साहित्य को सप्राण बनाता है। वह वर्णन मनुष्य के हृदय को यदि स्पर्श करता है, यदि उसकी वर्णन शक्ति अच्छी होती है और यदि वह जन-कल्याण के लिये होता है, अर्थात् दुरूह और अनर्गल नहीं होता तो वह श्रेष्ठ साहित्य है।

प्रगतिशील साहित्य और उसके मानदण्ड केवल राजनीति में समाप्त नहीं हो जाते, वरन् मनुष्य जीवन की व्यापकता का स्पर्श करते हैं। हम वर्गों वाले समाज से वर्गहीन समाज की ओर जा रहे हैं और जो साहित्य विभिन्न युगों को पार करके जायेगा उसमें विभिन्न क्षेत्र भी रहेंगे। प्रगतिशील साहित्य ही मनुष्य की जययात्रा की गौरवशील-गाथा है, जिसमें जीवन का सत्य ही उसके समस्त सौंदर्य का आधार होता है।

सांस्कृतिक विवेचना और आलोचना
संबंधी
लेखक की अन्य रचनाएँ

१—भारतीय पुनर्जागरण की भूमिका १॥) (अप्राप्य)

२—भारतीय चिंतन २॥)

३—संगम और संघर्ष २॥)

प्रेस में:—

१—गोरखनाथ

२—प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास

[अन्य विषयों पर लेखक कृत पुस्तकों की सूची पुस्तक के अन्त में देखिये]

१—प्रगतिशीलता की भावना का जन्म और विकास

वर्ग संघर्षों का वैज्ञानिक विश्लेषण होने के बाद साहित्य में जब उसको देखा जाने लगा तब साहित्य के मानदण्ड बदल गये। पहले काव्य-शास्त्र के विषय में आचार्यों ने विभिन्न नियम और मत प्रतिपादित किये थे। यूरोप में यूनान से अधिक प्रेरणा ग्रहण की जाती थी। अरस्तू इत्यादि के अनुकरणवाद की विस्तृत समीक्षा की गई थी।

कवि हृदय नियमों में सदैव बँधा हुआ नहीं चलता। वह तो अपने को प्रगट करने में ही अपना सन्तोष प्राप्त करता है। शेक्सपियर अपने वास्तविक जीवन में सामंतीययुगीन व्यक्ति था और अपनी रचनाएं सामन्तों को घुटने टेक कर समर्पित भी करता था, जो आजकल कविगण नहीं करते। किंतु वह एक महान लेखक था। स्वयं कार्लमार्क्स ने उसकी रचनाओं में उठते हुए पूंजीवाद के प्रगतिशील तत्त्वों की हिमायत पायी थी, और इसलिये शेक्सपियर को एक महान लेखक माना था।

होमर देवीदेवताओं में विश्वास रखता था। फिर भी ऐंगिल्स उसके काव्य को बड़े चाव से पढ़ा करता था। इसी प्रकार प्रायः सभी पुराने महान लेखकों के विषय में कहा जा सकता है।

महान लेखक प्रायः ही अपने भीतर प्रगतितत्त्व धारण करता है। प्रगति जनकल्याण है, कितनी अधिक, कितनी कम, इसका निर्धारण प्रगतिशीलता के मानदण्ड कर सकते हैं। प्रगति संसार में सदैव रही है, जीवन में भी, साहित्य में भी, किंतु अब हम जिसे प्रगतिशीलता कहते हैं वह सामाजिक तथा राजनैतिक विश्लेषण के आधार पर स्थिति है और उसी के आधार पर हम किसी कवि को

तत्कालीन समाज और तत्कालीन राजनीति में सापेक्ष रूप से रख कर उसकी आलोचना करते हैं।

इस नयी भावना का जन्म कार्लमार्क्स से हुआ, जिसने वर्ग-संघर्ष की वैज्ञानिक जानकारी प्रस्तुत की।

मार्क्स एंगिल्स, लेनिन, स्तालिन तथा माओत्सेतुंग ने साहित्यों पर अपने-अपने विचार प्रगट किये हैं। उनकी विवेचना का आधार द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और ऐतिहासिक भौतिकवाद की कसौटी पर रहा है। और उन्होंने जहाँ का विवेचन किया है वे वहाँ का इतिहास और सामाजिक विकास समझते थे।

हिंदी में इस भावना का विकास विलायत से लौटे हुए उन मध्यवर्गी या उच्च मध्यवर्गीय युवकों ने किया जो मार्क्सवाद से प्रभावित थे, किन्तु जिनका ज्ञान भारत के विषय में नहीं के बराबर था। वे लोग भारत के इतिहास और संस्कृति को कुछ अंग्रेजी अनुवादों के माध्यम से ही पढ़ सके थे। हम उनके सद्प्रयत्नों को कम करके दिखाने की चेष्टा नहीं कर रहे हैं, वरन् यह बताने का यत्न कर रहे हैं कि प्रारम्भ से ही जो नींव पड़ी उसकी ईंट टेढ़ी गिरी और दुर्भाग्य से उसके ऊपर की इमारत भी जरा तिरछी ही उठी। परन्तु जिन लोगों ने ऐसी विकृति को सुधार लेने के स्थान पर अपने अवसरवाद या अज्ञान के कारण उसे ही पकड़े रखा, वे कम हैं और कुत्सित समाजशास्त्रियों के नाम से आज प्रगट हो गये हैं।

प्रारम्भ में जब प्रेमचन्द ने इस धारा को देखा था, तो उन्होंने समझ लिया था कि चीज तो अच्छी है, सही है, पर जो आज इसके रखवाले हैं, वे नादान लगते हैं और इसीलिये उन्होंने इसकी एकांगिता का विरोध किया था। प्रेमचन्द ने स्पष्ट कह दिया था कि प्रगति तो सदैव रही है, फिर यह नाम देना उचित नहीं है।

परन्तु जिस देश की जनता जागरूक नहीं हो जाती, वहाँ प्रारंभिक नेता इसी प्रकार की एतिहासिक उलझनों में रहते हैं। यह नेता यूरोपीय दृष्टिकोण से भारत को देखते थे और यूरोपीय लोग

उनकी पीठ ठोकते थे, यद्यपि भारतीय भूमि में यह आन्दोलन बढ़ा और इसलिए बढ़ा कि इसकी ऐतिहासिक आवश्यकता थी, किन्तु इसका नेतृत्व वे लोग आगे नहीं कर सके जिन्होंने अर्थ का अनर्थ करने की परम्परा को जारी रखा।

प्रगतिशील साहित्य का प्रारंभिक रूप अपने नवीन-जीवन-दर्शन को प्रतिपादित करने में रहा। यद्यपि कम्युनिस्ट पार्टी के उन नेताओं ने संकीर्णता का रास्ता पकड़ा, क्योंकि उन्होंने भारत की परिस्थिति को समझा नहीं, भारत की धरती में से ही प्रगतिशील तत्त्वों ने जन्म लिया, जन्म लिया क्योंकि इतिहास के विकास ने उन्हें जन्म दिया था। वे तत्त्व फलते रहे, फूलते रहे।

यूरोपीय दृष्टिकोण से सोचने वाले अपने निम्नमध्यवर्गीय छुटपूंजिये अवसरवाद के कारण यह समझते रहे कि वे ही विदेश से प्रगति के विचारों को ला ला कर यहाँ जमा रहे हैं, जब कि सचाई यह थी कि यह परम्परा हिंदी में भारतेन्दु से प्रारम्भ होकर प्रेमचन्द और प्रसाद में फूटी थी, पन्त और निराला में फूटी थी, और इस धारा ने भारतीय जीवन के संघर्षों में से इसको रक्षित किया था, यह विचार धारा अपने देश की परिस्थितियों में से एतिहासिक कारणों के कारण जन्म ले रही थी। मैथिलीशरण ने सामन्तीय बधनों को तोड़ा था। महादेवी ने नारी जीवन को स्वर दिया था। इन सब ने यहीं संघर्ष किया था, झाड़ियों के बीच में से फूल उगाये थे। बाहर से लाकर कुछ थोपने की चेष्टा नहीं की थी। यही कारण है कि जीवन की जो शक्ति इनके साहित्य में पायी जाती है, जनता से जो इनके साहित्य का तादात्म्य रहा है, वह तथाकथित प्रगतिशील साहित्यिकों का नहीं रहा।

महायुद्ध ने परिस्थिति को बदल दिया। साम्राज्यवाद और सामन्तवाद का शोषण, पूंजीवाद की राष्ट्रीय संघर्ष की परम्परा और शोषणवाद, जनता का असीम दुःख फासिस्टवाद का भीषण आक्रमण, और जनता की बढ़ती हुई चेतना अब साहित्यकारों से

व्याख्या के आगे भी कुछ माँगने लगे और साहित्य का ठोस सर्जन प्रारम्भ हो गया। इस समय रूस पर आक्रमण हो जाने के कारण संसार की जनताएं समीप आईं, और साम्राज्यवाद का चेहरा और भी साफ हो गया। अब प्रगतिशील साहित्य का नेतृत्व भारतीय जीवन में उतरने लगा और व्यापक मोर्चा बनने लगा। व्याख्या से आन्दोलन का जन्म हुआ और श्रेष्ठ कलाकारों ने उसमें सहयोग दिया, जैसे सुमित्रानन्दन पन्त, जोश मलीहाबादी आदि भी निकट आये। परन्तु अब नेतृत्व में दो भाग हो गये। जो भारतीय जन-जीवन में से जन्म लेते हुए प्रगतिशील तत्त्वों को समझते थे, उन्होंने इनका स्वागत किया, परन्तु जो पुरानी संकीर्णता और अपने अहं में मग्न थे, वे दायरे खींचने लगे और उन्होंने प्रगतिशील साहित्य का अर्थ कम्युनिस्ट पार्टी के दस्तावेजों का प्रचारमात्र समझा। फासिस्टवाद के विरोध, साम्राज्यवाद के विरोध और शोषण विरोध के कारण यह मोर्चा बावजूद अपने भीतरी संघर्षों के बना रहा।

युद्धोत्तरकाल में भारतीय इतिहास और सामाजिक जीवन में नयी हलचल हुई। और कम्युनिस्ट पार्टी का नेतृत्व अधकचरे भारतीय श्री पूरनचन्द्र जोशी के हाथ से निकल कर विशुद्ध त्रात्स्कीवादी श्री बी० टी रणदिवे के हाथ में चला गया और कम्युनिस्ट पार्टी जनजीवन से दूर हो गई और उसके बुद्धिवादी कुत्सित समाज शास्त्रियों ने भारतीय परिस्थितियों को बिल्कुल नहीं समझा और इस मोर्चे को भयानक धक्का दिया और तोड़ दिया। अब प्रगतिशील साहित्यिक दो खेमों में बँट गये—एक कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य लेखक। दूसरे, वे जो प्रगतिशील साहित्य सर्जन करते थे, पर पार्टी के सदस्य न थे। पहले गुट के लिए सत्साहित्य लिखने वाला पार्टी सदस्य ही हो सकता था, और जब वह अनुभव करता था कि हम लोग बहुत कम हैं तो कुछ इधर-उधर के ऐसे टुटपूंजिये लेखकों के नाम गिनाने में लगता था

जो जीवन्त रूप से कुत्सित समाज शास्त्र से प्रभावित थे, तो दूसरा वर्ग अच्छे लेखकों को ही मानने को तैयार था और यह विश्वास करता था कि प्रगति का सम्बन्ध जनजीवन से है, चन्द ऐसे लोगों में ही वह समाप्त नहीं हो जाती जो कालेजों में बैठ कर चाय के प्यालों में ही क्रान्तियाँ किया करते हैं। पहला वर्ग पूँजीवाद और सामंतवाद को इकट्टे मजदूर क्रान्ति से उखाड़ने में लगा था, दूसरा वर्ग बदलती परिस्थितियों को देखकर शोषकों की वास्तविकता का परिचय दे रहा था।

किन्तु पहले वर्ग का यह जनजीवन से अलगाव बहुत दिन नहीं चल सका। रणदिवे के सहायकों ने चोगे बदले, फिर क्रांति के नारे लगाकर मुँह की नकाब उठाये बिना जनजीवन से आकर मिल जाने का प्रयत्न करने लगे। आपस में भी फूट पड़ी। और एक नया मोर्चा बनाने में सब फिर दत्तचित्त हुए। संकीर्णतावादियों ने अपनी गलतियाँ तो ईमानदारी से स्वीकार नहीं की, क्योंकि वे मूलतः अवसरवादी थे, पर वे अब पुराने रागों का अलापना बन्द कर चुके थे और चीन और भारत की तुलना करने लगे। परन्तु उनके समस्त आधार गलत थे, और अब उन्होंने भारतीय इतिहास को विकृत करना प्रारंभ किया है।

परन्तु ऐसे लोग कम हैं। प्रगतिशील साहित्य इन कुत्सित समाजशास्त्रियों और उनके नासमझ चेलों में समाप्त नहीं हो जाता, वह जनजीवन की ऐतिहासिक आवश्यकताओं में जन्मा है, संकीर्णतावादी नेतृत्व की गलतियों के बावजूद, पूँजीवाद के शोषण के विरुद्ध अपने अभावों की अनुभूति के कारण बढ़ा है, और क्योंकि सामन्तवाद, पूँजीवाद और साम्राज्यवाद से जनजीवन मुक्त होना चाहता है, उसका संघर्ष निरन्तर बढ़ता ही जायेगा।

युद्ध के बाद साम्राज्यवाद, सामन्तवाद और पूँजीवाद, तीनों का रूप बदला है। संकीर्णतावाद के युग में कुत्सित समाजशास्त्रियों ने निम्नलिखित रुख लिया था—

(१) भारत १९४७ में स्वतन्त्र होगया। पूर्ण स्वाधीनता आगई, सरदार जाफरी ने अजन्ता की परियाँ नचाईं।* नागार्जुन, अमृतराय, प्रकाशचन्द्रगुप्त जयजयकार करने लगे।

---

* सरदार जाफरी ने स्वतन्त्रता पर बड़ी प्रशंसात्मक कविता लिखी थी। बाद में 'फ़रेब' के नाम से उसका खण्डन किया था, भारतीय पूँजीवाद ने जैसे इन्हें बेवकूफ बना दिया था।

नरोत्तम नागर के 'दिन के तारे' और 'शुतमुर्गपुराण' में उनके प्रगतिशील चोगे के पहले का यौनवादी रूप मिलता है।

अमृतराय ने अपनी 'साहित्य में संयुक्त मोर्चा' नामक पुस्तक में बताया है कि डाक्टर साहब जब प्र० ले० संघ के मन्त्री थे तो लेखक रचनाएँ प्रकाशित कराने के पहले इनको दिखलाते थे कि कहीं अमुक रचना प्रतिक्रियावादी तो नहीं।

यशपाल आदि पर जो विकृत आलोचनाएँ लिखी गईं थीं वे तो प्रसिद्ध ही हैं। शिवदानसिंह पर भी हमला किया गया था। हम यह नहीं कहते कि आलोचना नहीं करनी चाहिये। परन्तु वह संयत और ठीक होनी चाहिये। जब हम इस प्रकार की आलोचना का विरोध करते हैं तो डाक्टर साहब का नहीं, बल्कि उस संकीर्ण विचारधारा का विरोध करते हैं।

रियासतों के विषय में तत्कालीन हंस और प्रगतिशील पत्र-पत्रिकाएँ देखिये।

चीन के विरुद्ध लिखी थीसिस यद्यपि छपी नहीं, परन्तु डा० शर्मा यदि इसे अस्वीकार करदें तो हम प्रसन्न होंगे। वे ऐसा कर नहीं सकते।

इस विषय पर हमने आगे एक पूरा अध्याय लिखा है क्योंकि राजनीति और प्र० साहित्य का जुड़ा हुआ सम्बन्ध है। संकीर्णतावादी साहित्य राजनीति की संकीर्णता से आया है। हम उन बुद्धिमानों की बात नहीं करते जो कहते हैं कि 'सब ही ने किया, तो

(२) परन्तु उनके स्वप्न टूटे। अब वे—'फरेब और उसके बाद' (जाफरी) जैसी रचनाएँ लिखने लगे। नागार्जुन ने बहुत से टका-सेर भाजी गीत लिखे। अमृतराय के हंस में यौन समस्याओं के लेखक नरोत्तम नागर जैसे लोग क्रान्तिकारी बन गये। डा० राम-विलास शर्मा लोगों की कविताओं को क्रान्ति के सफल चित्रण के नम्बर देने लगे। इन दिनों यशपाल, राहुलसांकृत्यायन, सुमित्रा-नन्दन पन्त और रांगेयराघव को जघन्य प्रतिक्रियावादी करार दिया गया। महादेवी वर्मा के साहित्य की निन्दा की गई।

(३) रियासतों में राजा तो हटाये गये, पर इन्हें उनकी गद्दी खाली नहीं दिखाई दी।

(४) इन्हें राष्ट्रीय पूँजीवाद और साम्राज्यवाद में अन्तर दिखाई देना बन्द होगया। नेहरू का अर्थ यह डालर से लगाने लगे।

(५) चीन की क्रान्ति के विरुद्ध तक बोल जाने वालों में डा० रामविलास शर्मा रहे।

(६) तिलंगाना में सशस्त्र क्रान्ति आवश्यक है, बताई गई।

परन्तु संकीर्णता का युग समाप्त होने लगा तो यह परिवर्तन हुआ—

(१) भारत १९४७ में पूँजीपतियों के लिए स्वाधीन होगया।

(२) जिन लोगों को तब निकाला गया था उनमें कमजोरियाँ तो वही हैं परन्तु खैर उन्हें संग ले लेना चाहिये। गई सो गई। अब उस पर पर्दा ही डाल देना ठीक है।

क्या हर्ज है?' या 'डाक्टर साहब की गलतियों में भी संजीदगी है' वेद को भी अपौरुषय समझने वाले भारतीय अभी जीवित हैं। उनसे जाकर मिलिये। ऐसे लोगों को खलील जिब्रान की 'दासता' पर लिखी रचना पढ़कर ज्ञान लाभ करना चाहिये।

कुत्सित समाजशास्त्र का ज्ञान करना हो तो "हंस" में प्रकाशित 'दोशीजा और मौत' नामक कविता और उस पर हुई बहस पढ़िये।

(३) रियासतों में राजा तो गये, पर अभी उन्हें 'प्रिवीपर्स' मिलते ही हैं, अतः सामंतवाद कायम ही है।

(४) नेहरू डालर तो नहीं, पर डालर से प्रभावित अवश्य हैं। राष्ट्र में दो पूँजीवाद हैं। एक राष्ट्रीय, एक कम्प्रेडोर। [यह अन्त-र्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट मुख पत्र के अग्रलेख के कारण स्वीकार करना पड़ा।]

(५) चीन की क्रान्ति महान् है और अब उसे भारत पर हूबहू लागू करना चाहिये। भारत में उसी की आवश्यकता है।❀

(६) तिलंगाना में हम विजयी हुए हैं परन्तु सशस्त्र क्रान्ति की अब आवश्यकता नहीं है।

मेरा दृष्टिकोण निम्नलिखित है:—

(१) भारत १९४७ में पूर्ण स्वतन्त्रा प्राप्त कर सका, ऐसी जैसी कि कोई भी पूँजीवादी देश प्राप्त करता है। किन्तु जनता को वही हाल मिला जो किसी भी पूँजीवादी देश में होता है।

(२) मोर्चा खण्डित करने को लेखकों को आक्रमण का साधन बनाया गया अपने को क्रान्तिकारी प्रमाणित करने के लिये। वे आलोचनाएँ एकांगी हैं कुत्सित समाजशास्त्र का प्रतीक हैं जिनमें वास्तविकता के स्थान पर अतिरंजना है। असली कमजोरियों पर हाथ न रखकर उल्टे-सीधे बयान दिये गये।

(३) रियासतों में सामंतवाद के घुटने तोड़कर पूँजीवाद बढ़ा, अवश्य ही जनता को शक्ति नहीं मिली।

(४) नेहरू अमरीकी डालर नहीं है। वह पूँजीवाद का सहा-यक है अवश्य। राष्ट्रीय पूँजीवाद अभी भी क्रान्तिकारी है, कम्प्रे-डोर नहीं है।

(५) चीनी क्रान्ति को हूबहू भारत पर लागू न करना चाहिये, वरन् भारतीय आवश्यकताओं को देखना चाहिये।

❀ आगे हमने इसका उद्धरण दिया है।

(६) तिलंगाना में अतिक्रान्तिवाद ने सशस्त्र युद्ध करवाया था। वहाँ कम्युनिस्टों की बुद्धिमता से जनता कांग्रेस विरोध में नहीं गई, वह गई कांग्रेस के बर्बर आतंकवाद से।

परन्तु यह तो राजनीति का पक्ष हुआ। प्रगति इतने में ही सीमित नहीं हो पाती। अब इस काल में हिन्दी में अन्यमत भी जीवित रहे हैं और इस पारस्परिक संघर्ष या एकांगितावादियों के कारण बढ़े हैं। उनमें कुछ 'कला कला के लिए' वाले हैं। कुछ प्रयोगवादी हैं और प्रयोगवाद का अर्थ उनके लिए दुरूहतावाद है। साम्प्रदायिकता भी बहुतों में रही है, जो फासिस्टवाद का ही रूप है। शाश्वतवादी, प्रतीकवादी, सौंदर्यवादी और ऐसे ही अनेक प्रकार के लेखक अपने-अपने मतों का प्रचार करके प्रगतिशील साहित्य की अबाधगति को खंडित करने का प्रयत्न करते रहे हैं और उन्हें एकांगितावादी, संकीर्णतावादियों ने शक्ति दी है, जो कम्युनिस्ट आंदोलन को राष्ट्रीय आंदोलन से अलग करके देखते रहे हैं, जबकि सच्ची अन्तर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीयता दोनों एक ही चीज हैं और रहेंगी। इन पर हम यहाँ विवेचन नहीं करेंगे, वरन् साहित्य सिद्धांत विवेचन के अध्याय में इनको देखेंगे। मूलतः यह सब ह्रासशील हैं, प्रगतिशील साहित्य को यह रोक नहीं सके हैं, न रोक ही सकेंगे। एकांगितावादियों की मूर्खता के कारण इनकी बात को लोग सुन भी लेते हैं. यदि संकीर्णतावादी बुद्धि से काम लें तो उनका सबल विरोधी कोई नहीं हो सकता क्योंकि जो जीवन-दर्शन मुक्ति का साधन है, उसे शोषण के हामी कभी भी विचलित नहीं कर सकते।

प्रगतिशील साहित्य का सृजन करने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि लेखक मार्क्सवादी ही हो। वह मानवतावादी भी हो सकता है किन्तु उसे ईमानदार रहना आवश्यक है। ऐसे ही प्रेमचन्द थे जो कम्युनिस्ट या मार्क्सवादी नहीं होकर भी ईमानदार लेखक थे।

आज प्रगतिशील चिंतन इतना बढ़ गया है कि वह समस्त साहित्य पर छा गया है। उपन्यास, नाटक, कहानी, काव्य, एकांकी, आलोचना, सभी क्षेत्रों में प्रगतिशील साहित्य सर्जन हुआ है। उपन्यास और कहानी में काफी अच्छी रचनाएँ निकली हैं। यशपाल प्रसिद्ध उपन्यासकार हुआ है। कृष्णचंद्र (उर्दू शैली) कहानी में अच्छी सफलता प्राप्त कर सका है। उपेन्द्रनाथ 'अश्क' यद्यपि उच्च कोटि के नाटक नहीं दे सका है, फिर भी उसने साधारणतया अच्छे नाटक दिये हैं। दुर्भाग्य से कविता के क्षेत्र में कोई ऐसा नाम नहीं जो एकदम उज्ज्वल सा दिखाई दे। किसी में हृदय की गहराइयों और कल्पना की ऊँचाइयों को प्रदर्शित करने की सामर्थ्य नहीं आई है। इसीलिए अभी तक पंत, निराला, महादेवी और उर्दू शैली में जोश, जिगर, फिराक का नाम ही अच्छे कवियों में लिया जाता है, उनके बाद का कोई कवि अभी उतनी अच्छी कविता नहीं लिख सका है जितनी यह लोग। इनको ही गिना देना तो साहित्य को समाप्त नहीं कर देता। जैनेन्द्रकुमार अच्छा उपन्यासकार है। दिनकर अच्छा कवि है। यहाँ हम सबके नाम नहीं गिनायेंगे। बहुत से लेखक यदि पूर्णतया प्रगतिशील विचारक नहीं हैं, तो भी वे प्रतिक्रियावादी नहीं है, वे भी प्रगति को आगे बढ़ाते हैं।

आलोचना प्रगतिशील साहित्य में खूब हुई है, किंतु खण्ड रूप से ही सिद्धांत विवेचन हुआ है।

मार्क्स ने अपने समय में इस बात पर बहुत ज्यादा जोर दिया था कि आर्थिक व्यवस्था समाज व्यवस्था का मूलाधार होती है। किंतु जब इस तथ्य को स्वीकार कर लिया गया था तब ऐंगिल्स ने उसी बात की रट को रोका था और जीवन की पूर्णता की ओर इंगित किया था।

हम ऊपर कह आये हैं कि पहले रूप में आलोचना सिद्धांतों

का प्रतिपादन थी, दूसरे में वह प्रचार की ओर अधिक बढ़ी। युद्धोत्तरकाल में वह संकीर्णतावाद की गोद में चली गई।

आलोचना का काम बड़ा कठिन है। आलोचक की दृष्टि निष्पक्ष और पैनी होनी चाहिये। साहित्य के आलोचक को सजग और समझदार होना चाहिये। तुलसी के समस्त काव्य में दो चार पंक्तियाँ ढूँढ़ना; जैसे—खेतीन किसान को इत्यादि, और उसे प्रगतिशील कहकर सिद्ध करने के यत्न से तुलसी के काव्य का अंदाज नहीं होता। हम ऊपर रवीन्द्र की बात कह आये हैं। क्या सचमुच इन कवियों की महानता इस प्रकार की रचनाओं से प्रगट होती है? क्या यह लोग इसीलिये प्रसिद्ध हैं? क्या सूरदास अपने बाल-वर्णन के लिये अधिक प्रसिद्ध है या निर्गुण विरोध के कारण?

आप किसी में भी कोई तत्त्व खोज निकालें, यह उसकी रचना का एक पक्ष हुआ। आप उसकी प्रतिक्रियावादी भावना को छोड़ दें, वह आपके सामने दूसरा पक्ष हुआ। किंतु इतना काम इतिहास का है। साहित्य में एक चीज और है—कला का चित्रण। पात्रों का वर्णन, भावनाओं का चित्रण। उनका मूल्यांकन कोई नहीं करता। और यही कारण है कि छुटपुट बातें कह कर प्रगतिशील आलोचक अपने नाथ जोगियों के से अलख निरंजन वाले चमत्कार दिखाते हैं, परन्तु ठोस बात नहीं करते, जैसे आचार्य्य शुक्ल कह गये हैं।

कविता कैसी हो, कब हो, उसकी सामाजिकता, उसकी राजनीति, सब पर राय मिलेगी, पर प्रगतिशील आलोचक आपको यह नहीं बतायेगा कि कविता क्या है, क्यों होती है, और आगे भी क्यों हो?

इसका परिणाम यह होता है कि जो भारतीय अपने पीछे एक विशाल परम्परा देखता है, भरत से लेकर जगन्नाथ तक साहित्य-समीक्षा सम्बन्धी साहित्य देखता है, वह संतुष्ट नहीं होता और फिर वह उसी ओर मुड़कर भ्रम में पड़ जाता है। प्रगतिशील

आलोचक [redacted] को तो खूब उद्धृत करता है पर अपने देश के इन 'परदेसी' आलोचकों को नहीं देखता जो भारत में अभी तक जीवित हैं। क्योंकि प्रगतिशील साहित्य हिन्दी साहित्य की परम्परा में ही जन्मा है, आलोचक को अपने देश की परम्पराएँ देखनी चाहिये। पहले भारत की व्याख्या आवश्यक है। हिन्दी के आलोचक विदेशी साहित्यिकों के घोर उद्धरण देते हैं परंतु वे भूल जाते हैं कि जिन साहित्यों की आलोचना के रूप में वे तर्क आये हैं, वे साहित्य ठीक भारतीय साहित्य की परम्पराओं में नहीं जन्मे, नहीं फूले-फले। यहाँ तक कि उन प्रगतिशील विदेशी आलोचकों में कितना ठीक है, कितना नहीं है इसका अंदाज़ा भी हिंदी वाले नहीं लगाते। क्रिस्टोफ़र कॉडवेल ने जो कुछ लिखा है, वह सब शाश्वत माना जाता है, परंतु उसके अभावों पर ध्यान नहीं दिया जाता।

हमारा साहित्य प्रारम्भ से ही जनकल्याण की भावना से अनुप्राणित है। उसमें अपने-अपने युग के बंधनों के अनुरूप शोषित वर्गों की हिमायत की गई है, कबीर ने जाति-प्रथा विरोध किया था। संतों ने वर्णाश्रम के शोषण का विरोध किया था। मीरा ने नारी की सामाजिक उन्नति का मार्ग खोला था। जायसी ने हिन्दू मुस्लिम वैमनस्य को रोका था। पुनरुत्थानवादी तुलसी ने मुस्लिम साम्राज्यवाद का विरोध किया था। केशव और देव ने रीतिकाल में नायिका-भेद के युग में भी स्वकीया के गुण गाकर स्त्री की मर्यादा उठाई थी। भारतेंदु, प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी ने उसी मानवतावाद की परम्परा निबाही है, किसी ने अधिक, किसी ने कम। प्रेमचंद, जैनेन्द्र ने उसी परम्परा को अपने बंधनों में आगे बढ़ाया है। प्रगतिशील साहित्य की परम्परा ने राष्ट्रीय आंदोलन के साथ विकास किया है। उसने सोते हुए मानव समाज को विद्रोह का स्पष्ट स्वर दिया है। उसने साम्राज्यवाद से संघर्ष किया है। देशी-विदेशी शोषण के रूपों को उभार कर पर्दा फाश किया

है। बावजूद अपनी कमियों के, उसके जीवित रहने और बढ़ने के दो कारण हैं। एक—इतिहास की अपनी आवश्यकताएँ, जो जाने या अनजाने ही मनुष्यों से अपने काम करवा लेती है, दो—प्रगतिशील साहित्य ने जनजीवन से प्रेरणा लेने की चेष्टा की है, और निरंतर लेता जा रहा है। वह दुरूहता का विरोधी है और भरत के साधारणीकरण के सामाजिक पक्ष की सीधी परम्परा में है। उसमें परिस्थितियों के कारण अभी तक वीर-रस ही प्रधान रहा है, अर्थात् ओज, स्फूर्ति, विद्रोह, आदि रहे हैं, करुण रस भी रहा है, परन्तु अपने व्यापक आधारों के साथ वह निकट भविष्य में महान् रचनाएँ प्रस्तुत करेगा।

प्रगतिशील साहित्य हिन्दी साहित्य की मानवतावादी विचार-धारा का वैज्ञानिक दृष्टिकोण से नयी परिस्थितियों में विकास है। अभी तक समाज में मानवतावाद वर्गों के समन्वयवाद में समाप्त हो जाता था। किंतु नया मानवतावाद मनुष्य के विकास का सामाजिक, राजनैतिक और ऐतिहासिक विश्लेषण कर चुका है और वह उन सब वस्तुओं को स्वीकार नहीं करता जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से मनुष्य समाज और विशेषकर शोषित वर्ग को दबाये रखने के साधन हैं।

प्रगतिशील साहित्य केवल निम्न वर्गों का जीवन-चरित्र नहीं प्रस्तुत करता। वह उच्च वर्गों की वास्तविकता—उनके संघर्ष, स्वार्थ रक्षा के प्रयत्न, उनके अंतर्विरोध, इनको भी प्रगट करता है। प्रगतिशील साहित्य किसी एक वर्ग की वस्तु नहीं, वह सबकी वस्तु है, तभी गोर्की की 'माँ' देश-विदेशों के मध्यम-वर्ग भी पढ़ कर आनन्द पाते हैं। प्रगतिशील साहित्य सब वर्गों की वस्तु होते हुए भी 'सत्य' का अवलम्बन लेता है और सत्य एक ही है, अर्थात् समाज का सच्चा चित्रण, तो वह सब वर्गों के हित की बात नहीं करता, वह शोषित वर्गों का हिमायती है, शोषक वर्गों का नहीं। वह पुराना मानवतावाद नहीं जो समन्वय करता था, वह

नया मानववाद है जो दूध का दूध और पानी का पानी करके दिखाता है।

प्रगतिशील साहित्य संसार की किसी भी वस्तु की भांति निरन्तर बदलता रहता है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक वस्तु निरन्तर बदलती है। शाश्वतवादी मायावी संसार में ब्रह्म को नित्य बताकर उसकी उपासना को दृढ़ मानते हैं। किन्तु प्रगतिशील साहित्यिक संसार को माया नहीं मानता। रामानुज के विशिष्टाद्वैत में 'माया' न कहकर संसार को 'लीला' कहा गया है। मीमांसा शास्त्री ईश्वर को नहीं मानता। हमारी भारतीय परम्परा में यह विचार स्वातंत्र्य पुराना है। उसी परम्परा ने विकसित होकर प्रगतिशील साहित्य का रूप धारण किया है। ईश्वर या ब्रह्म या शाश्वत की आस्था से साहित्य साहित्य नहीं बनता। साहित्य जीवन का चित्रण है। जीवन बदलता है। साहित्य का रूप भी बदलता है। सरहपा, तुलसी, भारतेंदु, प्रसाद, प्रेमचंद का साहित्य न वाह्य रूप में एक सा है, न आत्मा के रूप में ही एक है। परिवर्तन ही नियम है। प्रगतिशील साहित्य उस 'शाश्वतवाद' का विरोधी नहीं है जो समाज और राजनीति को 'माया' समझकर दूर रहता है और इस प्रकार शोषण को सहायता नहीं देता। वह शाश्वतवाद व्यक्ति का अपना विश्वास है। यदि वह राजनीति और समाज पर अपना बुरा प्रभाव डालता है तो वह विरोध का पात्र है अन्यथा व्यक्ति के मन का वह उपासना क्षेत्र है, जिसकी कोई सामाजिक जिम्मेदारी नहीं है, तो प्रगतिशील साहित्य उसका विरोध नहीं करता। प्रगतिशील साहित्यिक समाज से साहित्य को जोड़ कर देखता है, अलग नहीं।

किन्तु इसके मानदण्ड नित्य नहीं बदलते। उनका एक अपना दर्शन है। वह दर्शन कल्पना से पैदा नहीं हुआ है। विज्ञान का आधार लेकर कुछ तथ्य ठीक पाये गये हैं उनके आधार पर जो निष्कर्ष निकाले गये हैं, इतिहास और राजनीति की सामाजिकता

देखकर जो तथ्य निष्कर्ष रूप पाये गये हैं, उनको एकत्र करके, कुछ नियम बनाये गये हैं। वे उसके मूलाधार हैं।

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। समाज में ही वह भाषा सीखता है, समाज के लिये ही साहित्य रचा जाता है। समाज में ही मनुष्य का इतिअथ है। अतः प्रगतिशील विचारक उन सब विचारधाराओं को गलत मानता है जो सामाजिकता का विरोध करके व्यक्ति को एकांगी बनाने का प्रयत्न करते हैं। व्यक्ति की उन विचारधाराओं को वह ठीक नहीं समझता जो समाज में शोषण को प्रश्रय देती हैं और मनुष्य को मनुष्य से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से घृणा करना सिखाती हैं। राजनीति में वह वर्गहीन शोषणहीन संसार बनाना चाहता है, तो इसका अर्थ यही है कि वह युगों से आई मनुष्य की उस कल्पना को साकार करना चाहता है जो इस संसार को एक सुखी सम्पन्न कुटुम्ब-कबीला बनाना चाहती आई है। वर्गहीन समाज बनाने वाला द्वेष का नाश करके सबको सुखी बनाना चाहता है।

यह दर्शन, राजनीति में ही समाप्त नहीं हो जाता। यह जीवन के प्रत्येक पहलू में लागू होता है। इसके अनुसार स्त्री केवल व्यभिचार और अपमान की पात्र नहीं होती। इसके अनुसार भगवान का नाम लेकर मिलों में धर्मादा काट कर, चोर बाजारी करके कुछ शोषक लोग, जनसमाज को भूखा नहीं मार सकते। इसके अनुसार अन्ततोगत्वा समाज का वह वर्ग जो कमकर है, अर्थात् मजदूर वर्ग है, अपना आधिनायकत्व प्राप्त करता है और तब फिर समाज में वर्ग नहीं रहते, केवल मनुष्य रह जाते हैं। इसके अनुसार एक राष्ट्र की राजनीति अर्थात् राष्ट्रीयता का अर्थ यह नहीं रहता कि दूसरे राष्ट्र अर्थात् अन्य देशों की जनता पर अत्याचार करके अपना पेट भर सके।

ऐसा महान् है यह जीवन-दर्शन, जिसकी कथनी और करनी में भेद नहीं, जिसमें कोई कमजोरी नहीं, जो अंधविश्वास और

घृणा को समूल उखाड़ कर फेंक देना ही अपना धर्म समझता है। मनुष्य की सेवा ही इसका मूलमंत्र है, यह सम्प्रदायों की क्षुद्रताओं के परे है। यह जाति-भेद और घृणा का शत्रु है। प्रगतिशील साहित्य समाज की जघन्य शोषण प्रवृत्तियों की उन ढँकी हुई वास्तविकताओं को उघारता है जो विश्व मानव के प्रेम में व्याघात डालती हैं। मार्क्सवाद का अध्ययन केवल मार्क्स का अध्ययन नहीं है। संसार के ज्ञान का अध्ययन है। मार्क्स ने अपने निष्कर्षों को यूरोप का इतिहास पढ़कर निकाला था। बर्नार्ड शॉ के शब्दों में मार्क्स की दृष्टि पैगम्बर की सी थी, अर्थात् वह द्रष्टा ऋषि की भांति था। अर्थात् उसने अपनी सूक्ष्म दृष्टि से इतिहास के मोड़ों को देख लिया था। उसने जान लिया था कि केवल अध्यात्म की बात करने से यह संसार सुखी नहीं हुआ। अध्यात्मवादी दर्शन समाज की नयी-नयी आवश्यकताओं के अनुसार जन्म लेते रहे हैं और उच्च-वर्गों ने उनका प्रयोग अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिये किया है। वर्गों के संघर्ष में ही डूबा हुआ मनुष्य कभी शांति नहीं पा सका है। मनुष्य का असली काम है ज्ञान प्राप्त करना और सुन्दर-सुन्दर वस्तुओं का निर्माण करना, प्रकृति पर विजय प्राप्त करके सृष्टि के रहस्यों को खोजना। किन्तु इस सबमें मनुष्य को आगे बढ़ने से कौन रोकता है? मनुष्य के पेट की चिन्ता, जिसके कारण उसका बहुत सा समय जीवन बिताने की फिक्र में ही बरबाद हो जाता है। यदि आर्थिक और राजनीतिक तथा सामाजिक व्यवस्था ऐसी हो जाये जिसमें मनुष्य मजबूर होकर अपनी शक्तियों का नाश न करे, तो निश्चय ही वह समानता का आनंद प्राप्त करता हुआ, अपने अंधविश्वासों का त्याग करके अपने महान् उद्देश्य को प्राप्त कर सकेगा।

प्रगतिशील साहित्य मूलतः यही साहित्य है जो मनुष्य को इस महानता की ओर ले जाता है। वह जब शोषण से विक्षुब्ध होकर शोषकों का विरोध करता है, तब वह असल में नये और सुन्दर संसार के लिये बोलता है। जो वर्ग संघर्ष को जीवित रखने के

लिये भ्रम उत्पन्न करता है, वह मुँह से शांति और जनकल्याण अवश्य कहता है, परन्तु वास्तव में वह घृणा, युद्ध, हिंसा और कायरता का प्रचार करता है, मनुष्य द्वारा मनुष्य का पीसा जाना स्वीकार करता है।

विश्व प्रेम है प्रगतिशील साहित्य का उद्देश्य और यह उद्देश्य ऐतिहासिक परम्परा की देन है, कोई हवाई बात नहीं। इसका विकास इतिहास की जीवन्त गरिमा का प्रकाश है।

२—प्रगतिशील चिन्तन की व्यापकता

प्राचीनों की सीमाएँ थीं। वे जिस युग में रहते थे उसकी वैज्ञानिक व्याख्या नहीं कर पाते थे। कार्लमार्क्स से पहले यह ज्ञान समाज को नहीं था।

कार्लमार्क्स दर्शन और इतिहास का विशेषज्ञ था। कार्लमार्क्स ने यूरोप का गहरा अध्ययन किया। दुर्भाग्य से भारत सम्बन्धी साहित्य उस समय यूरोपीय विद्वानों के लिये अधिक सुगम नहीं था। अतः मार्क्स भी भारत के विषय में पूरी तरह से नहीं लिख सका। फिर भी मार्क्स ने 'एशियाटिक उत्पादन-प्रणाली' की बात पकड़ ली थी और स्पष्ट लिखा था कि भारत की व्यवस्था में यूरोप से भेद है।

हिन्दी में इतिहास के विशेषज्ञ इसी को लेकर उड़ते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि अपने समस्त भेदों के होते हुए भी भारतीय इतिहास में भी बर्बर (दास-प्रथा) युग, सामंत-युग और पूँजीवाद ने अपना विकास किया है, भेद इतना ही है कि इनका विकास ठीक वैसे ही नहीं हुआ जैसा यूरोप में हुआ था। हम दो तथ्यों पर पहुँचते हैं।

भेद भी था, और अपने मोटे विभाजन में साम्य भी रहा है। यूरोप में दास-प्रथा ईसा के बाद समाप्त हुई। सामंत-काल को रक्त रंजित झटके से फ्रांस ने समाप्त किया। इंगलैंड में सामंतवाद ने विकास क्रम में समझौता करके पूँजीवाद को बढ़ने दिया। रूस ने पूँजीवाद और सामंतीय अवशेषों को क्रान्ति में समाप्त कर दिया।

भारत में दास-प्रथा महाभारत युद्ध के बाद लड़खड़ाने लगी और गौतम बुद्ध तक धीरे-धीरे मिट चली। उत्पादन के साधन दास-

वर्ग अब घरेलू दासों में बदल गये। जो दास बहुत कुचले हुये थे उन्हें नीच जातियों का दर्जा दिया गया, परन्तु जान-माल की उन्हें आजादी मिली। यह विकास बहुत धीरे-धीरे हुआ। चाणक्य के समय में सामंतवाद का उदय हुआ। यह सामंतवाद ठीक यूरोप जैसा नहीं था। यहाँ पंचायत प्रणाली ने उससे भेद बनाया।

भारत में यूरोपीय सौदागरों के आने के बाद मशीन आई। पूँजीवाद का विकास हुआ। पूँजीवाद भी भारत में यूरोप के देशों की भांति नहीं बढ़ा। यह उपनिवेश था। यह भी विकास के दौर में ही सामंतवाद को धीरे-धीरे समाप्त कर रहा है, इसका कारण जनशक्तियों का पूरी तरह से जाग्रत नहीं होना है।

इन भेदों के अतिरिक्त वर्ण-व्यवस्था यहाँ रही है जो वर्ग भेद का प्रतीक है, परन्तु वह सामंतीय ढांचे का वर्ग भेद अभी तक पूँजीवाद वर्ग भेद के साथ-साथ भारत में जीवित है।

इन विशेषताओं के कारण प्रगतिशील विचारक को भारत में अनेक प्रश्नों का सामना करना पड़ता है। यूरोपीय चिन्तन से प्रभावित आलोचक भारतीय चिन्तन की कुछ मूल समस्याओं को नकारात्मक दृष्टिकोण से छोड़ते जाते हैं, उनका उत्तर नहीं देते। हम यहाँ ऐसे ही कुछ प्रश्नों को लेते हैं।

ईश्वर क्या है? यह प्रश्न बहुधा प्रगतिशील साहित्यिकों से पूछा जाता है। अमूमन समझा जाता है कि नास्तिकता का प्रचार करना ही प्रगतिशील साहित्य का काम है, जब कि यह अधूरा सत्य है। प्रगतिशील चिंतन ही ईश्वर का सच्चा अन्वेषण करता है। अभी तक विभिन्न दर्शनों ने ईश्वर को कल्पना से ढूँढ़ने का प्रयत्न किया है। वे दर्शन अपनी विशेष सामाजिक परिस्थितियों से प्रभावित होकर प्रगट हुए हैं और उन्होंने तत्कालीन जीवन की समस्याओं का हल ढूंढ़ने का प्रयत्न किया है। परन्तु कोई ऐसा हल नहीं है जो संसार में एकमत से सर्वमान्य प्रमाणित हुआ हो, और इसीलिये विभिन्न दर्शन हैं, विभिन्न सम्प्रदाय हैं, क्योंकि जब-जब

सामाजिक परिस्थितियाँ बदली है, दर्शन भी बदलते रहे हैं। इन दर्शनों में ईश्वरवादी भी हैं, अनीश्वरवादी भी हैं। कोई दर्शन ऐसा नहीं है जिसने सृष्टि का रहस्य खोज निकाला हो। अभी तक मनुष्य की वह असमर्थता जिससे वह सृष्टि का रहस्य नहीं जान पाया है, मनुष्य को अंधविश्वासों में डालती रही है। प्रगतिशील साहित्य प्रत्येक युग में मनुष्य की उस असमर्थता के रूप को देखता है, और मानता है कि कल्पना से उस सृष्टि के रहस्य के विषय में कोई बात कह कर उसे शाश्वत मान लेना बुद्धिमत्ता नहीं है। हमारा ज्ञान सीमित है, किंतु हमारी ही शक्ति है कि हमने विज्ञान के सहारे से बहुत से रहस्यों को सर्वसाधारण के सामने लाकर प्रस्तुत कर दिया है। प्रगतिशील विचारक यही मानता है कि ईश्वर की आड़ में अर्थात् ईश्वर के विभिन्न रूप गढ़ कर जो मनुष्य ने विभिन्न सामाजिक प्रणालियों को शोषण भरा बना कर न्याय कहा है, वह असत्य है। अतः ईश्वर के नाम पर जो ठगी चल रही है, वह बन्द होनी चाहिए। प्रगतिशील विचारक किसी को ईश्वर की शक्ति में विश्वास करने से रोकता नहीं, वह स्वयं भी उसकी शक्ति को मान सकता है, परन्तु वह शोषण के उस न्याय को नहीं मानता जो ईश्वर के नाम पर चालू रखा जाता है। वह यही मानता है कि विज्ञान की खोज ही सृष्टि के रहस्यों को प्रगट कर सकती है, बाकी सब विचार व्यक्तियों की कल्पना पर खड़े होते है अतः वे अनुभूति हैं, उत्तेजना के ही परिणाम हैं। उनका साधारणीकरण नहीं है। प्रकृति पर मनुष्य ने विजय प्राप्त करने की चेष्टा की है और घर बना कर रहना, तकली या चर्खा चलाना, सब मनुष्य के सामाजिक कार्य हैं, अतः वे सब उसके प्रकृति से संघर्ष के पर्य्याय हैं। प्रगतिशील विचारक किसी के द्वारा यम की उपासना के विरुद्ध नहीं है, वरन् वह इसके विरुद्ध है कि यम के नाम पर भाग्यवाद, मायावाद कह कर शोषक वर्ग जन समाज को पीसता रहे। वह मूलतः धन के स्वामित्व का विरोधी है और सन्तों की 'माया' नामक

'धन शक्ति' को पराजित कर के संसार की जनता का शोषण दूर कर के, उसे सुखी कर के, मनुष्य की विजय चाहता है।

दास प्रथा का युग जब लड़खड़ा रहा था तब दार्शनिक जनक अश्वल ने बार-बार समाज की विषमता को देखकर व्याकुलता प्रगट की थी। वह एक बार संसार छोड़ कर राजपाट छोड़ कर त्यागी सन्यासी हो गया था। पर स्त्री के समझाने पर फिर लौट आया था। वह बार-बार पूछता था कि संसार इतना विषम क्यों है ? दुख क्यों है ? उस समय के संसार में विज्ञान की उन्नति बहुत कम हुई थी। अपने अंधविश्वासों आदि के कारण उन्होंने यह सिद्धान्त समझा था कि अवश्य ही आत्मा का पुनर्जन्म होता है, और वह ही कर्मानुसार फल पाती है, तभी वर्गों में विषमता है।

यह दर्शन बड़ा हानिकारक था। यह दर्शन दास प्रथा के ह्रास के समय बढ़ा था। सामन्तवाद ने प्रारम्भ में इसका विरोध किया था। तभी मीमांसा और वैशेषिक वाले ईश्वर आदि को नहीं मानते। परंतु जब सामन्तकाल जम गया और अपनी प्रगति को समाप्त करने लगा, अर्थात् दास के स्थान पर पहले समाज में किसान आया तो मुक्ति मिली, पर बाद में किसान की परिस्थिति सामंत से शोषित होने लगी, तब वेदान्त बढ़ा और जैसे जैसे सामंतीय समाज व्यवस्था विषमशील होती गई, वेदान्त का प्रचार उच्च वर्गों में अधिक से अधिक बढ़ चला और उसने जनसमाज को फिर भाग्यवाद आदि में जकड़ा और शोषण पद्धति का न्याय देने का प्रयत्न किया। उस वेदान्त का समाजपक्ष सामन्तवाद था।

संसार भर में धर्म ने जन-समाज को दबाये रखने का काम किया है।

समाज में बहुत सी रूढ़ि-रीतियाँ धर्म के नाम पर पल रही हैं जैसे जाति व्यवस्था, स्त्रियों की पराधीनता इत्यादि। जाति व्यवस्था का मूलरूप वर्ग संघर्षों के आदि रूप और विभिन्न संस्कृतियों के घृणा द्वेष के कारण पनप सका था। स्त्रियों की पराधीनता उनकी

आर्थिक पराधीनता, मातृसत्ताक समाज पर पितृसत्ताक समाज के अभ्युदय के कारण हुई। यह रूढ़ियाँ वास्तविक रूप से देखने पर धर्म की समस्याएं नहीं, वरन् सामाजिक और सांस्कृतिक तथा आर्थिक समस्याएं हैं।

प्रगतिशील विचारक इसीलिये इन समस्याओं को धर्म की आड़ में पलने नहीं देता। वह इसीलिए उस शून्यवाद को भी नहीं मानता जो जन-जीवन को भ्रम में डालता है और उसके सामाजिक जीवन की प्रगति को रोकता है। वह वेदान्त की अद्वैतवादी भावना को व्यक्तिगत रूप से मानने का विरोध नहीं करता, पर मायावाद के नाम पर जनसमाज का शोषण नहीं मानता।

वह धर्मों की सामाजिकता और तत्कालीन आर्थिक व्यवस्था से उसका संबंध देखता है। धर्म हवा में से जन्म नहीं लेता। प्रत्येक देश में ईश्वर की खोज, सृष्टि को समझने की चेष्टा, उस सृष्टि को समझने की चेष्टा से समाज की व्यवस्था का सामंजस्य, अपने युग की व्यवस्था से उसका तादात्म्य, आदि सब मिलकर धर्म बनाते हैं। धर्म का अर्थ है समाज में रहने का नियम। बाद में धर्म का अर्थ उपासना पद्धति से ही लिया जाने लगा। यदि गंभीरता से गहराई में जाकर देखा जाये तो पता चलता है कि प्रत्येक धर्म में मानवतावादी बातें प्रायः समान ही हैं, किंतु संप्रदायों का भेद सदैव जातिगत भेद और सांस्कृतिक भेद के कारण रहता आया है। पहनना, ओढ़ना, खाना-पीना, भाषा आदि सब ही धर्म से जुड़े हैं। धर्मान्दोलन सदैव राजनीतिक आन्दोलनों के रूप रहे हैं। ईसा के मानवतावाद से दासों को समानता का अधिकार प्राप्त हुआ था। उससे भी पूर्व मूसा के धर्मान्दोलन ने कुटुम्बों को कबीला बनाया था, और यहूदियों के ईश्वर 'जिहोवा' का सृजन छोटे-छोटे देवताओं के कारण पनपने वाले द्वेषों को मिटा कर एक ईश्वर की कल्पना में हुआ था।

ईसा के बाद मुहम्मद का धर्म अर्थात् इस्लाम मनुष्य के तत्कालीन समाज में बराबरी को लाया था। कबीलों का द्वेष हटा था

और दास-प्रथा को धक्का लगा था। इसी धर्म के कारण स्त्री की मर्यादा बढ़ी थी। पहले एक-एक पुरुष के पास सैकड़ों स्त्रियाँ थीं, बाद में सिर्फ़ चार जायज़ हुईं।

भारत में वैदिक काल में विराट पुरुष के अङ्गों के रूप में, पुरुष सूक्त में, जब ब्राह्मण उसके मुख, क्षत्रिय उसकी बाहु, वैश्य उरु, तथा शूद्र पाँवों से निकले बताये गये थे तब चारों वर्णों को स्वीकार कर के सब को ही आवश्यक माना गया था। उसके बाद दास-प्रथा के टूटने के समय कपिल आदि दार्शनिकों ने उस ईश्वर को असिद्ध प्रमाणित किया था, जिसको पहले शाश्वत समझा जाता था।

उपनिषदों का ब्रह्म उच्चवर्गों ने नहीं पैदा किया। अनेक जातियों के छोटे छोटे देवताओं के कारण जो वैमनस्य था, उसे हटाने को ब्रह्म अर्थात् सब से ऊपर के भगवान की कल्पना हुई थी। सब में आत्मा का समान माना जाना भी बड़ा प्रगतिशील कार्य था क्योंकि पहले पैर से पैदा होने वाले शूद्र को कुचलना न्याय समझा जाता था। पर जब सबकी आत्मा समान बना ली गई तो दास और शूद्र भी मनुष्य समझे जाने लगे। यह दर्शन तब प्रारम्भ हुआ जब दासों की परिस्थिति बदली। दास प्रथा का नाश इसी प्रकार हुआ।

फिर जब व्यापार के संतुलन बदले अर्थात् पाटलिपुत्र आदि के द्वारा नदियों का व्यापार बढ़ा तब व्यापारी वर्ग की आवश्यकताएं बढ़ीं। भारत में दास के किसान बनने पर सामंतीय व्यवस्था अपने आप धीरे-धीरे विकास कर के समाज में आगई और तब यहाँ नये दर्शनों ने जन्म लिया।

कालान्तर में जब समाज सामंतीय बोझ से दबा और चारों ओर विषमता ही विषमता थी, तब शंकराचार्य का दर्शन उठा। उसने दो काम किये। उच्च वर्गों का स्वार्थ मायावाद के सहारे और भाग्यवाद के सहारे से पल गया। परन्तु फिर जन-समाज ने उसे क्यों स्वीकार किया? यदि कोई बात केवल प्रतिक्रियावादी होती है तो उसका असर नहीं होता। शंकर के दर्शन ने एक काम अच्छा

भी किया। बौद्धों के शून्यवाद को उन्होंने समाप्त कर दिया। यद्यपि शंकर ने ब्रह्म को बौद्धों के शून्यवाद का सा ही माना, परन्तु उन्होंने संसार और ब्रह्म के बीच में एक ईश्वर की सत्ता भी स्वीकार की। वह ईश्वर समाज के लिए धीरे धीरे सगुण ईश्वर का पर्याय बना। रामानुज ने शंकर के बाद निम्नवर्गों के उत्थान के लिए इसी ईश्वर की सहायता ली और प्रमाणित किया कि यह संसार सत्य है, माया नहीं है। इस प्रकार शंकर के युग की जो प्रगति थी, जब वह अपना काम पूरा कर चुकी तो रामानुज के समय में वह भार बन गई। रामानुज ने उसे बदला। वल्लभाचार्य ने पुष्टिमार्ग को जन्म दिया। यह माना जाता है कि यह पुष्टिमार्ग रीतिकालीन साहित्य के लिये उत्तरदायी हुआ था। परन्तु यह हमें नहीं भूलना चाहिए, कि अपने समय में पुष्टिमार्ग का प्रारम्भ दक्षिण के वज्रयान और वाम-मार्ग की अश्लीलता का अन्त करके प्रेम-भावना को लेकर उदय हुआ था। उसकी प्रगति शीघ्र ही समाप्त हो गई।

इस विवेचन को देख कर स्पष्ट हो जाता है कि कोई मत सदा के लिए लागू नहीं हो जाता। गीता में कहा है कि जब-जब धर्म का नाश होगा तब-तब मैं इस पृथ्वी पर आऊँगा। इसका सूक्ष्म तात्पर्य यही है कि परिस्थिति बदलती जाती है। पुराना हिंदू मत समन्वयवादी रहा है और उसने माना है कि सब चीजें बदलती हैं। ज़माने-ज़माने के हिसाब से आदमी पैदा होते हैं। इसीलिए भागवत में बुद्ध जैसे अनीश्वर-अनात्मवादी को भी अवतार माना गया है, क्योंकि उसका दृष्टिकोण है कि बुद्ध कर्मकाण्ड की अति को बन्द करने के लिए पैदा हुए थे। जैनों के ऋषभदेव को भी इसी प्रकार अवतार माना गया है। दत्तात्रेय को भी अवतार माना गया है। *दत्तात्रेत्र का योग संम्प्रदाय से सम्बन्ध था और इनका सप्रदाय* पहले वेदत्रयी से प्रभावित नहीं था। जब इस्लाम ने कहा कि चार स्त्रियाँ पुरुष के लिए जायज़ हैं तो हम हँस सकते हैं क्योंकि आज एक पुरुष एक स्त्री के संबंध को ठीक माना जाता है। उस समय

की बात सोचिये तब स्त्री नङ्गी बाजारों में घोड़ियों की तरह बिकती थी। इसी प्रकार क्रूसेडस के युद्धों के समय में खेतों से बँधे, आधे गुलाम किसानों के गले में लटके लोहे की जंजीरों पट्टों) को सामंतों ने उगते हुए व्यापार के युग में स्वयं काटा था और इंगलैंड की अनेक जातियों का मिलन हुआ था और इंगलैंड एक राष्ट्र बन गया था। एक ही दफा खाकर किसकी भूख मिटी है। आदमी तो रोज खाता है। पुराने लोग कहते हैं कि सब बदलता है बस ब्रह्म शाश्वत है। भारतीय चिंतन में ही सब लोग इस बात को नहीं मानते। तब बदलते हुए जीवन में शाश्वत क्या है? मनुष्य की सामाजिकता। मनुष्य की मनुष्य के प्रति प्रीति, यानी मानवतावाद अर्थात् समाज के लिये जनकल्याण की भावना का विकास यह अभी तक चलता चला आया है और चलता चला जायेगा। यह मूल शाश्वत प्रेम ही समाज और मनुष्य की वह वस्तु है जो हर बदलते जमाने में रही है, अब भी है, और आगे भी रहेगी। ईश्वर, धर्म, राष्ट्र, सामाजिक व्यवस्था, प्रेम के तरीके, सब बदल गये हैं, बदल रहे हैं, बदलते रहे हैं, पर एक चीज सदा रही है—वह है—मनुष्य की कल्याण भावना, उसके लिये समाज बना कर रहना। भूख, प्यास, यौन संबंध, मल त्याग, आदि जीवन के शाश्वत अंग हैं, परन्तु यह सब पशुओं में भी हैं। पशु से मनुष्य का भेद है उसकी समाजिकता में और सबसे बड़ा भेद है मनुष्य की निर्माण शक्ति के क्षेत्र में। मनुष्य अपना खाना पैदा करना जानता है। पशु नहीं जानते, जो मिलता है वही एकत्र कर के खाते हैं, वे पैदा करके नहीं खा सकते। यह निर्माण भावना सामाजिक, राजनीतिक जीवन है। इसकी ज़मीन पर ही सब कुछ खड़ा है। मनुष्य की समाज बनाकर रहने की बात उसके मन की प्रीति और आत्म रक्षा की भावना से है। उसी भावना से साहित्य का सृजन होता है। और मनुष्य समाज में ही उसका आनन्द भी प्राप्त करता है।

प्रत्येक देश में धर्मों की अगणित संख्या दिखाई देती है, जिसमें भारतवर्ष में सबसे अधिक है। भारत में धर्म को मजहब के रूप में कभी भी नहीं माना गया। मजहब का पर्य्याय यहाँ मत या सम्प्रदाय माना जाता है। धर्म जीवन के चार भागों में से एक ही है। बाकी तीन अर्थ, काम और मोक्ष हैं। अर्थ का तात्पर्य्य धन से है, काम का प्रजनन से, मोक्ष का ईश्वर सान्निध्य से। धर्म का तात्पर्य्य उस नित्य नैतिक नियमन से है जिससे मनुष्य इस संसार में जीवन व्यतीत करे। एक समय काक-बलि देना धर्म माना जाता था। इसका कारण था कि उस समय काकबलि देना आवश्यक माना जाता था। धर्म का वह अंग बना। यह अंग उपासना है। धर्म समय-समय पर बदलता रहा है। सनातन कोई धर्म नहीं रहा है। उपासना समय-समय पर बदलती रही है, देवता भी जन्मते और मरते रहे हैं। मरते रहे हैं का अर्थ है कि उनकी पूजा बन्द हो चुकी है, अब उनका, वह महत्त्व नहीं रहा है, जो पहले था। उनकी जगह, समय-समय पर, दूसरे देवता होते रहे हैं। जब तक यह परिवर्तन का काम परस्पर स्नेह और सामंजस्य से हुआ है, धर्मों के रूप परिवर्तन का पता भी नहीं चला है। पर जब कोई जाति विशेष किसी दूसरी जाति को दबाने का प्रयत्न करती है, उसके अधिकार को छीनती है, तब धर्म की कट्टरता का जन्म होता है। भारत में अनेक बौद्ध और वज्रयानी देवता थे। हेरुक, कुरुकुल्ला, महाश्रीतारा, जम्भल आदि की उपासना किसी समय बड़े ठाठ से होती थी। अब साञ्ची की बुद्ध मूर्तियों को भी आस-पास रहने वाले आधुनिक ग्रामीण कहते हैं कि यह शिव की मूर्तियाँ हैं। बुद्ध का कोई नाम नहीं लेता। संकिसा के बौद्ध खंडहरों की भी यही हालत रही है। पर इन्हीं बौद्धों के स्तूप के निकट बनाये जाने वाले भवनों की नकल मुगल कालीन सिकन्दरे में मिलती है, यह कोई भी मुसलमान सहज स्वीकार नहीं करेगा। यदि किसी हिन्दू से कहा जाय कि स्तूप एक क़ब्र ही है, तो उसकी धारणा को

थोड़ी सी टेस अवश्य पहुँचती है। देवताओं की मृत्यु मिस्र, यूनान, रोम में तो ऐसी प्रखर है कि उस पर कुछ भी कहना व्यर्थ है। अब न 'रा' सूर्य्य है, न 'जियस' या 'जूपिटर' देवताओं के राजा हैं। देवताओं का जन्म हुआ, विकास हुआ, मृत्यु भी होगई, उनके उपासकों की धारा बहती रही। प्रत्येक काल में क्रमशः बदलता समाज यह देख भी न सका कि वह कब-कब, किस-किस भाँति परिवर्तन चक्र से कटता फटता रहा।

उदाहरणार्थ पहले समाज में गाय बैलों के समान स्त्री-पुरुष स्वच्छंद सम्भोग के लिये अधिकार रखते थे। श्वेतकेतु ने एक पत्नी और एक पति की मर्यादा दी थी। फिर बहुपत्नीवाद चला। हिमालय में अधुना भी बहुपति-प्रथा है। पहले पुरुष-सत्ता का प्राधान्य होने पर भी पुरुष ने स्त्री की यौन स्वतन्त्रता को छीना नहीं था। यहाँ स्वतन्त्रता का अर्थ बदल गया था। पहले स्वतन्त्रता जहाँ स्त्री पर निर्भर थी, अब वह पुरुष की इच्छा तृप्त करके प्रजनन का एक साधन मात्र बन गई। स्त्री ने इससे विद्रोह किया और अपने लिये पातिव्रत पसन्द किया। अब इस पातिव्रत के रहते भी समाज में अनेक प्रकार के विवाह प्रचलित रहे। स्त्री को छीन लाना, छल से ले आना भी एक समय न्याय पद्धति के अन्तर्गत ही थे। आज धर्म का विवाह से अर्थ लगाते हैं। वस्तुतः स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध ही विवाह है—विद्यार्थी कभी-कभी अपने आक्रोश में उसे लाइसंस प्राप्त वेश्यावृत्ति कहते हैं।

परन्तु यह व्यक्तिगत दृष्टिकोण है। स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध सन्तान होने के कारण एक सामाजिक उत्तरदायित्व रखता है, और इसीलिए सामाजिक नियमन—परस्पर ठेका—आवश्यक है, गौण नहीं है, महत्त्वपूर्ण है।

इस प्रकार इन समस्त बदलते सम्बन्धों की जब बात की जाती है, तब चमत्कृत होकर पुराणपंथी एक उत्तर बहुधा देते हैं कि कलि में सब यह वर्जित है। कलि में पुराणों में लिखे हुए को ही माना

जा सकता है। यह तर्क अपने आप में रूढ़ि संगत दिखाई दे, परन्तु इसके पीछे एक वर्ग चेतना, एक वर्गस्वार्थ है, जिसे समझाना बहुत आवश्यक है।

पहले नियोग सन्तान मान्य थी। स्त्री का विवाह होने पर वह वर के घर के सब पुरुषों की स्त्री मान ली जाती थी। औरस और दत्तक के अतिरिक्त पहले क्रीत पुत्र भी होते थे। प्राचीन काल में श्राद्धों में माँस और मदिरा के भी भोग लगाये जाते थे। प्रजापति १५१ में कलि में इसका वर्जन किया है—

मद्यमप्यमृतं श्राद्धे
कलौ तत्र विवर्जयेत्
मांसान्यपि हि सर्वाणि
युगधर्म क्रमाद् भवेत्।

मेधातिथि, विज्ञानेश्वर, बृहस्पति तथा अन्य लेखकों के आधार पर समाज में कलिवर्ज्यों पर प्रकाश डाला गया है। मुख्य कारण बताया गया है कि कलि में लोगों में उतना आध्यात्मिक बल नहीं रहा है, जितना पहले के युगों में था। पहले यज्ञ में गाय की भी बलि दी जा सकती थी। समुद्र-यात्रा, मधुपर्क में पशुबलि, पुनर्विवाह, लम्बी यात्रा का निषेध हुआ। अपरार्क ने सगोत्र का विवाह रोका, देवर अर्थात् द्वितीय वर से भाभी का नियोग रोका गया। १७ वीं शती के दामोदर ने कलिवर्ज्यनिर्णय में कहा है कि कलि प्रारम्भ होने पर धर्मलोप के भय से बुद्धिमानों ने श्रुतस्मृति से प्रमाणित कई बातों का वर्जन कर दिया।

कलिवर्ज्य पर ११ वीं और १२ वीं शती में विशेष जोर दिया गया।

इस प्रकार हमें स्पष्ट मिलता है कि महाभारत बुद्ध और चाणक्य के बीच में जो बन्धन बाँधना प्रारम्भ हुआ, वह १० वीं शती तक और बढ़ा और इस्लाम-आगमन पर तो बहुत ही बढ़ा।

कलिवर्ज्य के मुख्य विषय यह हैं—

(१) विवाह—स्त्री-पुरुष सम्बन्ध।
(२) यज्ञ, बलि, छूआछूत, जाति-प्रथा, सगोत्रनिर्णय।
(३) मदिरा और खान-पान की रोक।
(४) यात्रा निषेध और पवित्रता।
(५) जायदाद और दायभाग निर्णय।
(६) शिक्षा का नियमन।

अब हम वर्गविश्लेषण करें। महाभारत युद्ध तक समाज में दास-प्रथा थी, वह बर्बर व्यवस्था थी। उस युद्ध के बाद समाज विकासरत हुआ। चाणक्य के समय तक दास, किसान अर्थात सर्फ बना। सामंतवाद का उदय हुआ। इस दौर में नियमों का बदलना अवश्यंभावी था। इसके बाद भारत में यूनानियों से लेकर हूणों तक अनेक जातियाँ भारत में आगईं। भारत में स्थित अनेक अनार्य्य जातियाँ भारतीय चातुर्वर्ण्य में अन्तर्भुक्त हुईं, तथा ब्राह्मण अधिकारों का काफी लोप होता गया। इस्लाम आने पर सारे भारतीय सम्प्रदाय हिन्दू कहलाये और ब्राह्मण नेतृत्व में इस्लाम को अलग छेक देने का यत्न हुआ। इन तीन अवस्थाओं में क्रम से शास्त्रों ने जो मर्यादा नियत की वह उच्च वर्गीन लोगों और ब्राह्मणों के स्वार्थ की सिद्धि करती थीं।

बर्बर युग में स्त्री, गोत्र, विवाह, छुआछूत, खान-पान, जाति-प्रथा, मदिरा, यात्रा, दायभाग, जायदाद, शिक्षा के अल्प नियम थे। नियोग-सन्तान ली जाती थी, सगोत्र विवाह प्रचलित थे क्योंकि गणगोत्र पारस्परिक स्नेह पर अधिक विश्वासजन्य थे। विवाह किसी भी जाति की स्त्री से किया जा सकता था। अपनी स्त्री ब्राह्मण दूसरों को नहीं देते थे। शूद्रों से खाना पकवाते थे, ब्राह्मण जाति को अनार्य्य समूह की भीड़ में खोजाने का डर न था। यात्रा करते थे, विजय करने के लिये।

महाभारत युद्ध के बाद ब्राह्मण शक्ति का ह्रास बढ़ा। नियम बने। और वे बढ़ते चले गये। यात्रा तक छूटी क्योंकि अन्य

जातियों के सशक्त होने से यात्रा के स्थल कब्जों के बाहर निकल गये। सामंतीय समाज ने, क्योंकि बर्बर युग से विकास किया था, और अपने साथ वह अपने पहले युग का बनिस्बत प्रगति लाया था, गृह स्वामिनी (दासी व्यक्तिगत) के रूप में स्त्री को परपुरुष संभोग की अवमानना से मुक्ति मिली और वेश्यावर्ग अलग बना। खान-पान, छुआछूत बढ़ी, क्योंकि अब ब्राह्मण अपने को भीड़ में खो देना नहीं चाहता था। मदिरा और बलिक्रिया बौद्धों और जैनों के प्रभाव से छूट गईं।

नये समाज के लिये नये नियम बने। कृत, त्रेता, द्वापर का समाज दूसरा था, अब दूसरा। पर एक बात रह गई। आध्यात्मिक बल के ह्रास की कथा इतनी प्रचलित कैसे हो गई, इसका कारण यों है—

(१) कृत में ब्राह्मण सर्वेसर्वा था। अतः उसके लिये सत्ययुग था। त्रेता में क्षत्रिय बल हुआ। द्वापर में परस्पर लड़ कर शक्ति-नाश हुआ। ब्राह्मण को लगा उसपर विपत्ति आगई।

(२) अनार्य्यों ने सिर उठा दिया। दूसरा खतरा हुआ।

(३) बर्बर युगीन चातुर्वर्ण्य केवल आर्य्यों तक ही सीमित रहा। पहले आर्य्य ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य होते थे और शूद्रों में केवल अनार्य्य गिने जाते थे। अब अनार्य्यों के पुजारी, योद्धा, व्यापारी और निम्न श्रेणी के लोग क्रमशः नये चातुर्वर्ण्य में आर्य्यों के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्ग में अंतर्भुक्त हो गये। बर्बर युग ने सामंतकाल के लिए जगह दी। अब ब्राह्मण को अपनी रक्तशुद्धि का अधिक ध्यान रखना पड़ा। अंतर्भुक्ति होकर भी सब जातियाँ परस्पर मिली नहीं। कर्मानुसार बँटी थीं, पर उनके अपने-अपने रिवाज थे। यों एक-एक वर्ग में भी अलग-अलग जातियाँ हो गईं। इनके लिए नये नियमों की आवश्यकता थी।

(४) पहले ब्राह्मण का जो गौरव था वह अब दूर हुआ, व्यापारी और क्षत्रिय भी आध्यात्मिक क्षेत्र में बढ़ने लगे। वे कर्मकाण्ड की

श्रद्धा-नीति को छोड़ कर तर्क करने लगे। यह भी एक खतरा था।

(५) अतः ब्राह्मणों ने कहा कि पहले जो आराम थे, वे अब नहीं रहे, वे सुख नहीं रहे।

(६) जैसे-जैसे समाज करता विकास है, उसमें विषमता के स्थाल बदलते हैं। आर्य्यों की शक्ति का ह्रास इस युग में जन-परम्परा में भी इसी का द्योतक बना कि सब नष्ट हो रहा है। यों कलि की भावना का जन्म हुआ, उसका विस्तार हुआ।

(७) ब्राह्मण के पास अपनी महत्ता प्रतिपादित करने को एक ही तर्क था कि वह अतीत में महान था। यों पुराणों में ब्राह्मण महिमा की अनेक झूठों का प्रचार भी किया गया।

(८) प्रत्येक युग में जैसे-जैसे ब्राह्मण वर्ग को अपने अधिकार छोड़कर, समझौता करके, अपने प्रभुत्व को रखना पड़ा, वैसे ही उसने अतीत के गीत अधिक गाये।

(९) पहले यह अतीत केवल आर्य्यों के ब्राह्मण वर्ग का था। अब उसमें अनार्य्यों के ब्राह्मण अर्थात् पुजारी जो ब्राह्मणों में अन्त-र्भुक्त हुए, वे भी पुजारी वर्ग-स्वार्थ के कारण हाँ में हाँ मिलाने लगे।

(१०) बर्बर युग तक ब्राह्मण की संपत्ति पर किसी का अधिकार न था, कलि में क्षत्रिय का पूर्ण गौरव हुआ सामन्त काल में भी चाणक्य से हर्ष तक ब्राह्मण और क्षत्रियों का निरन्तर संघर्ष रहा। भारशिवनाग, जो नाग थे और ब्राह्मणों में अंतर्भुक्त होकर अपने को ब्राह्मण कहते थे, वे ब्राह्मण स्वार्थ के लिए लड़े थे। उस समय वे अपने को तक्षक नाग की सन्तान नहीं मानते थे जो आर्य्य जन्मेजय से तक्षशिला में लड़ा था।

इस प्रकार कलिका प्रारम्भ माना गया। धर्म अपने आप बद-लता गया, उपासना बदलती गई।

जो आर्य्य इन्द्र, अग्नि और यम के उपासक थे वे ब्रह्मा के उपासक बने, फिर शिव और विष्णु की उपासना करने वाले बढ़े। शिव और विष्णु आये। इनके साथ यक्षों का कुबेर, लक्ष्मी, गणपत्यों का गणेश

आये। अनार्य्यों के अनेक देवी-देवता घुस गये। शिश्न-विरोधी ही अन्त में लिंगोपासक बन। उपासना के आधार बदले, रूप बदले। पर वे इतने क्रमशः बदले, इतने परस्पर सहयोग और स्नेह से धीरे-धीरे, या देर-देर के संघर्ष से, या जाति मिलन से बदले, कि समय की दीर्घयात्रा में परिवर्त्तन सहज ही लक्षित नहीं हो सका।

परन्तु इस्लाम ने हठात् ठोकर दी। एकदम वैदिक, अवैदिक सब एक हो गये। जो बौद्ध परम्परा के लोग नहीं मिल सके वे मुसलमान हो गये।

अब प्रश्न उठता है कि मनुष्य धर्म को क्यों नहीं बदलता? इस के दो कारण होते हैं। अपनी संस्कृति की परम्परा से प्रेम और दूसरा उसका आर्थिक आधार।

१—परम्परा से प्रेम बड़ा रूढ़िगत होता है। अभी तक भारतीय समाज बदलता गया, क्योंकि जातियाँ अन्तर्भुक्त होती गईं। और अधिकांश वर्ग भेद के अनुसार उन्होंने रहन-सहन, भाषा आदि एक ही स्वीकार की। इस्लाम ने प्रारम्भ में ऐसा नहीं किया। दूसरे अभी तक ब्राह्मण की मर्यादा किसी न किसी रूप में अंततोगत्वा स्वीकार की ही गई।

२—आर्थिक आधार के विकास में सामन्तवादी ढाँचा था। वर्ग भेद का यह आधार वर्ण भेद से मेल खाता था। इस्लाम में और बात थी। वह जातिवाद के भाग्यवादी परिमाण को बदल कर हठात् परिवर्त्तन करना चाहता था, जिसके लिए समाज में आर्थिक आधार तब नहीं थे। इस्लाम का विकास कुछ और तरह से हुआ था। अरब में उस समय विभिन्न देवताओं की पूजा होती थी। अरब में उस समय बन्दरगाहों की समुद्र यात्रा बढ़ रही थी। कबीले एक दूसरे को लूटते थे। स्थल यात्रा पर व्यापार की जिस सहूलियत की जरूरत थी वह इन लड़ाइयों से सम्भव न थी। दास प्रथा थी। स्त्री भी जरखरीद और भोग्य थी। मुहम्मद ने काफी परिवर्त्तन कर दिये। कबीलों को भाई चारे के नाते से एक किया।

स्थल व्यापार बढ़ा। दासों को नजात दी। स्त्री को तलाक का हक दिया। पुरुष को सिर्फ चार स्त्रियाँ दी गई जहाँ पहले सैकड़ों रखी जाती थी। यों इस्लाम का प्रारम्भ एक महान शक्ति के रूप में हुआ, पर शीघ्र ही यह सब टूटा, टूटा यों कि कबीलों के मिलनेपर अरब राष्ट्र बना। उसकी दिग्विजय लूट बनी और व्यापारी के हाथ में राज्यसत्ता आते ही मुसलमानों में भी धन के अनुसार नया वर्ग भेद प्रारम्भ हुआ। क्योंकि यह सब कबीले एक संस्कृति के थे, वे एक राष्ट्र बन गये। फिर वे फैले। पर भारत में जब मुसलमान शासक आये, वे सामन्तवाद सेपहले लड़े, पर शीघ्र ही उन्होंने यहाँ के धर्म में हाथ डालना छोड़ दिया, अर्थात् समाज के ढांचे को छोड़ दिया। केवल भिन्न भाषा से धार्मिक प्रेरणा लेते, रहन-सहन खान-पान अलग वाले, वे एक और सम्प्रदाय बन कर भारत में समा गये।

इस समस्त विवेचन ने उपासना के उस पक्ष को प्रकट कर दिया जिसने उसके मूलतत्त्व को ढँक लिया था। उपासना का प्रारम्भ ईश्वर को न जानने के भय से हुआ। मनुष्य सदा से ही सृष्टि के रहस्य को खोज लेने के प्रयत्न में लगा ही रहा है। उसने ईश्वर की कल्पना को युगों के अन्वेषण से धीरे-धीरे विकसित किया। पितृ पूजा के देवता को धीरे-धीरे उसने ब्रह्म बनाया। जब इससे भी काम न चला तो उसने लोकनायक और लीलामय के रूप में भी उसे अवतरित किया। इस उपासना के मूल में रहस्य के साथ प्रेम बढ़ा।

यह उपासना का मूलतत्त्व अपने एक आधार में व्यक्तिगत था। किंतु अपने व्यापक पक्ष में इसने सदैव ही समाज का आधार खोजने का यत्न किया। किन्तु उपासना के ईश्वरवादी दृष्टिकोण में समाप्ति नहीं हो जाती, नास्तिकवाद ने भी भौतिकवाद का विरोध कर उपासना की नई पद्धतियों का अवतरण किया है।

आज भी जब प्रश्न उठता है कि रूस में नास्तिकवाद है, तब पूँजीवादी यहाँ प्रचार करते हैं कि वहाँ धर्म नहीं माना जाता, तुम

को भी पूजा नहीं करने दी जायेगी, साधारण मस्तिष्क भड़क उठता है। वस्तुतः सत्य यह नहीं है। उपासना एक व्यक्तिगत वस्तु है, और व्यक्ति को साम्यवाद में उपासना की पूरी स्वतन्त्रता है, परन्तु उसके वाह्य उपकरणों में से उन पर अवश्य नियन्त्रण हैं, जो समाज के आर्थिक ढाँचे पर वर्ग स्वार्थों के पोषण का माध्यम बन जाते हैं। स्वयं कम्युनिस्ट ईश्वर को विज्ञान की खोज का विषय मानते हैं, और केवल परम्परा होने के कारण उस पर विश्वास नहीं करते। परन्तु अपने इस प्रकार स्वीकार न करने के लिए वे उतने ही स्वतन्त्र हैं जितने बौद्ध या जैन, जो स्वयं ईश्वर को नहीं मानते।

बौद्धिक जागरूकता जिसमें धर्म का अर्थ मनुष्य का मनुष्य के प्रति सच्चा प्रेम है, वह कम्युनिस्ट समाज में ही संभव है। यदि गहराई में देखा जाये तो धर्म का तात्पर्य समाज का नैतिक नियन है। धर्म बदलता है। कम्युनिज्म का एक अलग दर्शन है। वह उसके हिसाब से समाज को बदलता है। पर उपासना के मूल अधिकार को वह नहीं छीनता। हाँ, धर्म के नाम पर मठ महंत वहाँ नहीं पलते, साधू नहीं पलते, विधवाएं व्यभिचार के लिए नहीं रखी जातीं। आज सेठ लोग एक ओर चोर बाजारी करते हैं, दूसरी ओर कीर्त्तन और भजन। कम्युनिस्ट समाज में केवल चोरबाजारी का अधिकार नहीं होगा। कीर्तन भजन पर कोई रोक नहीं होगी।

यह है उपासना का मूलतत्त्व। भारत के शैव सम्प्रदायों में उपासना का मूलतत्त्व सदा से ही एकान्त रहा है और यही कारण है कि निरन्तर वाह्य उपकरणों के बदलते रहने पर भी वह कभी रुका नहीं। आर्य्यों की व्यवस्था उसे कभी भी मिटा नहीं सकी।

योग एक ऐसी वस्तु है जिससे भारतीय सम्प्रदाय सदा से ही प्रभावित रहे हैं। प्रारम्भ में ब्राह्मण बहुत ऊँचा माना जाता था। परन्तु बाद में योगी का दर्जा सर्वश्रेष्ठ माना गया।

योग भारत में आर्य्यों के आने से पहले ही था। योग समाज

की विभिन्न व्यवस्थाओं में भारत में जीवित रहा है। यह बर्बर (दास प्रथा) युग से भी पहले था। फिर बर्बर युग, फिर सामन्त युग में भी रहा। आज पूँजीवादी युग में भी इसका प्रभाव है। बहुधा भारतीय चिंतन के विचारक प्रगतिशील चिंतन में योग का स्थान पूछते हैं। वे स्वयं योग के वर्त्तमान समय में प्राप्त रूप को शाश्वत समझते हैं। योग ने भिन्न-भिन्न समयों में भिन्न भिन्न संप्रदायों का रूप धारण कर के अपने को जीवित रखा है। पातंजलि के पहले योग का परिष्कृत वर्णन नहीं मिलता। हठयोग धीरे-धीरे कालान्तर में राजयोग से जुड़ सका है। योग आज एक प्रकार का पलायन है, जो मनुष्य को समाज से दूर करता है। सामन्त काल में भी योग सम्प्रदायों ने भाग्यवाद और पलायनवाद को जन्म दिया था। योग से ईश्वरवाद जोड़ दिया गया है।

योग मूलतः शरीर और मस्तिष्क पर काबू करने की पद्धति है। चित्तवृत्ति का निरोध इसे ही कहा गया है। जैन और बौद्धों में योग की स्वीकृति प्रमाणित करती है कि योग का ईश्वर, भाग्यवाद, अथवा कर्मवाद से जो सम्बन्ध जोड़ा गया है, वह योग का सामंतवादी स्वरूप है।

योग, बर्बर व्यवस्था से जब सामन्तकाल में आया तो उसे भी नयी समाज व्यवस्था के अनुकूल बनाया गया।

योग केवल शरीर और मस्तिष्क की शक्तियों को विशेष कसरतों के द्वारा बढ़ाने का विज्ञान है। मैस्मरिज्म जो विज्ञान है, इसी का एक रूप है। योग प्रगट करता है कि साधना से तनमन की शक्तियाँ बढ़ सकती हैं। यह विज्ञान की खोज का विषय है। यह भौतिक पर आधारित है। इसे दिव्य बनाना अपने अज्ञान का परिचय देना है। अभी तक इसको केवल पलायनवाद बनाया गया है। योग समाज के लिए लाभदायक हो सकता है, बशर्ते कि उसे उसके सामंतीय ढांचे से अलग कर दिया जाय। प्राचीन काल में सृष्टि के रहस्य को समझने की चेष्टा करने वाले लोग योगी हुए थे। योगियों

की एक सामाजिक उपादेयता यह रही है कि उन्होंने रसायन और औषधिशास्त्र को बहुत देन दी है। योग की दूसरी देन यह है कि इसने ब्राह्मणवादी या पौरोहित्या करने वाले वर्गों का विरोध किया है।

योग समाज की उत्पादन प्रणाली को नहीं बदल सकता, क्योंकि आज तक बदल नहीं सका है। योग का विकास उसी समाज में संभव है जहाँ मनुष्य भूखा नहीं हो।

बुद्धि और मस्तिष्क का विकास अब विज्ञान हर प्रकार से करेगा। अभी तक जिसे 'आत्मानुभूति' कहते रहे हैं वह व्यक्तिगत वस्तु है, और उच्चवर्गों ने उसकी आड़ लेकर जन-समाज का शोषण किया है।

प्रगतिशील विचारक चमत्कारों के आगे सिर नहीं झुकाता। वह उन्हें समझने की चेष्टा करता है और इसीलिए विज्ञान का रास्ता पकड़ता है, ताकि उसे स्पष्ट कर सके।

अधुना यह कहा जाता है कि आज की वैज्ञानिक प्रगति पहले भी किसी समय थी, ब्रह्मास्त्र अणुबम ही था और आर्यसमाजी इस प्रकार के अनेक सुझाव प्रस्तुत करते हैं कि अग्न्यास्त्र बम था, वायव्यास्त्र एक प्रकार का दूसरा बम था, विमान हवाई जहाज़ था और यह वैज्ञानिक उन्नति इतनी अधिक हो गई थी कि कलियुग के आने पर सब विद्या लोग भूल गये और फिर उन बातों को याद ही बनी रह गई।

क्या यह हो सकता है कि यह सब चीजें उस युग में थीं? इसकी जाँच करने के लिये कुछ और भी तथ्य देखने पड़ेंगे।

पूर्वज यह समझते थे कि धरती गोल तो है पर चपटी है और और शेषनाग के एक हजार फनों पर रखी है और उसके बीच में सुमेरु है। सूर्य पृथ्वी से छोटा है और चन्द्रमा सूर्य्य से विशेष छोटा नहीं। जैन और बौद्ध स्रोतों में तो और ही अनेक कहानियाँ मिलती हैं। ब्राह्मण स्रोत ही काफी होंगे। उनके अनुसार धरती पर अनेक समुद्र हैं। एक लवण है, दूसरा क्षीरोदधि, इत्यादि। आज हम

जानते हैं कि यह सब ग़लत है। धरती गेंद सी है। शेषनाग का पता नहीं मिला। सूर्य धरती से बहुत बड़ा है, चन्द्र छोटा है, दूध का समुद्र कहीं नहीं है। और फिर हमारे पूर्वज हजारों बरस जिया करते थे। उनमें से कई तो ऐसे थे जो आँख बन्द करते ही त्रैलोक्य के रहस्य जान लेते थे। उनकी हथेली पर समस्त ब्रह्माण्ड आँवले की तरह रखा रहता था क्या वे ये सब नहीं जान सकते थे जो चुपचाप उन्हीं गलत बातों को स्वीकार किये चले जाते थे। उनके बारे में कहा जाता है कि वे कभी सूर्यलोक जाते थे, कभी चन्द्रलोक। यदि एक सेकंड में कोई सात मील की रफ़्तार से चल सकता है तो वह अवश्य धरती की आकर्षण शक्ति को पार कर सकता है। कोई भी अभी तक इतनी गति नहीं पा सका है। फिर वे ऋषि कैसे पा सकते थे? इसका उत्तर दिया जाता है कि मन के द्वारा। मन के द्वारा ही यदि वे यह सब कर सकने में समर्थ थे तो मन की शक्ति से उन्होंने उस समय भी इस संसार को सुन्दर स्वर्ग क्यों न बना दिया?

इसका कारण लगता है कि उत्तराधिकारियों ने पूर्वजों के बारे में कहानियाँ गढ़ ली हैं। पुराण, रामायण और महाभारत में इतनी तर्कहीन असंगतियाँ मिलती हैं कि उनका वर्णन नहीं किया जा सकता। आश्चर्य है उन बातों को पढ़े-लिखे आदमी भी ज्यों का त्यों स्वीकार कर लेते हैं। वे कहते हैं कि पुराने आदमी और थे, अब के लोग और हैं। वे शक्तिशाली थे, दीर्घायु थे। उनकी अब के मनुष्यों से तुलना ही क्या?

तर्क की कसौटी जरा रंग की काली होती है। बुद्धि का रंग ही खरोंच मार कर उस पर चमकता है। राजा दशरथ की आयु साठ हजार वर्ष बताई जाती है। राजा राम की दस हजार। चौदह साल के राम को बनवास दे दिया गया था। तो दस हजार कम चौदह बरस तक का समय राम का युवाकाल या वार्द्धिक्य ही रहा। उसी के साथ दूसरी किंवदन्ती है कि शम्बूक की तपस्या के

कारण एक ब्राह्मण का पाँच हज़ार वर्ष का बालक मर गया। लीजिये ! वह पाँच हज़ार वर्ष का होकर भी बालक ही बना रहा था, जब कि १४+१४=२८ की उम्र में राजा रामचन्द्र ने सिंहासन पर बैठकर राज्य चलाना प्रारम्भ कर दिया था।

इस सबसे क्या तात्पर्य्य लगाया जाये; या तो यह सब व्यर्थ की बात है, या यह कहें कि बाद के ब्राह्मणों ने चमत्कार घुसेड़ने का प्रयत्न किया है।

समस्त भारत यही कहता सुनता आ रहा है कि सीता का अग्निप्रवेश हुआ था। वह आग में जली और निकल आई। परन्तु आश्चर्य्य की बात है कि महाभारत में जो रामायण की कथा आई है उसमें सीता अग्नि में प्रवेश नहीं करतीं। करने को होती ही है कि इन्द्र और दशरथ की आत्माएँ वहाँ आकर रोक कर राम को समझा देते हैं। राम मान जाते हैं। अब दोनों में से किसे स्वीकार किया जाये। रामायण को तो चमत्कारों ने भर रखा है। उसमें बानरों का वर्णन है। वह बानर बन्दर कहलाते हैं। बन्दर तो वे माने गये हैं पर वे रहते थे महलों में। हनुमान प्राकृत भाषा के अतिरिक्त संस्कृत भी जानते थे। और इच्छा रूप तो वानर देव-योनि होने के कारण ही थे। तभी वे ब्राह्मण बनकर राम के पास गये थे। तिस पर वानरों की स्त्रियाँ—बन्दरियाँ—बड़ी सुन्दर होती थीं। जिस समय लक्ष्मण क्रुद्ध होकर सुग्रीव को डाँटने गये थे तो मदविह्वलांगी तारा अपने गूँजते आभूषणों से सजी, अधनंगी ही सामने आगई थी। उस समय लक्ष्मण जी ने शर्म से आँखें झुका ली थीं और क्रोध भूल गये थे। आप एक बन्दरिया को चित्र में रखकर इस दृश्य की कल्पना कर सकते हैं? बाली ने तारा को रख लिया था। छोटे भाई की स्त्री को छीना था तभी राम ने उसे मारा था। बाली ने कहा था कि मनुष्यों में यह नियम नहीं, वानरों में है। बाद में सुग्रीव ने तारा को रख लिया। उस समय उसे बुरा नहीं समझा गया। सारी बातें एक विशेष सामाजिक अवस्था की ओर

इंगित करती हैं। ऐसे ही जम्बुवान रीछ था, पर उसकी बेटी की शक्ल सूरत औरत की सी थी और कृष्णजी का उससे ब्याह हुआ था, उनके उससे साम्ब नामक पुत्र भी हुआ था।

पुराणों में तो इस तरह की अनेक कथाएँ हैं। प्रश्न उठता है कि वास्तविकता क्या है?

बात असल में यह है कि तीन चौथाई तो कल्पना का अंश है। कुछ कथाएँ तो केवल उपदेशात्मक हैं—जैसे राम के दरबार में फैसले के लिये उल्लू और गिद्ध उपस्थित हुए। उसी सिलसिले में सृष्टि के क्रम का जो ज्ञान उस समय लोगों में था उसे उपस्थित कर दिया गया। बाकी एक चौथाई में सत्य ढँका हुआ है। वह सत्य इतना पुराना है कि लोगों ने उसे विस्मृत हो जाने पर लिखा है अतः वे उसे कल्पना के रूप में ही प्रस्तुत कर सके हैं।

पूर्वजों का ज्ञान वास्तव में कम था। हम जो जानते हैं, आगे आने वाली पीढ़ियाँ उससे कहीं ज्यादा जान सकेंगी क्योंकि अब तक का ज्ञान, हमारी खोजें, आगे आने वालों की खोजें, ऐसे ही भविष्य के अन्वेषण, सब होते-होते उन तक पहुँचेंगे।

पुराने समय में ही नहीं, अभी तक संसार में कुछ टॉटम और टैबू जातियाँ हैं। टॉटम कहते हैं किसी वृक्ष, पशु आदि को देवता मानकर पूजा करना और अपनी जाति को भी उसी का नाम दे देना। जैसे पीपल के पूजक अपने को पीपल ही कहेंगे। छिपकली के उपासक अपने को छिपकली ही कहेंगे। सुनकर सम्भवतः आपको अविश्वास हो। परन्तु यदि आप भारत की मर्दुमशुमारी की जातियाँ देखें या अनेक छोटी बड़ी जातियों की सूची देखें तो दक्षिण भारत में अभी तक आपको ऐसी अनेक जातियाँ मिलेंगी जो अपने को पशु, पक्षी या पेड़ के नाम पर सम्बोधित करती हैं। टॉटम के विरुद्ध टैबू होता है। टैबू कहते हैं वह वस्तु, पशु, पक्षी इत्यादि जो शत्रु होती है, जैसे गरुड के उपासक का शत्रु नाग है, नाग का गरुड़ है। मूषक का विडाल है, श्वान विडाल का शत्रु है।

जो जाति मूषक की उपासना करेगी वह विडाल के उपासक की कभी मित्र नहीं हो सकेगी। ऐसे ही सिक्ख सूअर को पवित्र मानते हैं, मुसलमान सूअर के शत्रु हैं। अतः इनका इस विषय पर कभी समझौता नहीं हो सकता। ऐसे ही भारत में भी अनेक टॉटम और टैबू जातियाँ थीं। उनका ही वर्णन पशु-पक्षी के रूप में पुराणों में मिलता है। जैसे-जैसे बात पुरानी पड़ती गई है, चमत्कारों से उसे प्रभावशाली बनने का प्रयत्न किया गया है।

कुल पाँच हजार साल पुरानी घटना बताई जाती है महाभारत युद्ध की। उस समय भीम थे जो उठाकर हाथी फेंक देते थे, और पेड़ उखाड़ कर मारते थे। क्या रूप रहा होगा उनका ? बहुत बड़े ही तो होंगे न ? पर हमें एक-एक लाख साल पुराने मनुष्य के हड्डी के ढांचे मिलते हैं। उन्हें देखकर अन्दाज नहीं होता कि उनमें पेड़ उखाड़ लेने की सामर्थ्य थी। यह कवि की अतिशयोक्ति ही है।

महाभारत का युद्ध काल १८ दिनों में समाप्त हो गया था। अब युद्ध कई-कई साल चलते हैं। और कहा जाता है कि यादव ५६ करोड़ थे, वे समुद्र तीर पर इकट्ठे हुए थे। वहाँ गृहयुद्ध में पटेरे उखाड़ कर लड़ कर मर गये थे। सोचिये, हिन्दुस्तान में ३५ करोड़ लोग रहते हैं। वह समुद्र तीर कितना बड़ा होगा जहाँ ५६ करोड़ आदमी इकट्ठे हुए थे। क्या यह हो सकता है! इसीलिये तो मैं कहता हूँ कि यह सब काव्य की काल्पनिक ऊहा है, और अतिशयोक्ति है। और कुछ नहीं। छोटी बात को बड़ा करके दिखाया गया है।

स्वयं महाभारत में लिखा है कि महाभारत युद्ध के समय कृष्ण जी ८६ वर्ष के थे। आपने किसी भी जगह कृष्ण का ऐसा चित्र देखा है जिसमें वे एक सुन्दर तरुण नहीं दिखाई देते हों ? कुछ तो ऐसी बातें लिखी हैं कि सुनकर हँसी आती है। राजा रेवत ब्रह्मा के पास गये। वहाँ ब्रह्मलोक में गाना हो रहा था। राजा अपनी पुत्री रेवती के लिये वर खोज रहे थे, इसी की सलाह लेने ब्रह्माजी के

पास गये थे। गाना हो रहा था तो चुप हो रहे। जब गाना समाप्त हुआ तो उन्होंने पूछा--ब्रह्मा ने कहा कि अब तो सतयुग से द्वापर आगया। यह ब्रह्मलोक है। किसी कवि ने इस कथा को केवल इसलिये लिखा था कि विधाता की दृष्टि में समय की गति का विराट प्रसार है। मनुष्य उसके सामने कितना छोटा है। यहाँ तक तो ठीक है। पर अब आगे कथा को पूरा करने दीजिये। ब्रह्माजी ने कृष्ण के भाई बलदेव का नाम लिया। चुनांचे बलदेव से रेवती का ब्याह होगया। अब बलदेव द्वापर के, रेवती सतयुग की। वह बहुत लम्बी थी। सो धर उसके कन्धे पर अपना हल, जो बलदेव जी ने दबाया, तो रेवती की ऊँचाई को घटा दिया और बराबर कर लिया। पुराणकार यह भूल गया कि उस वक्त रेवती कितनी चौड़ी और मोटी होगई होगी। किसी भी लम्बी वस्तु को दबाने से उसका फैल जाना तो स्वाभाविक ही है। पर इसका उसने वर्णन नहीं किया है।

पूर्वजों का शायद यह विचार था कि वीर्य्य होना चाहिये, उसी से सन्तान हो जाती है। सो आप शहर से लेकर जगल तक में बच्चा पाइये। पूर्वजों की यह एक कमी थी, सीमा थी। उस समय तक शरीर के बारे में आज की सी जानकारी नहीं थी। वैज्ञानिक दृष्टिकोण नहीं था। चमत्कारों को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया जाता था क्योंकि सब लोग उसको ईश्वर का रहस्य समझते थे। वे रहस्य को रहस्य कह कर उस पर विश्वास किये चले जाते थे। जो ब्राह्मणों के विरुद्ध थे, वे दूसरे सम्प्रदायों के पुराण बनाते थे पर उनमें भी चमत्कारों की कमी नहीं थी। जैन ग्रन्थों में ब्राह्मणों के चमत्कारों का मजाक उड़ाया गया है। पर बाद में वे भी उसी दलदल में डूब गये। चमत्कार मुसलमान और ईसाइयों में भी मिलते हैं। ईसा मसीह को झट से आदमी से खुदा का बेटा बनाकर उसकी महत्ता को पुजारी वर्ग ने अपने स्वार्थ के लिये, घटाने में कोई कसर नहीं रखी।

चमत्कारों का युग अब गया। पुजारियों ने योरुप में फैला रखा था कि ईसा मसीह के एक हजार साल बाद ही प्रलय हो जायेगी। हर ईसाई उस वक्त यही समझता था। ईसा के हजारवें साल की आखिरी तारीख को लोग घरों के बाहर निकल कर दुनिया के खत्म होने का इन्तजार करते रहे, पर प्रलय नहीं आई। यूरोप के बुद्धिवादियों के दिमाग पर से एक पर्दा हटा।

हमारे यहाँ भी प्रलय की बात है, पर वह बहुत दूर है। सबसे बड़ा दोष जो ब्राह्मण धर्म का है वह यह कि उसने भारत में कलियुग करार दिया है, और कहा है कि बस अब तो जो है सो गिरता ही चला जायेगा। कहा था ब्राह्मण ने कि उसके अपने वर्ग स्वार्थ नष्ट होते ही चले जायेंगे, पर उसका प्रभाव हुआ कि जाति की एक जीवनी शक्ति पर इस चिंतन ने बहुत बुरा प्रभाव डाला। निरंतर विकास की ओर अग्रसर होने वाली मानव जाति के लिये ऐसा चिंतन बड़ा ही हानिकारक है। मनुष्य विकास कर रहा है, दिन पर दिन उसका ज्ञान बढ़ता है। निस्सदेह वह पूर्वजों से बहुत अधिक जानता है।

जब हम अपने युग के ज्ञान की अधिक प्रशंसा करते हैं तब हम उनका अपमान करने की कोई धृष्टता नहीं करते। हम यह भी कहते हैं कि आगे आने वाली पीढ़ियाँ हम से भी अधिक जानकारी हासिल कर सकेंगी। हमारे प्राचीन पूर्वजों से हमारे मध्यकालीन पूर्वजों ने जो सीखा था, उसी को उन्होंने आगे बढ़ाया था, उसी परम्परा को हमने पाया है और हम भी यथासाध्य बढ़ाने की चेष्टा कर रहे हैं। यह केवल मनुष्य की जानकारी की बात है। इसका यह अर्थ नहीं होता कि हजार साल पहले यदि एक महाकवि था, तो उससे अधिक दुनियादारी जानकारी होने के कारण, आज का कोई भी कवि उससे हर हालत मे श्रेष्ठ ही होगा। माना कि हजार साल पुराने कवि की बन्दिशें थीं, लेकिन काव्य केवल बाह्य जानकारी से नहीं बनता। काव्यकार कोई कोषकार या निघंटुकार

नहीं होता। काव्य की आत्मा पर विवेचन करते समय हम इस तथ्य की पूर्ण व्याख्या कर सकेंगे।

हमारे देश में संस्कृत साहित्य में ध्वनि, छंद आदि काव्याभरणों पर जो खोजबीन हुई थी, हिन्दी के रीतिकाल में वही दुहराई गई। हिन्दी में रीतिकाल में इस विषय पर अधिकांश पुराने की ही नकल की गई और नयापन नाममात्र को रहा। इसका अर्थ यह नहीं कि पुराने संस्कृत आचार्यों से हिन्दी के आचार्य्य बहुत अधिक जानते थे। संस्कृत और हिन्दी के ऐसे साहित्य सर्जन के समय भारत में सामंतवाद था जो अपने ह्रासकाल में दरबारों में घुमकर सीमित होगया था। दूसरे हमने ऊपर स्पष्ट किया है कि जाति की जीवनी शक्ति भी कलियुग की भावना के कारण अपने को निर्बल सा भी अनुभव करती थी। उसके लिये प्राचीन ही महान् था।

प्रगतिशील आलोचक का कर्त्तव्य है कि वह सहज ही कोई निष्कर्ष निकालने की प्रवृत्ति में न पड़े। और अपने निष्कर्ष को यदि वह निकाल भी ले, तो उसे प्रत्येक विषय के साथ रखकर देखे। निष्कर्ष पानी है, तो विषयों में कोई गिलास, कोई लोटा है। पानी इनमें भरकर विषयों का आकार ग्रहण करता है। लोटे और गिलास में पानी अलग-अलग शक्लों में भरता है।

आलोचक का धर्म धैर्य्य है, उसे भुलाना अपने कार्य के साथ अत्याचार करना है। कुत्सित समाजशास्त्र का जन्मदाता अधैर्य्य भी है। इसके कारण बहुत ही नुकसान होता है। साहित्य को यदि एकपक्षीय बनाकर देखा जाता है तो वह अपने विकास का रूप भी छोड़ देता है। कला कला के लिये वालों में भी यह दोष है कि वे काव्यकृति को युग और काल से निरपेक्ष समझकर उसे बिल्कुल बाहर निकाल कर देखने की चेष्टा करते हैं। महाभारत में जो यौनवाद की मुखरता है, स्पष्ट वर्णन हैं, वे तत्कालीन समाज के सेक्स सम्बन्धों की स्वतन्त्रता प्रगट करते हैं। आज वे नियम बदल

गये हैं। मध्ययुग में वे और थे और भविष्य में हमारा समाज नये रूप तथा सम्बन्धों को धारण करेगा।

रोमान्सवाद साहित्य में प्रत्येक देश में रहा है और इसका प्रभाव पूँजीवाद के उत्थान और सामंतीय व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह काल में अधिक रहा है। इसमें पलायन की भावना भी रहती है किन्तु बिना विद्रोह के यह जीवत नहीं होता।

प्रगतिशील साहित्य में रोमान्सवाद का अपना स्थान है। मध्यकालीन रोमान्सों में राजा-रानी प्रेम किया करते थे। वह रोमान्स का एक पक्ष था। उसके बाद रोमान्सवाद का जन्म हुआ जिसका प्रभाव अंग्रेजी से हिन्दी में भी पड़ा। प्रगतिशील लेखकों में मैक्सिम गोर्की पर भी यह लांछन लगाया गया था कि वह रोमान्टिक लेखक है और यथार्थवाद से बहुत दूर है।

किन्तु यह कुत्सित समाजशास्त्री दृष्टिकोण मात्र है। रोमान्स दो प्रकार का है। एक वह जो पाठक को ऐसे कल्पना जगत में ले जा कर छोड़ दे जिसकी कोई सार्थकता नहीं हो। ऐसी ही अनर्गलता को रोमान्सवाद के नाम से 'कला कला के लिये' के समर्थक प्रस्तुत करते हैं, और उसे साहित्य का चरम लक्ष्य कहते हैं।

दूसरा रोमान्सवाद वह है जो यथार्थ को भी बल देता है। यह रोमान्सवाद रोचक शैली का प्रतीक है, जिसमें अभिधा और व्यंजना तथा लक्षणा का पूर्ण सामंजस्य होता है। गोर्की में यह तीनों बातें साथ-साथ थीं।

हिन्दी में रोमान्स का अर्थ यौन सम्बन्धों से ही अधिकतर लिया जाता है। किन्तु यह ठीक नहीं है।

कल्पना प्रधान शैली को रोमान्टिक के वर्ग में रखना अधिक उचित है। एक कल्पना वह है जो वास्तविकता से दूर ले जाती है। दूसरी वह है जो वास्तविकता को और निकट ले आने के लिये भावों की तीव्रता को अभिव्यक्ति देने में समर्थ होती है। यह दूसरी कल्पना प्रगतिशील साहित्य के हाथ में एक अस्त्र है। यह अभि-

व्यक्ति की एक शैली है। इससे भावना जाग्रत होती है और हृदय पर गहरा असर पड़ता है। पाठक की रुचि रमती है।

यहाँ हम मैक्सिम गोर्की पर एक संक्षिप्त दृष्टि डालना उचित समझते हैं।

मैक्सिम गोर्की रूस में उस समय हुए, जब वहाँ एक अभूतपूर्व परिवर्तन हो रहा था। उन्हें इतिहास के तीन दौर देखने पड़े, उनमें से गुजरना पड़ा, और वे प्रत्येक युग के प्रति सचेत रहे। पहला युग था जार का समय, दूसरा युग था क्रान्ति-युग और तीसरा युग था क्रान्ति के बाद का निर्माण-काल। पहले युग में दरिद्रता, दुःख और अन्याय था। दूसरा युग शोषित वर्ग का वह प्रचण्ड और विराट् संघर्ष था, जिसने तीसरे युग को ला खड़ा किया। तीसरे युग में मनुष्य को, इतिहास में, पहली बार स्वतंत्रता प्राप्त हुई। मनुष्य की यह स्वतंत्रता अराजकतावादियों और आतंकवादियों की स्वतंत्रता नहीं थी। यह सामाजिक स्वतंत्रता थी, जिसमें व्यक्ति के अधिक से अधिक विकास की सम्भावना सरल हो गयी थी। इस युग से पहले ऐसा कभी नहीं हुआ था।

तो मैक्सिम गोर्की ऐसे युग में हुए थे कि जब बीज धरती में जमा, धरती फोड़ कर निकला और फिर उसने कोंपलें खोलीं। यह संघर्ष और क्रान्ति का युग अत्यन्त गतिशील था। जहाँ पहले दरिद्रता, अत्याचार और दुःख की चरम सीमा आ गयी थी, दूसरे दौर में उनसे उतनी ही भीषण टक्कर हुई। और तीसरे दौर में नव-निर्माण का उतना ही काम आ पड़ा, जो क्रान्ति की तुलना में किसी तरह हलका नहीं था। तीसरे युग में जो महान् कार्य हुआ वही उस क्रान्ति की सफलता का द्योतक चिह्न प्रमाणित हुआ।

मैक्सिम गोर्की की रचनाओं में तीनों युगों की छाप ही नहीं मिलती, वरन् वह एक अग्रगामी नेता के रूप में भी दिखाई देता है। गोर्की वास्तव में रूसी क्रान्ति का प्रतीक है। रूसी क्रान्ति ने अपने संगठन-काल में समाज के निचले तबके

को जगा कर नेता बनाया, अपने संघर्ष के दौर में उससे नेतृत्व करवा कर प्रतिक्रियावादी शक्तियों को हराया और अपने निर्माण-काल में उसने उसी शोषित वर्ग को पराजित शक्तियों का प्रहरी बनाया और उसे नव निर्माण में लगा दिया। गोर्की में ये तीनों बातें हैं। वह बहुत ही गरीब था, और क्रान्ति के पहले के संगठनों ने उसे नयी चेतना दी। उस समय उसने अपने समय के समाज, राज्य और राजनीति के अत्याचार और अनाचार का पर्दाफाश किया। क्रान्ति के युग में उसने मजदूरों और किसानों की लड़ाई की अगुआई की और क्रान्ति के बाद तो वह एक नयी संस्कृति के निर्माण में ऐसा सजग प्रहरी बन गया जो एक ओर शत्रुओं से मुकाबला करता था तो दूसरी ओर रूसी संस्कृति और सभ्यता की समस्त विरासत के अच्छे अंश को सचेत रूप से समेट रहा था।

गोर्की की रचनाएँ भी इसी प्रकार तीन भागों में विभाजित की जा सकती हैं। जिस अमर कृति के कारण गोर्की संसार के सर्व-श्रेष्ठ साहित्य-सर्जकों में गिना गया, वह थी उसकी 'माँ', जो उसने क्रान्ति के पहले लिखी थी। जिसके कारण वह क्रान्ति का अगुआ और योद्धा गिना गया वह थी उसकी 'तूफानी पक्षी का गीत' नामक रचना और क्रान्ति के बाद उसने जो लेख और पैम्फलेट लिखे वे पूँजीवाद के समर्थकों के लिए मुँहतोड़ जवाब थे।

'माँ' में गोर्की ने दो बातें प्रदर्शित की हैं। 'माँ' मनुष्यता का प्रतीक है। वह अपने बन्धनों में इतनी जकड़ गयी है कि स्वयं अपने भविष्य के बारे में और अपनी वर्तमान वेदना के कारणों से अनजान है। वह नहीं समझती कि अत्याचारों का कारण क्या है? वह एक पुरानी दुःखी दुनिया है। गोर्की उस माँ को मनुष्यता के विकास के प्रति एक स्वाभाविक प्रवृत्ति रखने वाली ममता के रूप में प्रतिबिम्बित करता है, दिखाता है कि पुरानी दुनिया के दुखी लोग नयी दुनिया के निर्माताओं के प्रति पूर्ण सहानुभूति रखते हैं और संघर्ष में उनके साथ हैं। मानवता का विकास इसी प्रकार

होता है। दूसरे, उसने प्रदर्शित किया है कि संघर्ष वैयक्तिक नहीं, सामाजिक है और मनुष्यता प्रत्येक पीढ़ी के साथ अच्छाई की ओर बढ़ती है। गोर्की की समस्त रचनाओं का मूल स्वर उसका जागरूक मानवतावाद है, जिसके कारण उसने साम्यवाद का सबसे अधिक प्रचार किया था।

राजनैतिक कार्यकर्ता प्रायः अपने को लेखकों से अधिक कर्मठ समझते हैं और लेखकों पर सहज ही यह लांछन लगा दिया जाता है कि तुम कल्पना-लोक के रहने वाले हो, तुम्हारा जीवन से वह गहरा नाता नहीं, जो हमारा है। गोर्की के प्रति भी तत्कालीन कुछ राजनैतिक कार्यकर्ताओं का यही दृष्टिकोण था। क्रान्ति के समय ऐसे ही लोगों ने राय दी थी कि गोर्की को कम्यूनिस्ट पार्टी के दैनिक मुख-पत्र का सम्पादक बना दिया जाए। गोर्की से कहा गया और उसने स्वीकार कर लिया। किन्तु गोर्की को गोर्की बनाने वाला रूस में एक और आदमी भी था। वह था लेनिन। अगर लेनिन जैसा समझदार आदमी क्रान्ति का नेता न होता और उन्हीं 'कर्मठों' में से कोई होता तो गोर्की अमर कृतियाँ देने के बजाय खबरों के सम्पादन में लगा रहता। लेनिन ने कहा कि एक अच्छा साहित्यिक किसी राजनैतिक कर्मठ से कम नहीं होता। गोर्की को लिखने के लिए स्वतंत्रता देनी चाहिए। और लेनिन ने ही गोर्की से कहा था कि तुम अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में कम्यूनिज्म के प्रचार के लिए जो काम कर रहे हो, वह बहुत गहरा है और निश्चय ही मानवता का कल्याण करने वाला है।

गोर्की की कला का यही मूल स्वर है। वह किसी दैनिक पत्र का सम्पादक नहीं है। वह कलाकार है, जिसे पढ़कर कोई उसकी छाप भूल जाए, उसके तर्क को काट जाए, उसकी भावनाओं की ऊंचाई को ठुकरा दे, यह असम्भव है। गोर्की राजनीति को शुष्क ढंग से प्रस्तुत नहीं करता। वह उन स्वरों को पकड़ता है, जिनकी गूँज बराबर बनी रहेगी। 'माँ' में गोर्की ने न्यायालय का जो चित्र

खींचा है उसमें उसने पूँजीवादी सामन्ती न्याय का मखौल उड़ाया है। इसे पढ़ने के बाद पाठक की उस समाज पर तनिक भी आस्था शेष नहीं रहती, जो इतनी बड़ी पाप की पोल और ढकोसला छिपाये है। गोर्की ने तभी माँ से कहलाया है—"हमारी सन्तान पृथ्वी पर बढ़ी जा रही है। यही मैं सोचती हूँ—हमारी सन्तान पृथ्वी पर बढ़ी जा रही है। सम्पूर्ण पृथ्वी के हर एक कोने से, एक लक्ष्य की तरफ चल रही है। हृदय से पवित्रतम, बुद्धि के श्रेष्ठतम ये लोग पाप के विरुद्ध अडिग बढ़ रहे हैं, और अपने दृढ़ चरणों के नीचे झूठ को कुचलते जा रहे हैं। वे तरुण हैं, स्वस्थ हैं, और उनकी सम्पूर्ण शक्ति एक ही ओर लगी है—न्याय! न्याय की ओर! वे बढ़ रहे हैं, ताकि वे मनुष्य के दुःख को जीत लें, उसे पराजित करदें। वे संगठित पंक्ति में इसलिए खड़े हुए हैं कि समस्त दुर्भाग्य को मिटा दें, कुरूपता को धो दें, और सचमुच वे इन सबका नाश कर देंगे। उनमें से एक ने मुझसे कहा है कि वे एक नया सूर्य बना देंगे और वे वास्तव में बनाकर उसे जगमगा कर छोड़ेंगे। उसने कहा है कि वे सब टूटे दिलों को जोड़ देंगे और निश्चय ही वे ऐसा करेंगे।

"हमारे बच्चे सत्य और तर्क के पथ पर बढ़ रहे हैं, मनुष्यों के हृदय में प्रेम बसाने के लिए। वे पृथ्वी पर नया स्वर्ग बसाना चाहते हैं। वे धरती पर एक नयी आग जलाना चाहते हैं। वह नयी आग, वह आत्मा की अबुझ आग होगी। उस आग की ज्वाला से एक नया जीवन फूट रहा है, समस्त मानवता के लिए हमारे बच्चों के प्रेम का प्रकाश। और कौन है जो इन ज्वालाओं को बुझा सकता है? किसमें है वह शक्ति? कौन-सी सामर्थ्य उन्हें नष्ट कर सकती है? कौन-सी शक्ति उनका विरोध कर सकती है? वे धरती में से फूट निकले हैं और सारी ज़िंदगी उनकी जीत की कामना करती है, ज़िंदगी, सारी ज़िंदगी!"

यह है गोर्की का वह अदम्य स्वर, जो देशों की सीमाओं की

शृङ्खलाएँ तोड़कर मनुष्यों के हृदय में उतर गया और आज हम देखते हैं कि इसी विचार-धारा के कारण देश के बाद देश मुक्त होता चला जा रहा है।

गोर्की ने अपने समाज का बड़ा यथार्थ चित्रण किया है। किन्तु उसका यथार्थ रूढ़िवादी और संकुचित नहीं था। इसे न समझने वाले रूसी ट्राट्स्कीवादियों से प्रभावित आलोचकों ने गोर्की को रोमान्टिक कह दिया था। कुत्सित समाजशास्त्री वास्तव में उसके व्यापक दृष्टिकोण को समझ नहीं पाये थे।

गोर्की की 'वृद्धा इज़रगिल' नामक कहानी में एक पात्र डैन्को का वर्णन आता है। वह अपने साथ दुःखी जनता को लिए जा रहा है। रास्ते में जंगल पड़ जाता है। सब परेशान हो जाते हैं। तब डैन्को सोचता है कि मैं अपने लोगों के लिए क्या करूँ जिसमें इनका कल्याण हो सके? अचानक डैन्को ने अपना वक्ष पकड़ा और उसे फाड़कर अपना हृदय निकाल लिया और सिर के ऊपर उठा लिया। वह सूरज से भी ज्यादा चमक रहा था। सारा जंगल स्तब्ध हो गया और मनुष्य के प्रेम की इस मशाल से जगमगा उठा। जंगल पार हो गया।

लोग प्रायः इस कथा को उसका रोमांसवाद कहते हैं। किन्तु इसी कथा के अन्त में गोर्की ने कहा है—"और मैं डैन्को के महान् जलते हृदय के विषय में सोचता रहा। मनुष्य की उस कल्पना के विषय में, जिसने ऐसी सुन्दर और रोमांचकारी कथाएँ बनायी हैं।"

गोर्की अपने को संसार से अलग करके नहीं गिनता था। वह अपने को साहित्य के विकास का एक अंग समझता था। विचार-धारा की भिन्नता होते हुए भी उसने टालस्टाय और ऐन्टन चेखव से अपना सम्बन्ध रखा और उनकी कृतियों से प्रेरणा लेता रहा। चेखव के प्रति तो उसके हृदय में बहुत ही आदर था। उसने ही सबसे पहले मायकोवस्की की काव्य-शक्ति को पहिचाना था। माय-

कोव्स्की की 'क्लाउड इन ट्राउज़र्स' नामक कविता की जब सबने 'फ़्यूचरिस्ट' कह कर उपेक्षा कर दी थी, तब गोर्की ने ही उसकी सच्ची आलोचना की थी।

गोर्की साहित्यिक को एक इतिहासज्ञ नहीं मानता था, जिसे प्रत्येक घटना पर लिखना ही चाहिए। क्रान्ति के बाद उसने पत्रकारों को सामयिक तथ्यों पर ठीक दृष्टिकोण से प्रेरणा देते हुए, तथा कुछ लेखकों को, जो केवल 'स्थायी' साहित्य लिखने के भ्रम में पड़ गये थे, साहित्य और दैनिक जीवन का अटूट सम्बन्ध दिखाने के लिए 'फीचर्स' लिखना प्रारम्भ किया था। दैनिक जीवन के प्रति जागरूक रहने का यह सिद्धान्त अपना कर गोर्की ने कला का नाश नहीं किया, प्रत्युत उसका परिमार्जन किया और उसे अभिव्यक्ति का एक नया रूप देकर सम्पन्न बना दिया। 'फीचर', कहानी और 'रिपोर्ताज' के बीच की चीज़ बनी और गोर्की की कलम ने यूरोपीय बुर्जुआ लेखकों के हौसले पस्त कर दिये।

वह अच्छा लिखने का पक्षपाती था। उसका दृष्टिकोण कुत्सित समाजशास्त्री लेखकों का सा न था कि हर बात पर लिखना ही चाहिए। स्वयं कालिनिन ने शोलोखोफ़ को ऐसा करने से मना किया था। गोर्की और लेनिन की बातचीत इस विषय पर प्रकाश डालती है।

क्रान्ति के पहले लेनिन ने एक दिन गोर्की से कहा था कि आजकल पत्रों में कविता बहुत छप रही हैं।

गोर्की ने उत्तर दिया था कि बुरी कविता लिखना अच्छा गद्य लिखने की अपेक्षा कहीं अधिक सरल है।

लेनिन ने कहा कि कविता लिखना बड़ा कठिन काम है, मैं तो कभी नहीं लिख सका।

पर गोर्की की बात का मूल्य आज भी कम नहीं हुआ। गोर्की का ज़ोर यहाँ कला के पक्ष पर था। गोर्की कला-पक्ष के प्रति कितना सजग था, इसका एक उदाहरण यहाँ देना उचित होगा।

एक दिन लेनिन टाल्स्टाय का 'वार एण्ड पीस' उपन्यास पढ़ रहे थे। गोर्की के पहुँचने पर लेनिन ने कहा—"वाह! क्या लिखा है! इसका शिकार का वर्णन कितना सजीव है! गोर्की महोदय, इससे लिखना सीखो!"

गोर्की ने सिर हिला कर स्वीकार किया कि टाल्स्टाय महान् लेखक था। अगर गोर्की कुत्सित समाजशास्त्री होता तो वह कहता कि लेनिन, तुमने टाल्स्टाय जैसे सामन्तवादी व्यक्ति की प्रशंसा करके और मुझे उससे उपदेश ग्रहण करने की सम्मति देकर एक मजदूर और उसकी कला का अपमान किया है और इसका कारण यह है कि तुम मेरी तरह मजदूर नहीं, पूँजीवादी वर्ग के व्यक्ति हो।

गोर्की में केवल यथार्थ वर्णन-सोवियत यथार्थ वर्णन, प्रकृति, चरित्र, कथा, प्रचार तथा क्रान्तिकारी भावना का वर्णन ही नहीं, वरन् पुरानी में से नयी कला का सृजन भी है। क्रान्ति के बाद गोर्की ने साहित्य का बहु-पक्ष देखा। उसने भटके हुए लोगों को इकट्ठा किया, अज्ञात-पूर्व कवियों को प्रतिष्ठा दिलायी, लेखक-संघ का निर्माण किया, और सम्पादन के विराट् कार्य को हाथ में लिया। गोर्की ने जीवन के जिस निम्न स्तर से उन्नति की और जितनी उन्नति की, उसे देखकर आश्चर्य होता है। वह गोर्की, जिसे दर-ब-दर भूखे भागना पड़ा, जो कई-कई दिन बिना विश्राम के बर्फ में चलता रहा, जिसे प्रारम्भ में पढ़े-लिखे, उच्च वर्गों से आने वाले मार्क्सवादी बराबरी का दर्जा नहीं देते थे, अन्त में एक महान् स्रष्टा बना। परन्तु उसमें व्यक्ति का आक्रोश नहीं है। उसने अपने दारिद्र्य का चित्रण किया, समाज का दारिद्र्य दिखाने के लिए। उसमें अपनी गरीबी के लिए रोने की प्रवृत्ति नहीं है। वह कभी नहीं कहता कि तुम तो जानते ही हो, मैं गरीब हूँ, मुझ पर दया करो। वह प्रसिद्ध होने पर भी नये लेखकों को बढ़ावा देता है।

उससे ईर्ष्या नहीं करता, उनकी रचनाओं को सुधारता है। यह सब उसकी साहित्यिक कला की ही एक अभिव्यक्ति है।

जब हम गोर्की पर रोमांसवाद का आरोप सुनते हैं तो उसके तथाकथित रोमांटिक साहित्य को देखने की आवश्यकता होती है। 'चेलकश', 'मकरचुद्र', 'माल्वा' इत्यादि कहानियाँ मुख्यतः रोमांसवादी रचनाएँ कही जाती हैं। 'चेलकश' में एक चोर की कहानी है। वह किसान गैवरिला को अपना धन दे देता है। कुत्सित समाजशास्त्री इस कहानी के किसान-चित्रण को संघर्षमय किसान-वर्ग का अपमान समझते हैं, जब कि यह एक कठोर वास्तविकता का चित्रण है। गोर्की ने सामन्तीय विश्वासों में पले किसान की भाग्यवादी दयनीयता का प्रदर्शन किया है। 'मकुरचुद्र' एक बूढ़ा कंजर है। वह कहता है—"जीवन? अन्य लोग? हुँह! तुम दूसरों के बारे में क्यों परेशान हो? क्या तुम स्वयं जीवन नहीं हो? बाकी लोग तुम्हारे बिना रहते हैं, और वे तुम्हारे बिना ही अपना जीवन व्यतीत कर लेंगे। तुम समझते हो, किसी को तुम्हारी जरूरत है? न तुम्हारे पास रोटी है, न छड़ी, और न कोई तुम्हें चाहता है!"

वही पात्र कहता है—"जो अधिक चतुर हैं वे लेने लायक सब ले लेते हैं, मूर्खों को कुछ नहीं मिलता। लेकिन हर आदमी खुद सीखता है।" और फिर वह पात्र अपने कंजर-जीवन की कहानियाँ सुनाता है। उन कहानियों में यदि रूमानी माहौल है तो इतना ही है कि वे प्रेम-कहानियाँ हैं, परन्तु देखना यह है कि वे समाज पर क्या प्रभाव डालती हैं?

कुत्सित समाजशास्त्रियों के अनुसार वे कहानियाँ हमें प्रेम के एकान्तिक रूप की ओर ले जाती हैं। स्वस्थ दृष्टिकोण से देखने पर वे हमें वर्तमान सामाजिक व्यवस्था में छटपटाते पारस्परिक संबंधों के प्रति आकर्षित करती हैं।

'माल्वा' में एक आवारा औरत की कहानी है। किन्तु इसमें

गोर्की निम्न परिस्थिति में पड़े लोगों का सफल चित्रण करता है। इसमें एक भिखारी अपने जीवन का दर्दनाक चित्रण करता है—"कभी गाँव जाओ और रोटी माँगो·······पच्चीस सवाल पूछेंगे; तुम कौन हो, क्या हो ? तुम्हारा पास-पोर्ट कहाँ है ? कभी तुम्हें घोड़ा-चोर समझकर पकड़ लेंगे। पत्थर के बर्तन में बन्द कर देंगे। वे हमेशा गरीब बनते हैं, पर वे रहना जानते हैं। उनके पास जीने का सहारा कुछ तो है—धरती ! मैं उनकी तुलना में क्या हूँ ?"

द्रावक यातना बोल रही है। कहीं गोर्की के पात्रों में कोई चोर है तो उसे तुरन्त उस काम की बुराई अनुभव होती है। वह चोरी आदि को समस्या का हल नहीं समझता। गोर्की यही कहता है कि जीवन बुरा इसलिए नहीं है कि भगवान् ने ऐसा बनाया है, वरन् बुरा है वह बुरी व्यवस्था के कारण।

'छब्बीस आदमी और एक लड़की' नामक कहानी गोर्की की एक महान् रचना है। छब्बीस आदमी एक ही स्त्री को चाहते हैं। वे सब मजबूर हैं। तहखाने में हैं। सुन्दरी तन्या को चाव से देखते हैं। उसे वे पवित्र मानते हैं। पर वह एक सिपाही के साथ निकल जाती है। उनको दुःख होता है। वे जहाँ रहते हैं, वहाँ धूप नहीं पहुँचती। "हमारे मालिक ने खिड़कियों पर सींखचे ठुकवा दिये थे, ताकि हम भिखारियों या अपने बेकार भूखे मरते साथियों को रोटियाँ न दे दिया करें। हमारा मालिक हमें गुण्डों का गिरोह कहता था—और हमें गोश्त की बजाय गंदा-सा गाय के पेट का भीतरी हिस्सा खाने को देता था।

—"सारे दिन·······सुबह से रात के दस बजे तक, हम या तो आटा गूँधते थे, या आटे में पानी मिलाया करते थे। हम अधिकतर चुप रहते, क्योंकि बोलने को कुछ था नहीं।"

अपने 'बचपन' में गोर्की ने दरिद्रता का जो चित्र खींचा है, वह कभी भूली जाने योग्य वस्तु नहीं है।

गोर्क को डायरी रखने का शौक था। जहाँ कोई शक्ल चुभी,

फौरन उसका हुलिया उसने दर्ज कर लिया।

'माँ' का ब्लासोव एक हट्टा-कट्टा मजदूर है। उसके बारे में पढ़-कर ही लगता है कि वह भयानक है। उसके गाने के शब्द समझ में नहीं आते थे और उसका स्वर जाड़े में रोते भेड़ियों की याद दिलाता था।

'एक आदमी का जन्म हुआ' नामक कहानी में गोर्की की भावना उस समय कितनी गरिमामयी लगती है जब वह वर्णन करता है कि बच्चे को ठण्डे पानी से नहलाया गया है और उसकी माँ के नेत्रों में स्वर्गीय पवित्रता चमकने लगती है—

"रूस की धरती का एक नया निवासी, अज्ञात भविष्य और अज्ञात भाग्य का एक प्राणी मेरे हाथों पर गहरी नींद में सो रहा था।"

गोर्की ने ही सोवियत यथार्थवाद की नींव डाली थी, और उसके समय में ही वह विकसित रूप में सामने भी आया।

प्रकृति-चित्रण में गोर्की ने समुद्र का अत्यन्त सुन्दर वर्णन किया है। जहाँ कहीं समुद्र है वहाँ गोर्की ने उसके अनेक-अनेक रूपों को उपस्थित किया है। समुद्र का हरापन, उसके फेनिल फूत्कार, गह-राई और दूर तक छाये कुहरे में लहरों का अजस्र निनाद—इनके वर्णन में गोर्की ऐसा वातावरण उपस्थित करता है कि चरित्र अपने आप उसमें उभर कर निकल आते हैं।

गोर्की की कला जनता के लिए थी। वह अपने आपके दायरों में बन्द नहीं हो जाती थी।

अपनी 'डेथ एण्ड द मेडन' नामक लम्बी कविता में गोर्की ने एक कुमारी का चित्रण किया है, जो मृत्यु को पराजित कर देती है। इस कविता से मिलती-जुलती हमारे यहाँ सावित्री-सत्यवान् की कथा है। दोनों में अपराजित मानवता प्रेम के बल पर मृत्यु को भी हरा देती है। प्रेम मनुष्य का ऐसा बल है जिसे कोई भी नहीं तोड़ सकता। इस कविता को काश्मीर में कुत्सित समाज शास्त्रियों ने रूमानी कहा था, पर जब उन्हें मालूम हुआ कि स्तालिन ने इस

कविता के लिए लिखा है कि गोर्की ने प्रेम के विषय में गेटे के 'फाउस्ट' को भी पीछे छोड़ दिया है, तो वे डर कर चुप हो रहे। इस कविता में गोर्की ने अपनी कला की व्यापकता दिखायी है। गोर्की ही रूस में आधुनिक कलाकारों में पहला लेखक था जिसने ऐतिहासिक रचनाओं को भी प्रगतिशील माना था—उन ऐतिहासिक रचनाओं को—जिनमें वर्ग संघर्ष चित्रित किया गया हो।

गोर्की ने ही सर्व-प्रथम 'प्रोलेटेरियन आर्ट' (जनता की कला) को प्रस्तुत किया था। यह वह समय था जब रूस में ट्राट्स्की वर्ग-हीन समाज के साहित्य का नारा लगा रहा था। उसका कहना था कि सामन्तवादी और पूँजीवाद साहित्य तो नष्टप्राय ही है, किंतु अब, जबकि हम एक वर्ग-हीन समाज बनाने जा रहे हैं, बीच में मजदूर-किसानों का साहित्य अर्थात् सर्वहारा-साहित्य, क्यों रचा जाए, जो अन्ततोगत्वा नश्वर सिद्ध होगा। ट्राट्स्की यह कह कर न केवल इतिहास के दौर को भूल रहा था, वरन् वह समस्त सांस्कृतिक विरासत को भी ठोकर मार रहा था। गोर्की और लेनिन इस भावना के गहरे विरोधी थे। गोर्की ने जहाँ एक ओर पूँजीवादी, साम्राज्यवादी ताकतों की जड़ों पर चोट की, वहाँ क्रान्ति के इन भीतरी शत्रुओं पर भी प्रहार किया, जो क्रान्ति की ऊँची-ऊँची बातें करते थे और जर्मनी से भी संधि करने को तैयार रहते थे।

गोर्की ने अमेरिका के असाम्य को मुखर होकर प्रकट किया है। वह मशीन की जिन्दगी, जिसने इंसान को गरीब और मशीन का पुर्जा बना दिया है, उसकी आँख से छिपी नहीं।

गोर्की ने फासिज्म के उठते हुए तूफान की पहले ही से आगाही कर दी थी। दुर्भाग्य से गोर्की उसके पतन को देख न सका। बुढ़ापे और ट्राटस्कीवादियों के हमलों ने उसे मार डाला। परन्तु हमने फासिज्म को खंड-खंड होकर गिरते सुना, देखा। गोर्की ने

स्पष्ट ही कहा था कि पूँजीवादी देशों में अमेरिका ही सबसे सबल है। और वह यह भी कह गया कि—

"प्रत्येक वस्तु, लोहा, पानी, पत्थर, लकड़ी—सब उस जीवन के विरुद्ध विद्रोह कर रहे हैं, जिसमें न सूर्य का प्रकाश है, न गीत है, न हर्ष है, है केवल शक्ति नाशक श्रम। बंदित्व है।

"यह एक शहर है। यह न्यूयार्क है—दूर से देखने को शहर। एक विशाल जबड़े-सा लगता है, जिसमें अनगढ़ काले दाँत हैं। यह आकाश में काले धुएँ के बादलों की साँसें छोड़ता है और मोटापे से परेशान एक खाऊ आदमी की तरह हाँपता है।

"नगर में घुसना एक पत्थर और लोहे के पेट में घुसने के समान है—एक पेट जिसने लाखों आदमियों को निगल लिया है और उन्हें हजम कर रहा है, पचा रहा है।

"सड़क एक फिसलनदार, लालची गला है, जिसकी गहराई में शहर के भोजन के काले टुकड़े—जिन्दे आदमी—तैर रहे हैं।"

"हर जगह, ऊपर, नीचे, बगल में, लोहा गूँजता है, अपनी विजय पर अहंकार करता है। यह सोने की ताकत से हौसला बढ़ाकर, जिन्दगी के लिए जागे हुए आदमी के चारों तरफ ताना-बाना बुनता है, उसको घोंटने लगता है, उसका खून और दिमाग चूस जाता है, उसकी नसें और पेशियाँ चबा जाता है। और नगर बढ़ता जाता है, बढ़ता जाता है, शब्द-हीन पाषाण पर निर्भर-सा, अपना प्रसार बढ़ाता हुआ अपनी गुलामी की जंजीर को फैलाता चला जाता है।"

गोर्की ने दिखाया कि पूँजीवाद में व्यक्ति केवल धन के लिए धन कमाता है। उसका न कोई सामाजिक उद्देश्य होता है, न सांस्कृतिक ध्येय। पूँजीवाद न पुरुष को स्वतन्त्रता देता है, न स्त्री को। उसी की व्यवस्था में स्त्री वेश्या बनती है और मर्द भूखा और बेकार तथा भिखारी।

उसने जे० रिचार्ड जूल्स क्लेर्ती और रेनीविवियानी नामक

फ्रांसीसी लेखकों को कड़ा उत्तर दिया कि आप यदि मेरी कैद के वक्त मेरे साथ थे, तो इस समय आप उस समाज के हामी हैं, जो अन्याय और बराबरी के विरोध में खड़ा है। आपका प्रेम बुर्जुआ प्रेम है, मेरा प्रेम जनता से है।

गोर्की ने कभी कोई ऐसा समझौता नहीं किया, जो उसे जनता के विरोध में रखता। गोर्की नवयुग का नेता था और उसके पास अपनी विजयिनी विचार-धारा को प्रस्तुत करने वाले ज्वलन्त शब्द थे।

गोर्की ने मजदूर-वर्ग का जितना सफल चित्रण किया है, उतना किसान-वर्ग का नहीं। इसका कारण था। गोर्की के समय में राजनैतिक नेतृत्व मजदूर-वर्ग के हाथ में था। गोर्की के बाद मिखाइल शोलेखाफ में, जब पुनर्निर्माण का युग आया, किसान की ओर भी लेखक की दृष्टि गयी। शोलोखोफ की वर्णन भूमि किसान है।

गोर्की से पहले तालस्ताय ने किसान और सामन्त का चित्रण किया है। गोर्की उस समय हुआ, जब क्रान्ति होने वाली थी और उसका नेतृत्व रूस में मजदूर-वर्ग कर रहा था।

चीनी क्रान्ति के समय परिस्थिति में परिवर्तन हो गया था। चीन में क्रान्ति केवल मजदूर ने नहीं की, उसमें किसानों का भी भारी हाथ रहा। इसलिए किसानों को साहित्य में अधिक स्थान मिला।

प्रेमचन्द ने किसान-समस्या को ही विशेष आधार बनाया था। उनके साहित्य में मजदूर-वर्ग का कोई उल्लेखनीय चित्रण नहीं है। प्रेमचन्द में तालस्ताय का सा एक भयवाद अन्त तक बना रहा। यह भय संस्कारों पर आधारित था। प्रेमचन्द ने खुलकर क्रान्ति करने की कहीं भी घोषणा नहीं की। वास्तव में यह युग के बन्धन थे। गोर्की भी अपनी परिस्थितियों से प्रभावित हुआ था और युग के बन्धन उस पर भी मौजूद थे।

गोर्की के साहित्य में उस वर्ग का बड़ा अच्छा चित्रण हुआ है,

जो नितान्त घर-बार-हीन था पर जिसे अपने मनुष्यत्व-मात्र में अकेला विश्वास बच रहा था, पर जिसके सहारे वह दुःख झेलता है और क्रान्ति के लिए कन्धे से कन्धा भिड़ाकर आगे बढ़ता है, उसकी निर्भय गति थी।

क्रान्ति के फूटने से पहले उसने लिखा था—

"चाँदी-से चमकते समुद्र की सतह पर हवा के झोंके तूफान के बादलों को इकट्ठा कर रहे हैं और बादलों और समुद्र के बीच में तूफानी पक्षी गर्व से मँड़रा रहे हैं, जैसे काले अन्धकार में बिजली चमक रही हो।

"लहरों को उसके पंखों ने दुलराया, फिर वह तीर की तरह उठा, बादलों को फाड़ कर भयानकता से चिल्लाता हुआ बढ़ा कि बादलों में पक्षी की साहसिक पुकार से दरार पड़ गयी।

"उस पुकार में तूफ़ान का आह्वान है। उसका आवेश, उसका क्रोध और विजय के प्रति हठ तथा विश्वास उस पुकार में गूँज रहे हैं।"

"जल-पक्षी डर कर कराह रहे हैं, पानी पर इधर-उधर भटकते हैं और वे स्याही-सी सागर की गहराइयों में छिप जाने को सहर्ष तैयार हैं।"

गोर्की ने इस रचना का अन्त तूफान की गड़गड़ाहट, कौंधती-कड़कती बिजलियों और फूफकार-करती लहरों का चित्रण करते हुए इस प्रकार किया है—

"जल-प्रसार गरज रहा है, बिजली कड़क कर गिर रही है....

"तीक्ष्ण बिजली तूफानी बादलों में विराट् समुद्र पर कौंध रही है और ज्वालाओं के छिटकते तीर पानी में बन्दी बनाए जाते हैं और वे बुझ जाते हैं। उनकी साँप-सी परछाँई हाँपती है। यातना भरी-सी गहराई में लय हो जाती है।

"तूफान ! तूफान शीघ्र टूटने वाला है !

"फिर भी वीर पक्षी-तूफानी पक्षी गर्व से, वज्रनाद, कड़कती

बिजली और दहाड़ते समुद्र पर मँडरा रहा है। और उसकी पुकार, विजय की भविष्य-वाणी बन कर पैगम्बर के इलहाम-सी ललकार कर गूँज रही है—

"टूटने दो। उसे पूरी शक्ति से टूटने दो।"

ऐसी अमर कृतियों ने जारशाही को थर्रा दिया था। दमन के लौह-फलक गोर्की को दबा नहीं सके। इसी गोर्की को रूस के ट्राटस्कीवादियों ने समाप्त करने की चेष्टा की थी। उन्होंने उसे आवारा कहा। कहा कि वह क्रान्ति के साथ एकस्वरता स्थापित नहीं कर सका। स्तालिन जागरूक था। उसने गोर्की की रक्षा की। उसने उन कुत्सित समाज-शास्त्रियों का भण्डाफोड़ किया और उन्हें दण्ड दिया।

गोर्की की कला का, जिसने बुद्धिवाद के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाया और व्यापकता पैदा की, रूस के निर्माण में एक बहुत बड़ा हाथ है।

गोर्की की कला यह सन्देश देती है कि कला का मूल बुद्धि का वैज्ञानिक दृष्टिकोण है, यही जीवन का सर्वश्रेष्ठ आधार है, उसकी कला के पीछे एक गम्भीर चिंतन है। उसका ध्येय है समाज को शोषणहीन और श्रेष्ठ बनाना, जहाँ मनुष्य को विकास के लिए पूर्ण स्वतन्त्रता मिल सके, जहाँ उसका स्वातन्त्र्य व्यक्तिगत नहीं, सामाजिक हो।

हमें भी उस विकृत चिन्तन को हिन्दी से उखाड़ देना है जो कुत्सित समाजशास्त्र का प्रतीक है और जिसने गोर्की जैसे महान क्रान्तिकारी लेखक को भी कलंकित करने में कोई आगा-पीछा नहीं किया। हिन्दी के प्रसिद्ध और यशस्वी मार्क्सवादी आलोचक डा० रामविलास शर्मा ने अपनी 'प्रेमचन्द'‡ नामक पुस्तक की भूमिका में पृष्ठ ३ पर गोर्की के विषय में लिखा है—"गोर्की में आवारापन अधिक था और वर्ग-संघर्ष की उसे पूरी पूरी जानकारी न थी। उसने अपनी डायरी में अपनी आवारा प्रवृत्तियों का मार्मिक वर्णन किया

‡ प्रथम संस्करण

है। अपनी रोमांस-प्रिय वृत्ति के कारण वह क्रान्ति के पश्चात् भी क्रान्ति के पूर्व के ही पुराने चित्र बनाता रहा।"

वर्ग-संघर्ष की पूरी जानकारी रखने वाले, जनता के प्रतीक, आवारा प्रवृत्तियों के मार्मिक वर्णन से विचलित होने वाले डा० शर्मा के इस विवेचन को देख कर हिन्दी के लेखकों को, गोर्की की कला का कितना अधिक मूल्य है, यह बताने की अब आवश्यकता नहीं रह जाती।

रोमान्स के अनन्तर हम यौनवाद की विवेचना करते हैं। हिंदी में यौनवाद फ्रायडवादियों द्वारा लाया गया है। फ्रायड के मतानुसार सेक्स के कारण ही मनुष्य सब कुछ करता है। किन्तु यह आंशिक सत्य है। मनुष्य के जीवन में सेक्स का स्थान है और उसका प्रभाव भी पड़ता है। किन्तु सेक्स ही जीवन में सब कुछ नहीं है। सेक्स आदमी या औरत को तब सूझता है जब पहले उसका पेट भरा हो। भूखा मनुष्य प्रेम की उलझनों में नहीं फँसता। यह हम बंगाल के अकाल में देख चुके हैं कि यौनसमस्या और प्रेम तो क्या, समस्त मानवीय मूल्य रोटी से नियन्त्रित होते हैं। अतः जीवन में सेक्स ही सब कुछ नहीं है। मनुष्य की प्रकृति है कि वह प्रेम करे। किन्तु मनुष्य के प्रेम के रूप विभिन्न युगों की सामाजिक और आर्थिक व्यवस्थाओं से निर्धारित होते रहे हैं। सैफ़ो के गीतों में हमें स्त्री की कामातुर अभिव्यक्तियां मिलती हैं। वह युग मुखरता का था। अब महादेवी के गीतों में सेक्स अप्रत्यक्ष रूप से मिलता है।

प्रेम करने के तरीके, आदर्श, सब ही समाज व्यवस्था से बनते हैं। जो एक युग में रहता है, वह दूसरे युग में नहीं रहता। ज्यूले-रोम्यां की भांति जो कलाकार स्त्री पुरुष के संभोग की विचित्रताएँ प्रकट कर के समझते हैं कि वे शाश्वत सत्यों के बारे में लिख रहे हैं, वे यह भूल जाते हैं कि वे जीवन के एक सत्य को इतना अति-

रंजित कर रहे हैं कि बाकी सब पर उसे ही लाद देना ठीक समझते हैं।

संसार की महान साहित्यिक रचनाएं प्रेम को अपने से निकाल नहीं देतीं, उनमें प्रेम का यथोचित स्थान है।

वीर गाथाओं का प्रेम भाव और संभोग वर्णन, आज यह बताता है कि स्त्री तब अपहरण की वस्तु थी। रीतिकालीन नायिका भेद और प्रेम बताता है कि स्त्री तब उन राजदरबारों की विलास दृष्टि में उपभोग का उपकरण मात्र थी। आधुनिक काल के सेक्स लेखकों के वे चित्रण जो केवल काम की भूख को उत्तेजित करते हैं, और फिर उसकी प्रशंसा करते हैं कि यह यथार्थ है, वे काम को ही जीवन का सर्वस्व मानते हैं। यदि वे लोग केवल कामातुरता में मग्न रहते और जीवन में कोई काम नहीं करते तो हम उनकी बात मान सकते थे कि काम ही जीवन है। काम और प्रेम जीवन के अङ्ग हैं, पर पूर्ण जीवन नहीं हैं।

अमेरिकन पद्धति पर जो अधनंगी औरतों की तस्वीरें निकलती हैं, वासना को उत्तेजित करने वाला, साहित्य लिखा जाता है, वह मनुष्य को जीवन की अन्य वास्तविकताओं से हटा देना चाहता है। उस सब में पुरुष स्त्री को वेश्या का सा दर्जा देकर उपभोग की वस्तु बनाता है। उसमें स्त्री को समानता का दर्जा नहीं दिया जाता। इस प्रवृत्ति का वाह्यरूप यह है कि अमरीका में यौनरोग सब से अधिक हैं और बढ़ते चले जा रहे हैं। जिस प्रकार कोई व्यक्ति सदैव ही कामुकता में डूबा रहने पर शीघ्र नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार वह साहित्य भी जो केवल कामुकता को ही चित्रित करता है गति-रुद्ध हो जाता है और नाशवान होता है।

यथार्थ के नाम पर जो मोटे मोटे अक्षरों में संभोगों का आद्योपांत वर्णन करते हैं और उसे जीवन का एकमात्र सत्य समझते हैं वे भी अपने जीवन में ऐसे काम चौराहों पर नहीं करते। बन्द कमरों के काम को साहित्य के खुले कमरों में कहना कुरुचि का

प्रतीक है, सुरुचि का नहीं। जिस प्रकार मनुष्य अपने यौन संबंधों को अपने समाज की मर्यादानुसार निबाहता है, और कहता सुनता है, उसे वैसा ही करना चाहिये। किंतु यौन सम्बन्ध का अर्थ यहाँ स्त्री पुरुष का सामाजिक संबंध अर्थात् विवाह पद्धति इत्यादि से नहीं लगाना चाहिये।

फ्रायड के अनुसार मनुष्य का उपचेतन सदैव कामभाव में लगा रहता है। यह कोई नहीं कहता है कि फ्रायड के पास आने वाले मरीज़ मध्यवर्गीय या उच्चवर्गीय ही थे, जिनके समाज को पूँजीवादी व्यवस्था की विकृतियों ने ग्रस रखा था। उस समाज में स्त्री-पुरुष पर बड़े बंधन थे, स्त्री दासी का नयारूप थी, या वेश्या थी, पुरुष उसका शोषक था और जब वह दरिद्र होता तो उसे स्त्री नहीं मिलती थी। ऐसे समाज का अध्ययन फ्रायड को उसके निष्कर्षों की ओर ले गया था। अतः उसमें आश्चर्य नहीं करना चाहिये। जिस समाज में स्त्री पुरुष समान हैं, जहाँ परस्पर विवाह में कोई जाति-वर्ग आदि के बंधन नहीं हैं, वहाँ कामभाव सदैव नहीं रह सकता। वह सहज और स्वाभाविक बन कर रहता है।

केवल कामभाव को ही शाश्वत मानने वाले व्यक्तियों को देखना चाहिये कि यदि बाल्मीकि का महाकाव्य प्रारम्भ से अन्त तक कामभाव का ही वर्णन होता तो क्या वह इतना महान होता? स्त्री और पुरुष का संभोग विषय स्वास्थ्य शास्त्र और विज्ञान की पुस्तकों का विषय है, उस पर प्राचीनकाल से अब तक शास्त्र लिखे जाते हैं, और जैसे भोजन बनाने की विधियों को पाकशास्त्र में बताया गया है, वैसे ही उन सब विषयों का वर्णन भी किया जाता है। साहित्य में केवल उसी को भर देना रतिशास्त्र और साहित्य में भेद नहीं करने के बराबर है। मेघदूत में रति वर्णन है, परन्तु वह वर्णन विरह से अनुप्राणित है। उस समय आज की तुलना में यौन संबंधों पर इतनी रोक नहीं थी। यद्यपि स्त्री समाज के अन्दर पुरुष के उपभोग की वस्तु समझी जाती थी और समाज में पुरुष पराई

स्त्रियों से बहुधा संबंध जोड़ते थे, परन्तु कालिदास ने एक प्रेम विह्वला एक पतिव्रता स्त्री का वर्णन किया है। उसने प्रेम का केवल भावनात्मक चित्रण नहीं किया, वरन् स्त्री पुरुष के संबंधों की भी वर्णना की है। परन्तु यह उस युग की अपनी बात थी। हिंदी के रीतिकालीन साहित्य में इसी प्रकार स्थूल वर्णन करने की नक़ल चली किन्तु उसमें वह जीवन नहीं आया।

यौन संबन्धों पर काव्य और साहित्य वहीं तक उचित है जितना हमारे जीवन को सरस बनाये रखता है, किन्तु जब हम और किसी ओर भी नहीं देखते, तब वह यौन वर्णन हमारे जीवन का नाश करता है।

जो भूख, और वर्ग संघर्ष तथा मानव की उन्नति के प्रयत्न, शोषकों के अत्याचार नहीं देखता, और प्रेम के वाह्य रूप में ही डूबा रहता है, वह जीवन का सर्वांगीण चित्रण नहीं करता, और इसलिए प्रगतिशील साहित्य ऐसे साहित्य को स्वस्थ नहीं कहता, क्योंकि वह स्वस्थ भोजन नहीं, अफीम की भांति मनुष्य की प्रगति को रोकने के लिये, नशे में सुला देना चाहता है।

३—प्रगति और कुत्सित समाजशास्त्र

युद्धोत्तरकाल में प्रगतिशील आलोचकों में परस्पर आलोचना हुई थी। यह सैद्धान्तिक विषयों पर उठी थी। इसे व्यक्तिगत कहना उचित नहीं है क्योंकि साहित्य के सम्बन्ध में विभिन्न मत प्रगट किये गये थे।

डा० रामविलास शर्मा ने जो लिखा था उसे प्रगतिशील लेखक संघ के लेखक पहले प्रमाण मानते रहे। अब भी बहुत से मानते हैं।

यहाँ हम उनकी आलोचना पद्धति की असंगतियाँ दिखाते हैं। यह डाक्टर साहब के व्यक्तिगत सम्बन्धों की आलोचना नहीं है। उनके राजनीतिक और सामाजिक जीवन तथा साहित्यिक कृतियों का विवेचन है।

उनकी विवेचन पद्धति में राजनीति का बहुत स्थान है और हमने दिखाया है कि उनके आलोचना सम्बन्धी विचार दुर्भाग्य से मार्क्सवाद पर आधारित नहीं हैं। यह आलोचना केवल डाक्टर साहब से सम्बन्ध नहीं रखती, हमने अनेक सैद्धान्तिक प्रश्नों को भी साथ में लिया है।

यह विवेचन पार्टीवाद के भीतर संकुचित नहीं हो जाता, वरन् इसका जनता से सम्बन्ध है क्योंकि जो उन्होंने लिखा है, छपकर वह जनता की सम्पत्ति हो गया है। उनकी राजनीति पर हमने इसीलिये विशद विवेचन किया है कि वे उसी को अपना आधार मानते हैं।

हंस, मई १६५१ में डा० रामविलास शर्मा का 'साहित्य में संयुक्त मोर्चे की समस्याएं" नामक लेख प्रकाशित हुआ है। इसमें एक ओर

उनके अहं का विस्फोट है तो दूसरी ओर उनके निम्न मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी की अवसरवादिता। साहित्य में उग्रवाम पन्थी दौर ने जो जनशक्ति को खंडित किया है उसका व्यापक प्रभाव रहा है और अब श्री अमृतराय, श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त आदि अपनी गलतियों का अनुभव करते हैं। डा० रामविलास शर्मा का रुख कुछ और है। उनकी राय में उन्होंने कोई गलती नहीं की है, वे कल भी सच्चे मार्क्सवादी क्रान्तकारी थे, आज भी सब से अधिक हैं। इस पर डा० शर्मा के विषय में उनका रूस और चेकोस्लोवेकिया जाने का प्रचार बहुत से लोगों को चौंधिया रहा है। रूस जाना मार्क्सवादी होने की कोई कसौटी नहीं है।

कालिनिन ने आल यूनियन लेनिनिस्ट यन्ग कम्युनिस्ट लीग की सातवीं कांग्रेस में अपने एक भाषण में कहा था कि कुछ पुस्तकें पढ़ लेने से ही राजनीति नहीं आ जाती। पहली मुलाकात में उस तरह के शिक्षित आदमी का अच्छा प्रभाव पड़ता है, पर कुछ घण्टे साथ बिताने पर प्रगट हो जाता है कि उस व्यक्ति का राजनैतिक ज्ञान निराधार होता है।

मार्क्सवाद को कितने ही बुद्धि-जीवियों ने विकृति किया है। ऐसों में ही त्रात्स्की भी था। स्तालिन रूसी क्रान्ति की बात करता था, त्रात्स्की विश्वक्रान्ति की। विश्वक्रान्ति की बात बड़ी दिलचस्प है। ऐसी ही दिलचस्प बातें डाक्टर शर्मा भी करते हैं। उनका आधार एक टेढ़ी सतह है, उस पर वे मीनार बनाते हैं। परन्तु जिसका आधार टेढ़ा है, उसके ऊपर की बनावट को सीधा कैसे स्वीकार किया जा सकता है ?

डा० शर्मा का उग्रवाम पंथी विचारधारा को फैलाने में गहरा हाथ रहा है—आज वे एक ऐसा तरीका निकालना चाहते है कि लफ्फाजी में घुसकर वे नये हालात में भी घुस आयें और अपने कल तक के कारनामों को झुठा दें।

डाक्टर साहब की राजनीति का रूप वही रहा है जो कम्यु-

निस्ट पार्टी की राजनीति का रहा है। क्या वे इसे अस्वीकार कर सकते हैं? व्यक्ति अपने बारे में जो कहता है, वही उसको समझने के लिए काफी नहीं है। उसके सारे काम को देखना पड़ेगा।

डाक्टर शर्मा की राजनीति का रूप यह रहा है—

१—अगस्त १६४७ तथा कुछ मास बाद भी उनका विचार रहा है कि भारत स्वतन्त्र हो गया है, नव निर्माण की बात चलनी चाहिए।

२—फरवरी १६४८ के बाद उनका विचार बदला। यहां उनकी राय में भारत में मजदूर और पूंजी का संघर्ष रह गया। पूँजीवाद ने सामन्तों और अंग्रेज अमरीकी साम्राज्यवाद के सामने घुटने टेक दिये। नेहरू इसका केन्द्र हो गया। अतः नेहरू मुर्दाबाद कहना ठीक हो गया।

३—फिर जब पूँजीवादी सत्ता है, और बर्मा, मलाया, स्याम में और चीन में सशस्त्र क्रान्ति हो रही है, तो भारत में तिलंगाना जिन्दाबाद, कलकत्ते की बमबाजी जिन्दाबाद।

४—जब उग्र वामपक्ष का विरोध होने लगा और गलतियां झलकने लगी तो डा० शर्मा ने रवैया बदला। कहा:—मैं तो सामंतवाद, पूंजीवाद, और साम्राज्यवाद विरोधी हूँ।

५—अन्तिम उसका रूप है कि भारत में समाजवादी क्रांति का दौर नहीं है, वे कभी सशस्त्र क्रान्ति के पक्षपाती नहीं थे। वे तो अब सामंतवाद-साम्राज्यवाद और बड़े पूंजीपतियों के विरोधी हैं। अतः संयुक्त मोर्चे के नेता हैं। भारत में रूस की नहीं, चीन की परिस्थिति है। अतः जो चीन की नकल नहीं करता वह त्रात्स्कीवादी है। जो डा० शर्मा की बात के विरोधी हैं वे कम्युनिस्ट पार्टी के शत्रु हैं, और डा० शर्मा के व्यक्तिगत शत्रु हैं।

ऊपर उनके चिन्तन का ढांचा है। इस लेख में हम उनकी राजनीति की जांच करेंगे। डा० शर्मा ने जो कुछ लिखा है तीन भागों में उसको विभाजित कर सकते हैं:—

१—डाक्टर और राजनीति।

२—डाक्टर और संस्कृति (प्राचीन, मध्यकालीन)।

३—डाक्टर और समसामयिक लेखक।

यहाँ नम्बर एक की जाँच आवश्यक है, क्योंकि उनके चिंतन का मूल यहीं हैं। पूंजीवाद, सामंतवाद, साम्राज्यवाद तीन बातें ऐसी हैं जिनकी दुहाई देकर कोई भी प्रगतिशील बनना चाहता है। डाक्टर साहब अब पूंजीवाद नहीं कहते। बड़ा पूंजीवाद कहते हैं। यह चीन का प्रभाव है। इसलिए पूंजीवाद की भारत में क्या परिस्थिति है उस पर उनकी दृष्टि नहीं है। इस जांच के पहले एक बात साफ करनी ठीक होगी कि डाक्टर शर्मा का चिन्तन मार्क्सवादी नहीं है, क्योंकि उसमें आलोचनात्मक तत्त्व नहीं हैं, उसमें कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व के प्रति भाटों का सा रुख है, जो जब ताकत में आया तब उसके गुण गाने लगे।

देखिये :—

डा० शर्मा ने बड़े पूंजीवादियों का विरोध किया है। वे कौन हैं, यह नहीं बताया। उन्होंने अपने हंस के लेख में राष्ट्रीय पूंजीवाद की न कोई सत्ता मानी है, न उसकी व्याख्या की है, न उसकी स्थिति को स्पष्ट किया है। त्रात्स्कीवाद मार्क्सवाद को विकृत करना है, वस्तु स्थिति और देश काल को नहीं देखना है।

राष्ट्रीय पूंजीवाद जो संयुक्त मोर्चे की प्रारम्भिक अवस्था में हमारे मोर्चे में आ सकता है उसे भी वे शत्रु की पाली में रखते हैं।

चीन की नकल में वे छोटा पूंजीपति बड़ा पूंजीपति कहते हैं। स्पष्ट इसे भी नहीं करते। राष्ट्रीय पूंजीवाद विदेशी पूंजी के माल बेचने वाले पूंजीवाद-कम्प्रेडोर से अलग है। चीन के बड़े पूँजीवादी अधिकांश कम्प्रेडोर थे, जब कि हमारे यहाँ कई औद्योगिक हैं और इस प्रकार राष्ट्रीय हैं, विदेशी खपत और माल बेचना ही उनका काम नहीं है। अपने वर्ग-स्वार्थ के कारण विदेशी साम्राज्यवाद के विरुद्ध हमारे साथ आरम्भिक अवस्था में वह राष्ट्रीय पूँजीवाद आ

सकता है। उसे एक दम एक पूँजीवाद कहने से वह साथ नहीं आयेगा, और हम अपने मोर्चे का एक दोस्त खो देंगे। यह त्रात्स्की वाद नहीं तो क्या है ? चीन में पीपुल्स डिमोक्रैटिक फ्रंट बना था। भारत में हम वही बनाना चाहते हैं, पर यहाँ एक फर्क है। चीन में बड़ा पूंजीवाद एक वर्ग के तौर पर उस मोर्चे के बाहर रखा गया है। हमारे यहां यूनाइटेड नेशनल फ्रंट बन रहा है, या बनाया जा रह है, उसमें विदेशी पूंजी और सामन्तवाद तथा साम्राज्यवाद से लड़ने के लिये औद्योगिक स्वार्थ के कारण वह बड़े पूंजीपति भी आ सकते हैं जिनके स्वार्थ विदेशी पूंजीपति और कम्प्रेडोर पूंजीपतियों के स्वार्थों से टकराते हैं। डा० साहब यदि चीन को हूबहू भारत पर लागू न करते तो उनके सामने यह स्पष्ट होता। वे यह नहीं बताते कि आज एक ओर बड़ा पूंजीवाद भारत में सामंतवाद को दबा रहा है, साम्राज्यबाद में अन्तर्विरोधों के कारण मिल नहीं रहा है, पर उसका कम्प्रेडोर हिस्सा उससे समझौते कर रहा है। इसलिये भारतीय पूंजीवाद का औद्योगिक हिस्सा, दबा हुआ जो है, विदेशी साम्राज्यवाद से 'मोलभाव' कर के अपने स्वार्थ साधना चाहता है।

संकुचित मनोवृत्ति के कारण ही आज कोई इस राष्ट्रीय पूंजी-वर्ग को शत्रु के साथ समझ सकता है, जब कि देश काल की परि-स्थितियों को देखते हुए हमारा संघर्ष प्राथमिक अवस्था में सामंत-वाद, विदेशी पूंजीवाद, साम्राज्यवाद और उस भारतीय पूंजीवाद के विरुद्ध है जो निर्विवाद रूप से या छद्म रूप से कम्प्रेडोर है।

डाक्टर साहब की नजर में पहले जो क्रान्ति यहाँ रूस की नकल पर हो रही थी, अब चीन की भाँति होनी चाहिए। इसलिए कांग्रेस के विषय में कुछ भी स्पष्ट नहीं कर सके हैं। कहते हैं:— 'कांग्रेस का प्रतिक्रियावादी गुट'। कांग्रेस में कोई सोशलिस्ट या कम्युनिस्ट ग्रुप उन्होंने खोज निकाला है तो कृपया सूचित करें हम उनका आभार स्वीकार करेंगे। वे एक दम ही सब को गद्दार कह

उठते हैं। भारत सरकार में शान्ति के प्रति जो सहानुभूति हम अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में देखते हैं उसके प्रति उनका रवैया साफ नहीं है।

वे कहते हैं:—इतिहास ही ने मजदूर वर्ग को जन्म देकर उस पर यह जिम्मेदारी डाली है... ....स्वाधीनता आन्दोलन का दृढ़ता से अन्त तक नेतृत्व करे।

केवल मजदूर वर्ग के पूर्ण नेतृत्व को इस समय स्वीकृत करना संकीर्णतावाद का परिचय देता है। बदली हुई परिस्थिति में मजदूर किसान संयुक्त मोर्चा ही कहना ठीक है।

आप कहते हैं:--संयुक्त मोर्चे के ढुलमुल या अस्थायी सहायकों मध्यम पूंजीपतियों की विचारधारा और संस्कृति का विरोध करना भी संयुक्त मोर्चे के लेखकों का फर्ज है।

इस वाक्य में भी वही संकीर्णतावाद है। शत्रु मित्र की परख नहीं है, पूंजीवाद एक वर्ग के रूप में चीन की भांति यहां अलग हटा दिया गया है। विश्व पूंजीवाद को वे एक समझते है, उसके अन्तर्विरोध उनकी दृष्टि में नहीं हैं। इसलिए औद्योगिक पूंजीवाद जो कम्पिटीशन में साम्राज्यवाद से दबा है, उसको नजर से हटा कर वे त्रात्स्की की भांति 'विश्व पूँजीवाद' का नारा लगाते हैं। इसी मनोवृत्ति के कारण वे कहते हैं: इसलिए साहित्य के संयुक्त मोर्चे में जिन लोगों की संस्कृति को बर्दाश्त करने और विचार धारा को धीरे धीरे सुधारने का सवाल उठता है वे मध्यवर्ग, दस्तकार, कारीगर, धनी किसान मध्यम किसान वगैरह हैं।

तनिक इस ऊपर प्रयुक्त 'बर्दाश्त' शब्द को देखिए। आज भी उनकी नजर में 'संयुक्त मोर्चा बनाना है' इसकी अहमियत सब से ज्यादा नहीं है। मोर्चे रूपी शेर की खाल के नीचे कैसा संकीर्णतावादी गधा खड़ा है। स्वर छिपाता है, पर छिप नहीं पाता। इस प्रकार प्रतीत होता है कि हमारा संयुक्त मोर्चा वस्तुस्थिति और परिवर्तित परिस्थितियों का परिणाम नहीं है, वरन् वह एक चालबाज है, दूसरों को धोखा देकर स्तैमाल करना है। यह नहीं सोचा गया

कि संयुक्त मोर्चा में जो आता है उसका अपना भी एक वर्ग स्वार्थ है। इस उल्टे तरीके से जो वे सोचते हैं उसका आधार है कि वे एक दम मजदूर क्रान्ति के सपने देखते हैं, गोया जल्दी-जल्दी बाकी सब का सफाया करना है। इस तरह लोगों को अपने साथ लेने के बजाय वे उन्हें अपना शत्रु बनाते हैं। बीच की मंजिलों पर ध्यान न देना, उन्हें एक चालाक तरकीब समझना, राजनीति और आर्थिक परिस्थितियों से उत्पन्न हालातों को टालना फूट की बात पर जोर देते रहना यदि त्रात्स्कीवाद नहीं है तो क्या है ?

हाँ डा० शर्मा कहते हैं:—चीन में जिन दिनों जापान विरोधी स्वाधीनता संग्राम चल रहा था, उन दिनों बहुत से पूंजीपति और जमींदार राजनीतिक संयुक्त मोर्चे में शामिल थे।

माओत्से तुंग की हिदायत थी कि उनका साहित्य और बाकी जनता का साहित्य अलग-अलग है। हमें न जमींदारों और पूंजीपतियों से सहयोग करना चाहिए जो अभी जापानियों का विरोध कर रहे हैं, लेकिन यह ध्यान में रखते हुए कि वे आम जनता के लिए जनतन्त्र का विरोध कर रहे हैं।

यहाँ यह न भूलना चाहिए कि माओत्सेतुंग के भाषण के समय जनआन्दोलन इतना सशक्त था कि चीन में कई भाग कम्युनिस्टों के अधिकार में थे। चीन में कम्युनिस्ट तथा गैर-कम्युनिस्ट अधिकृत भागों की परिस्थितियों का जो भेद था, क्या वह यहां हिन्दुस्तान में है ? चीन का बड़ा पूँजीवादी वर्ग मुख्यतः विदेशी पूंजी का एजेन्ट था। हमारे बड़े पूँजीवाद ने सामन्तवाद से समझौता किया है, पर विरोध भी किया है, जिसका ऐतिहासिक दौर अभी समाप्त नहीं हुआ है, वह तभी होगा जब संयुक्त मोर्चा सशक्त होकर सामंतीय व्यवस्था को बिलकुल पूरी तरह उखाड़ेगा। इसलिए माओत्सेतुंग के येनान वाले भाषण को हूबहू भारत की परिस्थिति पर लागू करना वस्तुस्थिति से इन्कार कर के विश्वक्रांतिवाद को मानना है।

स्पष्ट है कि चीन का बड़ा पूँजीवाद अधिकांश कम्प्रेडोर किस्म

का होने के कारण वहाँ के सामन्तवाद के सामने जितनी जल्दी समर्पण करता था, उतना भारत नहीं। भारत का बड़ा पूँजीवाद कल तक राष्ट्रीय संघर्ष में रहा है। और अब भी वह सामंतवाद को झुकाता रहा है क्योंकि इसमें इसका वर्ग हित है। किसान उसका माल अधिक खरीद सकता है उसका बाजार बढ़ता है; आज किसान के पास कहीं-कहीं पैसा कुछ पहले से ज्यादा है। यहाँ रियासतों में भूमिहीन किसान हैं; वे सस्ते मजदूर बनकर मिल सकते हैं। सामंतवादी ही भारत में साम्राज्यवाद के पक्के मित्र हैं। उनकी इस मित्रता को जब पूँजीवाद तोड़ता है तभी रियासतों पर उसे अंकुश लगाने की जरूरत पड़ती है। वह किसी सामन्त को साम्राज्यवाद से सीधा ताल्लुक रखने की आजादी नहीं देता। डा० रामविलास शर्मा का चिन्तन उल्टी बात कहता है कि बड़े पूँजीवाद ने एक वर्ग रूप में सामन्तवाद के सामने घुटने टेक दिये। यहाँ आम जनता को उस सीधीसादी बोली में कहूँ जो संशय नहीं रखती—सरदार पटेल ने रियासतों के सामने घुटने टेके थे कि रियासतों ने सरदार के सामने? ठाकुर की जगह रियासतों में बनिया ताकत में आ गया है।

क्या इस महान सत्य को झुठाया जा सकता है? भारत और चीन में महान अन्तर है। येनान वाला भाषण जब माओ त्से तुङ्ग ने दिया था तब चीन में कम्युनिस्ट पार्टी बहुत सशक्त थी, वह एक सशक्त समानन्तर सरकार बनाकर चुकी थी जिसके पास सशक्त सेना भी थी एक ऐसी सरकार जो जनशक्ति का प्रतीक थी। हमारे यहाँ वह परिस्थिति अभी कहाँ है?

अति उग्र-वाम-पक्षी भावना ने जब बहुत जोर पकड़ा था तब तब भारत में वैसी ही परिस्थिति तैयार करने से पहले, तिलंगाना में नहरू की फौज से सशस्त्र युद्ध हुआ। जनता को तैयार करने के लिये जन नेताओं ने क्रान्ति आरम्भ कर दी। नतीजा हुआ आतंकवाद। स्तालिन का कहना था संसार के प्रत्येक देश की

जनता अपने-अपने देश में जब तक जागरूक होकर यत्न न करेगी तब तक रूस के क्रान्तिकारी हर जगह लाल क्रान्ति सफल नहीं कर सकेंगे। त्रात्स्की कहता था नहीं, जब तक हम विश्व क्रान्ति नहीं करेंगे हम मार्क्सवाद के साथ गद्दारी करेंगे। डाक्टर शर्मा हैदराबाद में निजाम और नेहरू की फौज का भेद स्पष्ट समझने में त्रात्स्की की विचार धारा से प्रभावित होकर असमर्थ रहे हैं। तभी वे श्री अमृतराय के लेख पर टिप्पणी करते हैं: इस लेख में दो वर्षों की सफलताओं का कहीं जिक्र नहीं है।

स्वयं उन्होंने कोई सफलता नहीं गिनाई। यहाँ मैं गिना देता हूँ, रामविलास शर्मा हर एक पर हस्ताक्षर करते चलें।

हंस और नया साहित्य और उदयन जैसे जनवादी पत्र लड़-खड़ा कर बन्द हो गये। नया साहित्य के सम्पादक जनता से प्रार्थना करने लगे कि क्रान्ति और जनता के नाम पर नया साहित्य खरीदो, क्रान्ति के लिये प्रार्थना की आवश्यकता पड़ गई। इस प्रकार क्रान्तिकारी शक्ति का जनता से पूरा अलगाव हो गया। प्रगतिशील लेखक संघ का कोई रचनात्मक कार्य नहीं हुआ। जन-नाट्य संघ का रचनात्मक कार्य बन्द हो गया। किसान सभा दस लाख से डेढ़ लाख रह गई। अखिल भारतीय मजदूर सभा आठ लाख से दो लाख के करीब रह गई। अखिल भारतीय छात्र संघ लगभग दो लाख से तीस हजार रह गया। कम्युनिस्ट पार्टी नब्बे हजार से १२ हजार रह गई। जन प्रकाशन गृह बम्बई की आर्थिक परिस्थति अत्यन्त शोचनीय हो गई। आंध्र और तिलंगाने के क्रातिकारियों के दल आतंकवादियों की भाँति जनता से दूर हो गये? फीरोजाबाद के जिन मजदूरों ने शक्ति से अधिक कदम उठा कर कारखानों पर कब्जा किया, वे आगे न लड़ सके और मजदूर आन्दोलन नष्ट हुआ तथा अधिकांश मजदूर राष्ट्रीय मजदूर सभा में चले गये। कलकत्ते के क्रान्तिकारी ट्रामों बसों पर बम फेंक कर जनता की घृणा के पात्र बन गये। अन्तर्राष्ट्रीय जन

आंदोलन को भारत के जन आंदोलन ने ऐसी गलतियाँ करके गहरा नुकसान पहुंचाया। जो भारत जन आंदोलन को मजबूत करके अमरीकी अंग्रेजी चालों को फोड़ कर चीन और रूस की जनता की मदद कर सकता था उसने इसके विपरीत किया।

जब-जब अपनी शक्ति को बहुत बढ़ा कर दिखाया गया, जन-शक्ति को खंडित किया गया। सरकार को दमन करने का मौका दिया गया। कम्युनिस्ट कह कर सरकार ने समस्त वाम पक्षियों पर आघात किया जनता देखती रही।

वकौल डाक्टर रामविलास शर्मा के जो उन्होंने मुझ से कहा था:—'मार्च १६४८ में हिन्दुस्तान में रूस का १६०५ आ गया है, रेल की हड़ताल सात दिन में सरकार को ढ़हा देगी। उस आंदोलन की शक्ति इतनी थी कि उसे श्री जयप्रकाशनरायन ने ढ़हा दिया। सरकार के दमन की निन्दा की गई। गोया सरकार कहती कि रेलभंजकों एक पुर्जा उखाड़ने को सरदार पटेल को साथ ले लो!

गोया सरकार का वर्ग रूप न रहा, वह केवल मानवतावादी हो गया।

क्या यह सब मार्क्सवाद था। 'अमृतराय भी कहते हैं इसका मूल था भीषण संकीर्णतावादी उग्रवामपंथी भूलें। श्री प्रकाशचन्द्र जी मानते हैं; पर डाक्टर रामविलास नहीं मानते।

संकीर्णतावाद का उदय यों हुआ श्री नागार्जुन ने उदयन में लिखा:—लेखको किधर हो। हमें पूंजीवाद प्रेस में नहीं लिखना है।

उसी समय के आस-पास डाक्टर शर्मा ने श्री भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' पर जनवाणी बनारस में आलोचना लिखी:—'वर्मा जी का उपन्यास' लीडर प्रेस में छप कर निकला है। जिस प्रेस पर कभी उदार पंथियों का कब्जा था और अब बिड़ला मोनोपोली की लपेट में आ चुका है, उपन्यास को समझने के लिये इन सब बातों को याद रखना जरूरी है।

इस वाक्य ने उदयन को बल दिया। डाक्टर रामविलास शर्मा ने विषय वस्तु नहीं देखी, नाम देखे और जिसने भी 'आजकल' में लिखा उसे सरकार के फर्माबरदार कहा। इस क्रांतिवाद के फलस्वरूप उदयन अपने आप बन्द हो गया इसी महीने कवि नागार्जुन की एक कविता आजकल में छपी है। आज रामविलास जी हंस और नया साहित्य को गुटबन्द कहते हैं कि उनमें स्वतन्त्रता नहीं है। परन्तु लीडर प्रेस के वर्ग रूप को जानने वाले डाक्टर साहब का वर्ग रूप भी नवयुग में जाकर क्रांतिकारी हो गया। क्या यह सब मार्क्सवाद है? क्या नवयुग में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता देख कर डाक्टर साहब वहाँ गये हैं? क्यों वे नवयुग का वर्ग रूप सिद्ध नहीं करते क्योंकि उनके संकीर्णतावाद का तीर लौटकर उन्हीं के लगा है। हंस और नया साहित्य उससे छुटकारा पाना चाहते हैं। डाक्टर साहब का अवसरवाद क्या अब भी अप्रगट है। व्यक्तिवादी स्वतन्त्रता और अहं का इससे अच्छा उदाहरण और क्या है।

सत्य तर्क से भी तीव्र होता है। ऐसे ही एक अवसरवादी श्री नरोत्तम नागर थे, जो हंस में एक महान क्रांतिकारी थे। वे हंस छोड़ कर तो सरकार के 'राजधानी समाचार' में नौकर हुए उनकी बौद्धिकता की बुनियाद रुपये से अलावा क्या है? अब उनकी तारीफ की जाती है, कि वे सोवियत ऐम्बेसी में नौकर हैं।

अपने हंस के लेख में रामविलास शर्मा ने श्री राम गोपालसिंह चौहन का लेख उद्धृत किया है—हम समझते थे कि देश में पूँजीवादी ढाचा विकास कर रहा है और हम सब अब सशस्त्र समाजवादी क्रांति के दौर में है। चौहान जी के इस वाक्य पर एतराज करते हुए 'आज' श्री रामविलास शर्मा लिखते हैं—'हो सकता है कि श्री राम गोपाल सिंह चौहान समझते रहे हों।..........लेकिन दूसरों की समझ के बारे में राय देते वक्त........सबूत ... मिसाल.... देनी चाहिये थी।'

डाक्टर साहब ठीक कहते हैं। चौहान जी की गलती है कि वे अपनी तरह सबको गलती महसूस करने वाली ईमानदारी का मालिक समझते हैं। उन्हें टुटपूँजिया वर्ग की अवसरवादिता के पक्ष पर मार्क्सवाद से शिक्षा लेनी चाहिये। तब यहाँ मिसालें गिना देना ठीक होगा। आज जैसे डाक्टर राम विलास शर्मा चीन की खाल खींच रहे हैं एक दिन वे रूस की आँखें निकाल रहे थे।

कोई भी लेखक जब कुछ लिखता है तब उस पर युग की आवश्यकता का प्रभाव होता है। और फिर 'शर्माजी' जैसे अत्यन्त जागरूक आलोचक की तो बात ही क्या है?

जुलाई १९४९ 'नया साहित्य' में 'साहित्य और संस्कृति पर लेनिन के विचार' नामक लेख में पढ़िये।

लेनिन का उद्धरण है—यह काम पूरी तरह मजदूर बुद्धिजीवियों के हाथ में रहे, इसके लिये मजदूर राज्य की तरफ से उन्हें हर तरह की सुविधायें मिलेंगी। (पृ० ११६) 'तथा इस तरह की पूँजीवादी वर्ग की नीति का पर्दाफाश करना,पूँजीवादी परिस्थितियों में साहित्य का एक प्रमुख कर्त्तव्य हो जाता है (पृ० ११७) और—क्रांतिकारी पार्टी में अनुशासन कैसे कायम किया जाता है यह बताते हुए लेनिन ने पहली शर्त यह रखी थी कि सर्वहारा वर्ग के अग्रदल में वर्ग चेतना होनी चाहिये (पृ० १२१) तथा 'लेनिन के विचारों से परिचित होना हर देश के लेखकों के लिये जरूरी है, हिन्दुस्तान जैसे देश के लिये यह और भी जरूरी है' (पृ० १२२)

हिन्दुस्तान पर जो सबक लागू किया गया है उसे याद रखिये। आगे डाक्टर साहब इस बात का विरोध करते हुए मिलेंगे। अभी और पढ़िये 'पूंजी और मजदूर की लड़ाई में साहित्य या तो पूंजी का साथ दे सकता है या मजदूर का। इन दोनों से परे साहित्य का कोई अस्तित्व नहीं हो सकता' (पार्टीजन साहित्य और लेनिन पृ० ३६, विप्लव, अक्तूबर-नवम्बर १९५८)

यदि यह केवल लेनिन के उद्धरणों से हमारा परिचय कराने

का यत्न होता तो दूसरी बात थी, पर हिन्दुस्तानियों को सबक दिया गया है, तो इसे हम क्या मानें ? एक विशेष परिस्थिति में यह उद्धरण बताते हैं:—मजदूर राज्य बन रहा है, पूंजीवाद ही एक मात्र शत्रु है, क्रांतिकारी पार्टी का अनुशासन लागू करने का वक्त आ गया है, सोवियत समाजवाद जब बनाया जा रहा है, तो लेनिन के विचारों पर चलो, हिन्दुस्तान के लेखको ! तुम्हें तो यह तुरन्त सीखना चाहिये। लड़ाई सिर्फ पूंजी और मजदूर की है।

यह हैं संयुक्त मोर्चे की बातें ? यहाँ चीन की भी दुहाई नहीं दी गई। कहीं सामान्तवाद का जिक्र हैं ? कार्लरेडेकको जैसे चीन में सामान्तवाद नहीं दीखा था, डाक्टर शर्मा को भारत में ही नहीं मिला। बस पूंजी और मजदूरों का संघर्ष है। कुछ और नहीं है।

इसका कारण ? संकीर्णतावादी वामपक्ष में उग्रवादी भावना। इसी दौर में डाक्टर रामविलास शर्मा ने चीन पर थीसिस लिखी जिसमें माओ-त्से-तुंग को सुधारक कहा था। सुधारवादी माओ अब उनका आराध्य हो गया है। 'उन्होंने जोशीवाद के चोले में टीटोवाद में क्या लिखा है ? संयुक्त मोर्चा ? वे कह सकते हैं कि यह रचनायें उन्होंने नहीं लिखी ? और उनकी एक लम्बी १०० पृष्ठों से भी अधिक दिसम्बर की अन्तर्विरोधों से भरी उलझी थीसिस (अप्रकाशित) भी मैं पढ़ चुका हूँ। शायद डाक्टर साहब उसे भी भूल गये होंगे। पर इन सबको भी जाने दीजिये। इन्हें तो उन्हें गिना देना ठीक होगा जिन में राजनीतिक ईमानदारी की बू बाकी है।

डाक्टर साहब का कहना है कि माउन्ट वेटन योजना को उनके अतिरिक्त और कोई नहीं समझता था। सन् १६४२ या ४३ में कवि नागार्जुन ने सुभाषचन्द्र बोस पर मेंढक और कुयें की कहानी लिखी थी, वह कविता लोकयुद्ध में छपी थी, उसमें सुभाष और उसके साथियों को गद्दार कहा गया था। शायद डाक्टर साहब भी

अस्वीकार नहीं करेंगे कि सुभाष के प्रति यही उनकी लिखित भावना थी। उसी सुभाष बोष की आजाद हिन्द फौज की तारीफ सुनिये और सुनिये उस समय के भारत को वे स्वाधीन कहते थे या नहीं? वे स्वयं माउन्ट बेटन योजना को कितना समझते थे? जनयुग में १९४७ अगस्त पर 'और भी ऊँचा उठे झंडा हमारा' लिखने वाले डाक्टर साहब १९४७ में लिखते हैं 'काफी दिन बाद (आजाद हिन्द फौज के) बन्दियों को रिहा किया गया, लेकिन स्वाधीन भारत की फौज में उन्हें जो उचित स्थान मिलना चाहिये था, वह अभी तक उन्हें नहीं दिया गया (संस्कृति और साहित्य पृ० ८३, किताब महल प्रयाग १९४८)

और पढ़िये—'पन्द्रह अगस्त के बाद देश में एक परिवर्तन हुआ है। साम्राज्यवाद का वह पुराना रूप बदल गया है, अब हम अपने देश को अपना कह सकते हैं और उसके नव-निर्माण का भार खुद अपने कन्धों पर उठा सकते हैं। (प्रगति और परम्परा पृ० ७ किताब महल प्रयाग १९४८)

यहाँ राहुल सांकृत्यायन नहीं, स्वयं डाक्टर राम विलास शर्मा देश के नवनिर्माण की बात कर रहे हैं। इस 'अर्द्ध सामंती उपनिवेश में वे नवनिर्माण' की बात करके भी सरकारी नौकरी नहीं पा सके इसका आश्चर्य है। तुर्रा यह कि इस लेख को लिखने के पहले वे इस देश को अपना नहीं कहते थे। अंग्रेजी राज था, अंग्रेजों का मुल्क था। या तो यह खाकसारी की हद है या सम्भवतः 'अपना' कहकर अब वे 'अपना राज्य' कहना चाहते हैं? वे ही जानें।

तो स्पष्ट है कि ऊपर जो हमने उनके रवैया की पाँच मंजिले गिनाई थी, उनमें यह पहली है। दूसरी हालत जब वे केवल पूंजी के शत्रु थे और रूसी समाजवाद ला रहे थे, वह ऊपर बता चुके हैं, अब तीसरी सशस्त्र की क्रांति की बात सुनिए।

जब उनकी राय में केवल मजदूर वर्ग का ही अधिनायकत्व रह गया तब ही फरवरी १९४८ की कम्युनिस्ट पार्टी की दूसरी

कांग्रेस का प्रभाव स्पष्ट हुआ। रणदिवे काल में कम्युनिस्ट पार्टी ने जो धारणा बनाई थी उसकी मुख्य बात थी—दो क्रांतियों का आपस में मिलकर गुंथ जाना। पीपुल्स डिमोक्रेटिक फ्रन्ट-जनवादी मोर्चा और प्रोल्तारी रेवोल्यूशन—मजदूर, क्रांति मिला दिए गए। आज डाक्टर साहब कहते हैं कि वे इस विचारधारा को नहीं मानते थे कम्युनिस्ट पार्टी को अपने ऐसे ईमानदार सदस्यों पर गर्व करना सीखना चाहिए। उसी समय मलाया, चीन के सशस्त्र आंदोलनों से भारत का नाता जोड़ देने की बात उठी थी। तभी उन्होंने कहा था 'प्रगतिशील लेखक इस बात का ऐलान कर चुके हैं कि वे एक वर्ग के साथ हैं, हिन्दुस्तान के लड़ाकू मजदूर वर्ग के साथ, जो हिम्मत और दिलेरी के साथ बर्बर दमन के खिलाफ जनतन्त्र के लिए संघर्ष में तमाम मेहनत कश जनता का नेतृत्व कर रहा है (नया सवेरा पृ० ६५. दिसम्बर १९४९)।

क्या यह उद्धरण दो क्रांतियों को मिला देने वाली बात प्रकट नहीं करता ? अब नया सवेरा १९ दिसम्बर १९४९ पृ० ३ पर डाक्टर रामविलास शर्मा की 'निरंजन' नाम से लिखी कविता 'कामरेड स्तालिन को लाल सलाम' पढ़िए, जिसमें उनका जोश बिल्कुल स्पष्ट है। पहले चीन, मलाया, आदि का वर्णन करके वे कहते हैं:—

'हिन्द देश में तैलंगाना,
नया मोर्चा नयी कमान।
जहां जुल्म से जंगी टक्कर,
लेते हैं मजदूर किसान॥"

× × ×

"सब कहते हैं हिन्द देश पर,
चढ़ने लगा चीन का रंग।"

× × ×

नई जुझारू हिन्दी जनता,
तुम्हें भेजती है पैगाम।"

यहाँ 'जंगी' 'जुझारू' का क्या अर्थ है?

डाक्टर रामविलास शर्मा कहते हैं—'त्रात्स्कीवादी विचारधारा भारती थजन आंदोलन के साम्राज्य विरोधी पहलू से इन्कार कर रही थी।'

यह विचारधारा किसकी थी? श्री रणदिवे की। हमला सीधे नेहरू पर था, भारत का सारा पूंजीवाद एक था। एक समय था जब डाक्टर शर्मा ने नेहरू को बादशाह बनाकर एक उपन्यास लिखा था जो लाइन बदलने पर उन्होंने नष्ट कर दिया। कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व 'शाहेवक्त' की तारीफ गाना उनका मार्क्सवाद रहा है। उन्होंने एक बार पूरनचन्द जोशी पर लिखा था :—

जोशी सबका नेता साथी भैया हो,
इन्कलाब की पार्टी का अगवैया हो।

परन्तु इस नये दौर में उन्होंने जब कलम को तीर कर दिया, वे अगिया बैताल नाम से नवम्बर ४८ विप्लव में लिख उठे :—

झूला झूलें जवाहरलाल।
ताली दे दे ताल मिलायें साथी सरमायेदार।
इनके पिया परदेश बसत हैं डालर भेजें उधार॥ इत्यादि—

यहाँ भी विश्व पूंजीवाद' की भांति 'पूंजीवाद' एक है। इसी की आड़ मिली चीन की परिस्थितियों में। चूहा झट उसमें घुस गया। त्रातस्की अधिक ईमानदार था। उसने अपनी बात न चलने पर 'क्रान्ति से गद्दारी' नामक पुस्तक लिखी थी। डाक्टर रामविलास शर्मा कहते हैं कि मैं तो यह सब कहता ही न था।

अपनी सफाई में उन्होंने अपने पुराने लेखों से दो वाक्यांश संदर्भ से निकाल कर पेश किये हैं। एक है—'अन्त में समाजवाद की स्थापना के लिये' और दूसरा है—'जनता की विजय के लिये।' हम संदर्भ में रखकर वस्तु को देखने की बुरी आदत में पले हैं। अतः

एक का अर्थ है—'रणदिवे की क्राँति के लिए', दूसरे का अर्थ है—'त्रात्स्की की लफ्फ़ाजी के लिये।'

तो अब हम उस चौथी मंजिल पर आये जब डाक्टर साहब ने चीन पर मेहरबानी शुरू की। उन्होंने लिखा 'औपनिवेशिक व्यवस्था का टूटना, उसमें पैबन्द लगाने का यत्न' इत्यादि। यहाँ भी भारतीय पूंजीवाद को 'एक वर्ग' मान कर उस पर हमला किया गया। नये दौर में वह हमला अब अमरीका पर भी चला। 'जनता' का नारा बुलन्द होने लगा। हम उनके जनता के सम्बन्धों को उन्हीं के नगर में रहते हुए जानते हैं। खैर यह भी हम नहीं कहेंगे।

हंस के अपने लेख के ३० वें पृष्ठ पर उन्होंने प्रज्ञाचक्षु नाम से लिखने वाले लेखक पर आक्षेप किया है कि वह अपने असली नाम से क्यों नहीं लिखता! प्रज्ञाचक्षु के कम्युनिस्ट विरोध से वे क्रुद्ध हो गये है इसी लेख में उन्होंने कम्युनिस्ट पार्टी की गलतियों को स्वीकार किया है। स्वयं वे पार्टी के अनुशासन में हैं। तो क्या वे गलतियां स्वयं डाक्टर साहब नहीं कर रहे थे, यदि नहीं तो वे अनुशासन में कैसे थे? क्योंकि वे तो कम्युनिस्ट पार्टी के रक्षकों में बनते हैं, बता दें कि कभी उन्होंने कम्युनिष्ट पार्टी के नेतृत्व के बयानों की आलोचना की है? प्रज्ञाचक्षु को मुँह तोड़ जवाब होता उसकी दलीलों का खंडन, न कि चिल्लाना कि तुम शत्रु हो! ठीक ऐसे ही 'तुम कम्युनिस्ट हो!' कहकर कम्युनिस्ट शत्रु चिल्लाते हैं। पर डाक्टर साहब उधर से तो ऐसी कन्नी काट गये कि उनका मार्क्सवाद ही उनकी रक्षा करे! उल्टे डाक्टर साहब ने पैंतरा बदल कर कहा—प्रज्ञाचक्षु नाम नकली है, इसमें असली लेखक के नाम का 'प्र' मात्र हैं, अतः वह डरता है।

तो यह पता चला कि डाक्टर साहब के तर्क के अनुसार जब कोई नाम बदल कर लिखता है तो वह डरता है। तब रामविलासजी जब अगिया बैताल, निरंजन अशोक आदि नामों से लिखते थे तब वे डरते थे? या तो डाक्टर साहब को अपनी नौकरी

का डर रहा होगा या उन्हें वैसे साहित्य को स्वीकार करने में झेंप होगी। जब वे घासलेटी साहित्य को, पार्टी दस्तावेजों को छन्दबद्ध करके रख रहे थे और उससे जनवादी कला का दम घोंट रहे थे तब शायद उन्हें अपने डाक्टर जैसे भारी भरकम नाम के बदनाम होने का डर था, क्योंकि खड़ी बोली की वह कवितायें जो आधुनिक प्रचलित शैली में लिखी गई हैं उन पर उनका 'डाक्टर' शोभित है। तीसरी कोई बात हो तो बतायें !

यह है राजनीतिक अवसरवाद जो हर बात में प्रगट होता है।

उन्हें अपने हंस के लेख में यह शिकायत भी रही है कि मैंने सरकार से तैलंगाने के बन्दियों के लिये भीख क्यों न मांगी ? मैं 'नया समाज' में स्पष्ट उस 'पूंजीवादी' सरकार और 'निजाम' पर लिख चुका हूँ जिन्होंने दमन किया था, र साथ ही त्रात्स्की-वादियों को कभी नहीं भूलूंगा जिन्होंने जनता की हत्या करवाई थी। सरकार से भाव युद्ध वही करेगा जो वर्ग-भेद नहीं जानता हो। त्रात्स्कीवादी की कोई राजनीति नहीं होती, वह सिद्धान्त-हीन होता है, यह मैं जानता हूँ।

अन्तिम मंजिल में डाक्टर रामविलास शर्मा फिर बदले। इस दौरान में फर्वरी १९५० में कम्युनिस्ट पार्टी के पोलिटब्यूरो के दस्तावेज को उन्होंने स्वीकार कर लिया। परन्तु जब पार्टी के सदस्यों ने उसे नाकाफी समझकर नामंजूर कर दिया तब अप्रैल में फिर नया दस्तावेज आया। अब की बार डाक्टर साहब ने इस नये वाले को बिलकुल ठीक कहकर स्वीकार कर लिया। उसके बाद केन्द्रीय समिति कम्युनिस्ट पार्टी का पत्र छपा। उसमें वे बातें भी बदल गई। पर डाक्टर साहब ने अब की बार इसको स्वीकार कर लिया।

क्या वे मेरी बात को अस्वीकार करने की हिम्मत रखते हैं ? जिस कम्युनिस्ट पार्टी की वे साहित्य-क्षेत्र में हिमायत करते हैं, वह उनका उत्तर अवश्य सुनेगी। वे बोलें । इस प्रकार पार्टी

नेतृत्व की 'भाटिगिरी' करते हुये जो वे स्वतन्त्र चिंतन और मार्क्स-वाद समझने का दावा करते हैं अपने अन्तिम दौर में वे फिर बदल कर उपस्थित हैं।

नवयुग ३ जून १६५१ में उनका 'साहित्य में त्रात्स्कीवाद (२)' नामक लेख छपा है। वास्तव में इस लेख का नाम होना चाहिये था। 'उल्टा चोर कोतवाल को डांटे।'

पृ० ११ पर श्री शिवदान सिंह चौहान का एक उद्धरण उन्होंने दिया है—'इसलिए समाजवादी विषय-वस्तु और राष्ट्रीय रूप-विधान—इस मार्क्सवादी सिद्धान्त को उलट कर ये साथी ऐसी रचनायें करते रहें जिसकी टेकनीक और शैली तथा भाव-भूमि, वस्तु, चित्र, रूप प्रकृति, संगीतालय से समन्वित रूप-विधान राष्ट्रीय जीवन और इतिहास के न होकर अन्तर्राष्ट्रीय—वह भी अत्यन्त कुघड़ कौस्मोपोलिटन है और जिसकी विषय-वस्तु जनवादी या समाजवादी न होकर मध्य वर्गी 'लिबरलिज्म से प्रभावित है।

डाक्टर साहब ने जनवादी और समाजवादी के भेद पर काफी जोर दिया है, पर समाजवादी विषय-वस्तु और राष्ट्रीय रूप-विधान से उनको एतराज है। रूस में स्तालिन की देन राष्ट्रीय रूप-विधान पर जोर देना था—यह कौन नहीं जातता ? अन्त-र्राष्ट्रीय रूप-विधान त्रात्स्की चाहता था। उसने तो कह दिया था—प्रोल्तारी साहित्य कुछ नहीं होता। हमें तो एक दम वर्गहीन समाज का साहित्य चाहिये।

संयुक्त मोर्चा एक ध्येय की ओर बढ़ना है। वह कुछ कालेज में पढ़ाने वालों की दिमागी नटवाजी नहीं है। डाक्टर शर्मा की बुनि-यादी समझ यों है। वे लिखते हैं—'चौहान साम्राज्य और सामंत-वाद के खिलाफ लड़ने वाले चीन के साहित्यिक नारों को हिन्दु-स्तान में लागू करना जरूरी नहीं समझते। ....चौहान और उनके हमखयाल लेखक उस लेख के (चीनी लेखक कुओ मोजो के

संयुक्त मोर्चे पर लिखे लेख) नारों को ही हिन्दुस्तान पर लागू नहीं करते ।'

हमें इस बात की प्रसन्नता है कि डाक्टर साहब अपने दौर की आखिरी परिस्थिति में फिर पकड़ में आजाते हैं। अब वे स्पष्ट चीन की नकल पर उतारू हैं। उनकी राय में चीन और भारत की बुनियादी परिस्थितियां एक हैं। ऊपर हम दोनों का भेद बता चुके हैं। परंतु डाक्टर शर्मा की लफ्फाजी ही सिद्धान्त-हीन त्रात्स्कीवादी अवसरवाद का प्रमाण है। वे जनता का नाम लेकर ठगना चाहते हैं। अब कम्युनिस्ट पार्टी के नये बयान में चीन और भारत का स्पष्ट भेद लिखा गया है। क्या डाक्टर रामविलास शर्मा अब फिर बदलेंगे ?

फिर कहते हैं :—'समाजवादी यथार्थवाद का नारा हिन्दुस्तान में लागू नहीं होता, और प्रगतिशील साहित्य की कुओ मोजो द्वारा की हुई व्याख्या हिन्दुतान में लागू होती है, हिन्दी के त्रात्स्कीवादी लेखक जब तक इस भेद को न समझेंगे तब तक वे चीनी साहित्य और संयुक्त मोर्चे के नारों का महत्व भी न समझेंगे और सोवियत समाज के नारों को यहाँ लागू करने की व्यर्थ कोशिश करते रहेंगे। (पृ० १४)

उपर्युक्त वाक्य का अर्थ है—समाजवादी यथार्थवाद का नारा भारत पर लागू नहीं होता। चीन की व्याख्या भारत पर लागू होती है। तब कल उन्होंने सोवियत शिक्षा व्यर्थ दी ? आज वह गलत साबित हो गई ? आप लिखते हैं—

"चौहान ने अपने लेख में 'वर्गयुद्ध का हथियार साहित्य' को गलत नारा बताया है।"

यह कह कर डाक्टर शर्मा चुप हो गये हैं।

आज वे इस विषय पर बोलना नहीं चाहते। परन्तु उनका १५ दिसम्बर १६४६ 'नया सबेरा' का लेख पढ़िये। उसमें कहा गया है कि सोवियत् साहित्य से नहीं सीखना अवसरवाद है।

चीनी परिस्थिति को भारत पर हू-ब-हू लागू करने को जो तैयार नहीं है, वह डाक्टर शर्मा की राय में त्रात्स्कीवादी हैं।

राहुल ने लिखा था—भागो नहीं दुनिया को बदलो। डाक्टर रामविलास शर्मा का ध्येय रहा है—भागते रहो, अपने को बदलते रहो, पर पकड़ में न आओ।

हर राजनीतिज्ञ की एक ईमानदारी होती है। बोल्शेविक ईमानदारी जगत् प्रसिद्ध है। डाक्टर साहब तो बोल्शेविक हैं? क्या वे जनता में अपनी गलती स्वीकार करेंगे? या वे सोचेंगे कि मैं! आलोचक कैसे कह दूँ—मैं इतना अवसरवादी हूँ।

स्तालिन ने कहा था—अमल में आत्मसमर्पणवाद यह उसकी विषय वस्तु है। वामपक्षी लफ्फाजी और 'क्रान्तिकारी' और दुस्साहसिक पैतरेबाजी—यह उसका रूप है। त्रात्स्कीवाद का यह सारतत्व है।

डाक्टर शर्मा बतायें क्या स्तालिन गलत है?

जितना ही डाक्टर रामविलास शर्मा को राजनीति का पर्दाफाश होता जायेगा, उतनी ही उनकी वामपक्षी लफ्फाजी बढ़ती जायेगी। क्रांतिकारी दुस्साहसिक पैतरेबाजी बढ़ेगी। राजनीतिक ईमानदारी का वह पूर्ण अभाव जिस अवसरवादिता को पैदा करता है, वह त्रात्स्कीवाद का मुख्य लक्षण है। उसकी सबसे बड़ी पहिचान है कि वह सब से अधिक चिल्लाकर कहता है—क्रान्ति से गद्दारी हो गई—

टुटपूंजिया वर्ग के लेखक के सामने जनता का अर्थ तीन अक्षर होता है। आज डाक्टर शर्मा के सामने बुनियादी प्रश्न है—जो गलाज़त मैंने फैलाई है उसे कैसे साफ करें?

उनके आलोचक की शान दाव पर है। क्या वे ईमानदारी से काम लेंगे? मध्यवर्गीय टुटपूंजिया बुद्धिजीवी मूलतः 'कैरियरिस्ट' होता है, उसके सामने और कोई ध्येय या लक्ष्य नहीं होता।

जब से भारत में मार्क्सवाद का प्रभाव पड़ा है, तब से साहित्य

में 'प्रगतिशील साहित्य' की मांग हुई है। मार्क्सवाद को जब साहित्य पर लागू किया जाता है, तो वह सबसे कठिन काम है, क्योंकि उसमें दो बातों की गहरी आवश्यकता होती है। पहिले तो मार्क्सवाद को समझा जाय, फिर साहित्य को भी समझने की बुद्धि चाहिए। साहित्य केवल शब्दों का समूह नहीं है। उसमें राजनीति और संस्कृति का समावेश होता है। संस्कृति को समझने के लिए इतिहास की मार्क्सवादी धारणा और चिंतना की जानकारी नितांत आवश्यक है। यह सब बातें जिस आलोचक को आती हैं, वही इन्हें ठीक से समझ सकता है और वही ठीक तरह का मार्क्सवादी आलोचक कहा जा-सकता है।

मार्क्स और एंगिल्स ने अपने सिद्धान्त हवा में से पैदा नहीं किये थे। उन्होंने यूरोप तथा अन्य देशों के इतिहास का गहरा अध्ययन करके अपने निष्कर्ष निकाले थे। वह इतनी पक्की बनी इमारत पर बुनियाद थी कि उसे कोई नहीं हिला सका। लेकिन उन्हीं सिद्धान्तों को लागू करना क्या आसान बात है? बुद्ध ने कहा था—"मेरे उपदेश नदी की धारा पार कराने की नौका हैं, किनारे पर उठाकर बोझ से मरने के लिए नहीं।" ऐस ही मार्क्सवाद है। चीन के कुछ मार्क्सवादी ऐसे थे जिन्होंने मार्क्सवाद का वह रूप अपनाया जो रूस की परिस्थिति पर लागू था। जब चीन की परिस्थिति पर ज्यों-का-त्यों लागू किया गया तब परिस्थिति को नहीं देखा गया, केवल मार्क्स के उद्धरण फिट करने की कोशिश की गई। ऐसा ही हिन्दी आलोचना में भी हुआ है। मार्क्सवादी आलोचक तर्क करता है। वह कुतर्क नहीं कर सकता।

एक दिन एक बात कही, दूसरी जगह, दूसरे दिन दूसरी बात कहदी। यह असल में पटेबाजी होती है कि जब जिसे चुप करना हुआ वहाँ वैसी ही बात कहदी जिसमें अपनी बात सिद्ध हो रही हो। हिन्दी के सुप्रसिद्ध आलोचक डाक्टर रामविलासजी शर्मा ऐसे ही आलोचकों में हैं। हम कह दें और आप मान लें, यह तो क्यों

होगा ? उदाहरण प्रस्तुत है। इस लेख में हम केवल उनकी पटेबाजी दिखायेंगे। उनकी राजनीति देखने के बाद उनके साहित्य और संस्कृति सम्बन्धी विचारों की यह खोजबीन आवश्यक थी। यहाँ केवल उनकी पटेबाजी को प्रस्तुत किया जाता है, ताकि यह स्पष्ट हो जाय कि वे न केवल राजनीति में, वरन् साहित्य के क्षेत्र में भी अवसरवादी हैं। जिसकी जैसी राजनीति होती है, वह वैसा साहित्य भी लिखता है यह तर्क स्वयं डाक्टर शर्मा का है।

तुलसीदास प्रगतिशील थे या नहीं यह हम अगले लेख में विवेचन करेंगे। यहाँ यह देखिये कि डाक्टर शर्मा का चिंतन कितना आत्मविरोधी है! डोक्टर शर्मा ने मार्क्सवाद में द्वन्द्वात्मकता के बारे में पढ़ा। उलटी-सीधी बात करना भी शायद द्वन्द्वात्मकता ही हो। तुलसी का काव्य सौन्दर्य उत्कृष्ट है तुलसीदास की एक कविता है—

अधराधर पल्लव खोलन की
चपला चमकै धन बीच जगै
छवि मोतिन माल अमोलन की
घुंघरारी लटें लटकें मुख ऊपर
कुण्डल लोल कपोलन की
निवछावर प्रान करें तुलसी
बलि जाऊं लला इन बोलन की।

इस पर डाक्टर शर्मा ने 'बरदंत की पंगति कुंदकली' (नई चेतना, द्विमासिक अंक २-१९५०) नामक लेख लिखा है। अनेक उद्धरण देकर वे पूछते हैं—'तब क्या यह कहना उचित होगा कि तुलसीदास सामन्तीभाव के प्रतिक्रियावादी कवि हैं ? वे शोषक और उत्पीड़ित वर्ग की सत्ता कायम रखने के लिए एक सांस्कृतिक आधार पेश करते हैं ?

आगे वे स्वयं उत्तर देते हैं—'ऐसा सोचना बिलकुल गलत

होगा। प्रतिक्रियावादी वर्गों का पोषण करने वाले कवि 'बरदंत की पंगति कुंदकली' नहीं लिखा करते।'

यह उनकी राय में तर्क है। शर्माजी अगर फैसला देते हैं तो फिर हमारा क्या साहस कि उनसे पूछ लें कि आखिर ऐसा क्यों? खैर। लेकिन डाक्टर शर्मा का यही रूप होता तो भी हद थी! यदि डाक्टर शर्मा चाहते तो निम्नलिखित अर्थ भी निकाल सकते थे:—उस समय सामंत के बालक का यह गौरवपूर्ण और आँखों को चौंधिया देने वाला सुन्दर वर्णन प्रस्तुत करके कवि ने असंख्य किसानों के भूखे बच्चों की परेशान आँखों को नहीं देखा। वह अपने अन्नदाता के विषय में और क्या लिखता। सामंतवादी कवियों से और क्या आशा की जाती थी?

भाग्य से तुलसीदास बच गये। पाठक कह सकते हैं कि मैं बात का बतंगड़ कर रहा हूँ। लेकिन यह बात नहीं है।

जैसी बात मैंने यहाँ लिखी है, ठीक ऐसे ही उदाहरण यहाँ प्रगट होंगे। शर्माजी को जब जिस चीज की जरूरत होती है, वे उस समय वही कह उठते हैं। कबीर के विषय में उनका मत कितना विरोधी है, प्रस्तुत है।

एक स्थान पर लिखते हैं—कबीर की प्रतिभा ध्वंसात्मक थी। उनके दार्शनिक विचार उलझे हुए हैं और सामाजिक दृष्टि से उनके रहस्यवाद में रचनात्मक तत्त्व कम है। (संस्कृति और साहित्य पृ० १२)।

पर इसके बाद उन्हें पं० हजारी प्रसादजी द्विवेदी की कबीर पर लिखी रचना मिली। उसमें जो नई बातें देखीं तो फिर नई बातें लिख गये, पुरानी बात स्वयं काट दी। कहते हैं—

'हम समझते हैं कि कबीरजी ने समाधि लगाई और बस अनहतनाद सुनने लगे। वह तो फकीर हैं जिन्होंने समाज और दुनियाँ से नाता तोड़ लिया है, उन्हें समझने के लिए नीची और अछूत जातियों के रीति-रिवाज उनके गीत और कहावतें मानने की क्या

जरूरत ? अगर पढ़ें भी तो मनुस्मृति और योग-दर्शन पढ़ना चाहिये। हम यह भूल जाते हैं कि इन संत कवियों ने शास्त्रों को जो चुनौती दी थी, उसका आधार समाज की निम्न वर्गों की दबी और कुचली हुई जनवादी परम्परा थी। (प्रगति और परम्परा पृ० १६०))।

डाक्टर शर्मा ने यहाँ शास्त्रों को चुनौती देने वाले, निम्नवर्गों की कुचली जनवादी परम्परा को निभाने वाले कबीर को, स्पष्ट ही दूसरे रूप में रख दिया है। तुलसीदास भी निम्न-वर्गों की परम्परा में थे, या शास्त्रों को चुनौती देते थे, यह भी वे सोचते तो तुलसी की वास्तविकता भी प्रकट हो जाती कि तुलसी कबीर के कितने विरुद्ध थे। यदि शर्मा सोचते कि तुलसी दरबारी कवि नहीं थे, वे शास्त्रों की दुहाई देने वाले थे, तो वे इस उलझन में नहीं पड़ते कि तुलसी भी कबीर की भाँति ही थे। इसके बाद डाक्टर शर्मा फिर कहते हैं—

'लोग कहते हैं कि कबीर केवल ध्वंसात्मक कवि थे। उन्होंने समाज का कोई ढाँचा सामने नहीं रखा। हम जन-गीतों और साधारण जनता की उन मिली-जुली परम्पराओं को भूल जाते हैं, जो कबीर के गीतों का आधार है, तभी इस तरह की बातें कहते हैं, कबीर जाति-प्रथा और धार्मिक भेद-भावों दोनों के ही विरोधी थे। लेकिन क्या समझते देर लगती है कि इन बंधनों को तोड़ कर उन्होंने मनुष्य को उसके सच्चे रूप में प्रतिष्ठित करना ही अपनी कविता का लक्ष्य बनाया है ? मानवता की वह प्रतिष्ठा अन्य कवियों ने अपने ढंग से की है, कबीर ने अपने ढंग से···· ····। कबीर ने सीधा आक्रमण किया, निर्बंधों का खण्डन किया और निर्गुण सत्ता की उपासना द्वारा मनुष्यत्व की प्रतिष्ठा की (प्रगति और परम्परा पृ० १२०, १२१।

यहाँ शर्माजी का भीषण विरोधाभास है। वे कहते हैं: लोग कहते हैं। लोग कहाँ कहते हैं ? शर्माजी स्वयं कहते हैं। और यदि उनके तर्क

की यह प्रणाली स्वीकृत की जाय कि कबीर ने निर्गुण सत्ता की उपासना द्वारा मनुष्यत्व की प्रतिष्ठा की, तो इसका अर्थ यही है कि जिन्होंने सगुण-सत्ता की उपासना की, उन्होंने मनुष्यत्व की अप्रतिष्ठा की।

निरगुनतें एहि भांति बड़ नाम प्रभाव अपार। (रामचरित मानस, बालकाण्ड)।

तथा—'नाम उधारे अमित खल वेद विदित गुन नाथ' के लेखक तुलसी दास ने निर्गुण पर तर्कहीन भक्ति से जो वेद-विहित नाम प्रभाव चढ़ाया था, शर्माजी ने यदि यह देखा होता तो वे सरसरी निगाह से स्वयं तुलसी का विरोध नहीं कर उठते। तुलसी के विषय में उनका कथन है—

'तुलसी की प्रतिभा मूलतः रचनात्मक थी। (संस्कृति और साहित्य पृ० १२) जो लोग समझते हैं कि तुलसीदास ने इस्लाम की रक्तरंजित प्रगति को रोकने के लिए रामचरितमानस की रचना की, उन्हें यह न भूलना चाहिये कि कट्टर मुल्ला और मौलवी अकबर पर यह दोष लगाते थे कि उन्होंने (अकबर ने) इस्लाम से मुँह फेर लिया है।.........वास्तव में गोस्वामीजी ने हिन्दू धर्म की रक्षा की, परन्तु अकबर और इस्लाम से नहीं; उन्होंने रक्षा की उसकी अपनी आंतरिक शत्रुओं से, मतमतान्तर, द्वेष, कलह, अंधविश्वास से, (संस्कृति और साहित्य पृ० ६०-६१)

यहाँ शर्माजी स्पष्ट कहते हैं कि इस्लाम की प्रगति, अर्थात् तुलसीदास ने मुगल वैभव का विरोध नहीं किया, उन्हें अकबर के राज्य से द्वेष नहीं था। किन्तु आगे कहते हैं—जनता के और अपने आत्मसम्मान के लिए उन्होंने (तुलसीदास) कौशलराज की शरण ली। अकबर को जैसे चुनौती देकर उन्होंने अपने आदर्श सम्राट के लिये लिखा—

भूमि सप्त सागर मेखला, एक भूप रघुपति कोसला।

(संस्कृति और साहित्य पृ० २३२)

'नई चेतना' के सम्पादकानुसार "प्रखर चुनौती पूर्ण आलोचना—साहित्य के कर्णधार" डाक्टर शर्मा अपनी नाव को कैसे भयानक भँवर में ले जाते हुए संकोच नहीं करते, यह इसका स्पष्ट उदाहरण है। इस विरोध का कारण ? कारण है अवैज्ञानिक ढंग से सोचना, एक प्रकार की अवसरवादिता, जब जिस प्रकार की जरूरत हुई वह कह गये।

इतिहास के विषय में डाक्टर शर्मा का कथन कम माननीय नहीं है। कहते हैं कि भारत में यदि यूरोपीय सौदागर नहीं आते और यदि हिन्दुस्तान का सामंतवादी ढांचा अलग छोड़ दिया जाता तो बहुत सम्भव था कि यूरोप की तरह यहाँ भी अलग-अलग छोटे बड़े राष्ट्र बन जाते, जहाँ अलग-अलग भाषायें बोली जातीं। (संस्कृति और साहित्य पृ० ६)

डाक्टर शर्मा भूल जाते हैं कि भारत की जाति व्यवस्था यूरोप में नहीं थी, यहाँ विकास ठीक यूरोप जैसा ही होता, कहना नितांत अवैज्ञानिक है। दूसरी बात यह है कि बावजूद सबके, भाषाओं का बराबर अलग-अलग विकास हुआ है। क्या हम यह समझलें कि भारत में एक ही भाषा है ?

अंग्रेजी पात्र 'कम्युनिस्ट' सितम्बर अक्टूबर १९४९ में शर्माजी ने—'भारत में भाषा का प्रश्न'—नामक लेख लिखा है। लिखते हैं—'पूँजीवाद प्रगट रूप से राष्ट्र-निर्माण तथा संघठन के लिए प्रगतिशील कार्य करता है और इसी प्रकार आधुनिक भाषाओं की उन्नति में भी (पृ० ३३)

यूरोपीय सौदागर पूंजीवाद भारत में लाये थे। फिर क्यों ऐसा नहीं हुआ ?

उत्तर असल में यह है कि पूँजीवाद ने भारत में सामंतवाद से १८५७ में ही समझौता किया था।

डाक्टर शर्मा का चिंतन कितना विरोधी है यह यहाँ पूर्ण स्पष्ट है। दूसरे आगे वे कहते हैं—(भारत जैसे अनेक कौमों के देश में)

(पृ० ३७)......और....अर्थात् सबको पहले प्रत्येक कौम का अपनी भाषा का प्रयोग करने का अधिकार स्वीकार किया जायगा। (पृ० ४४)।

अनेक कौम होना, अनेक भाषायें होना, वे स्वयं स्वीकार करते हैं। इतिहास का क्रम उन्हें ध्यान देने योग्य नहीं जंचता। कहते हैं—

भारतवर्ष में मुगल साम्राज्य औरङ्गजेब के समय तक अपने विस्तार के लिए प्रयत्नशील रहा—और सत्ता ही अकबर के समय में भी—उसे अपनी सदा की रक्षा के लिए सचेत और सचेष्ट रहना पड़ा। (संस्कृति और साहित्य पृ० ६)

अर्थात् औरङ्गजेब के बाद मुगल साम्राज्य ने साम्राज्य का विस्तार बन्द कर दिया अर्थात् युद्ध नहीं किया। अकबर को औरंगजेब के बाद गिनाकर शर्माजी ने इतिहास का भव्य ज्ञान दिखाया है।

सामंतवाद की वे कदम-कदम पर बुराइयाँ झलकाते हैं। अतः भूषण उन्हें प्रिय हैं कि उसने साम्राज्य का विरोध किया। वह तमाम युद्ध जो जाट, सिख, मराठों ने मुगलों के विरुद्ध किया था, उसका नेतृत्व सामन्तों ने किया था, और जनता की सहायता लेकर वे लड़े थे, किन्तु जब वे जीते तो सामन्ती ढांचा ही रहा, और इस युद्ध का सबसे बड़ा नारा धार्मिक था, हिन्दू-मुसलमान का। हिन्दू उच्च-वर्ग फिर से मुस्लिम उच्च-वर्ग से सत्ता हथियाने में लगे थे। भूषण ऐसे ही समय में हुआ था। वह जन-शक्ति की इतनी प्रशंसा नहीं करता जितनी अपने आश्रयदाताओं की। डाक्टर शर्मा इसको यह कह कर ढंकते हैं—फिर भी उनके आश्रय-दाता असाधारण व्यक्तित्व के लोग थे (संस्कृति और साहित्य पृ० १२)।

असाधारण व्यक्ति वर्ग-भेद के ऊपर उठ जाता है, यह एक नया मार्क्सवादी चिंतन है। डाक्टर शर्मा स्वयं बतायें। हाँ,

उनके इस तर्क से राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ को अवश्य प्रसन्नता मिल सकती है।

भूषण का काव्य यदि अपने आश्रयदाता में पल्वित था तो उसका मूल असल में देश-भक्ति थी। वह मुगल दरबार छोड़ कर गये थे। किन्तु डाक्टर शर्मा क्योंकि पहली बात गलत कहते हैं, दूसरी अपने-आप गलत होती है। वे कहते है—(भूषण आदि) अपने आश्रयदाताओं के भक्त पहले थे, देश के भक्त बाद। (संस्कृति और साहित्य पृ० १३)

भूषण को आश्रयदाता पहले मिले थे, कि वह पहले देशभक्त था ? इतिहास बोल रहा है।

तर्क यदि केवल तर्क के लिये किया जाये तो उसका यही महत्व होता है।

अपने जून १९५१ हंसके लेख में तुलसी को शर्मा जी ने प्रगतिशील मानने के लिये एक कारण यह भी गिनाया है कि रूस में युद्धकाल में रामचरित मानस का अनुवाद किया गया था। रूस में महाभारत का भी अनुवाद हो चुका है, क्या शर्मा जी की राय में वह भी जनवादी परम्परा की रचना है, या ब्राह्मण स्वार्थ की रक्षिका है ?

डाक्टर शर्मा ने 'प्रगतिशील साहित्य पर कुछ प्रश्न' नामक लेख में साहित्य के स्थायित्व पर प्रकाश डाला है। कहते हैं 'ऐतिहासिक दृष्टिकोण का यह मतलब नहीं होता कि साहित्य की अमरता को हम अस्वीकार करें या उसके युग-युग में जीवित रहने वाले सौन्दर्य का अनादर करें।' (प्रगति और परम्परा पृ० ७१)

ठीक यही तर्क हमारे सामने शाश्वतवादी बराबर देते आये हैं। पृ० ७२ पर वे सन्त कवियों को धार्मिक क्रान्तिकारी मानते हैं। किंतु जब वे धर्म कहते हैं, तब वह उनको 'राजनीति' से अलग लगता है। वे यह भूल जाते हैं कि राजनीति कुछ राजाओं की

लड़ाई में ही सीमित नहीं हो जाती। मध्य-काल की जाति-व्यवस्था समाज का एक राजनैतिक ढांचा था और इसीलिए वह जिसे धार्मिक क्रान्ति कहते हैं, वह वस्तुतः 'राजनीतिक क्रान्ति' थी।

छायावादी कवियों के विषय में कहते हैं—छायावादी कवियों ने प्रशंसनीय उदारता के साथ नवीन प्रवृत्तियों के प्रति सहानुभूति दिखाई और उन्हें अपनी रचनाओं में प्रश्रय देने लगे। (संस्कृति और साहित्य पृ० २०)।

इससे मार्क्स का वह कथन झूठा पड़ जाता है कि सामाजिक उत्पादन के सिलसिले में मनुष्य ऐसे सम्बन्ध स्थापित करते है, जो उनकी इच्छा और अनिच्छा पर निर्भर नहीं होते।

शर्माजी के चिंतन के अनुसार छायावादी कवि मार्क्सवाद के वर्ग विश्लेषण से परे हैं। वे ऐसा कर सकते हैं। इस उदारता का मूल क्या था? मध्य-वर्ग का असन्तोष जब पूँजीवादी व्यवस्था से सन्तुष्ट नहीं हुआ तब वह परिस्थितियों से पिस कर प्रगतिशील साहित्य की ओर आया, यह दृष्टिकोण शर्माजी का नहीं है। फ्राइड की 'लिबिडो', का यह दूसरा रूप जो डाक्टर शर्मा ने खोज निकाला है, यह उनका स्तुत्य प्रयास है। आगे स्वयं इस उदारता का अन्यत्र डाक्टर शर्मा खण्डन करके कहते हैं—अनेक छायावादी कवि प्रगतिशील साहित्य के नये आन्दोलन के साथ इसलिए आये कि पुरानी सीमाओं में-सामाजिक असन्तोष और रहस्यवादी चिंतन की असंगतियों में-आगे बढ़ना असम्भव था। (प्रगति और परम्परा पृ० ७२)।

कैसी उलझन है। ऐसी उलझन कई जगह है। निरालाजी के एक ओर जहाँ श्री जानकी वल्लभ शास्त्री दूसरे दृष्टिकोण से भक्त हैं, वहाँ शर्माजी अपने दृष्टिकोण से। पर एक जगह ऐसी आई है कि शास्त्रीजी के गले में शर्माजी की मित्रता का हाथ है। पढ़िये—निरालाजी छायावादी कवियों में सबसे अधिक प्रगतिशील रहे हैं

और अपनी उस प्रगतिशीलता को याद करके ही वह मानो छायावाद से नाता नहीं तोड़ना चाहते। (संस्कृति और साहित्य पृ० २१-२२)

छायावादी हैं, और प्रगतिवादी हैं, लिहाजा छायावादी हैं। बड़ी मुसीबत है निरालाजी की। कंजूसों में सबसे बड़े दानी हैं। तभी दान देने की आदत के कारण कंजूस हैं। इसी पृष्ठ पर शर्माजी कहते हैं—छायावाद को उन्होंने ही (निरालाजी ने ही) भारतीय अद्वैतवाद का दार्शनिक आधार दिया था। इसलिए छायावाद उनके लिए रोमांटिक विद्रोह-मात्र नहीं रहा। यह उनका जीवन-दर्शन था। वह कर्ममय जीवन की ओर ढकेलता है; सङ्घर्ष से बचकर किसी कौने में छिपकर रहने का बहाना नहीं है। (संस्कृति और साहित्य पृ० २२)।

अर्थात् भारतीय अद्वैतवाद और वेदांत सङ्घर्ष का पथ है। बेचारे रामानुजाचार्य्य जिस जडमाया की निस्सारता को देख कर घबरा गये थे और लीला के रूप में जिन्होंने भक्ति का समावेश करके जिस दर्शन के पलायन और पराजय को मिटाया, वे यदि शर्माजी से मिल सकते तो न जाने क्या करते ?

कवि-सम्मेलन की तरफदारी करते-करते भी जनवादी शर्मा जी का अपनी जनता पर गहरा विश्वास है, तभी वे कहते हैं:—'इसमें सन्देह नहीं कि साधारण श्रोता में धैर्य्य और विचार-शक्ति का अभाव होता है, और कविता के चरम उत्कर्ष को ग्रहण करना उनके लिए प्रायः असम्भव होता है।' (संस्कृति और साहित्य पृ० ३१)

यदि यही बात छायावादी कहता तो शर्माजी का रुख यों होता जनता से दूरी, शब्द जाल, वर्ग साहित्य तैयार करते हैं। वे व्यर्थ हैं।

असङ्गति का पथ और है कि इतिहास की विकृति ! प्रसादजी पर लिखते हैं—'प्रसादजी के बौद्ध तथा आर्य्य संस्कृति के समन्वय को लोग भूल गये।' (संस्कृति और साहित्य पृ० ३४), आज तक हमने यह

नहीं पढ़ा कि बौद्ध संस्कृति अनार्य संस्कृति थी। आर्य्य संस्कृति कोई एक रूप थी यह तो केवल राष्ट्रीय स्वयं सेवक सङ्घ के सदस्य कहते हैं। यदि शर्मा जी जानते तो कहते:—'ब्राह्मण संस्कृति' किंतु वे इतनी देर रुक कर सोचना मार्क्सवाद के विरुद्ध समझते हैं। कहते हैं—"निरालाजी ने अद्वैतमत को अपने चिंतन का आधार बनाया है, परन्तु शङ्कराचार्य और उनके समर्थकों के साथ प्रतिक्रया का भी अंश रहा है, निरालाजी उसकी ओर सतर्क रहे हैं। (फिर निरालाजी का एक उद्धरण है) 'संस्कृति के द्वारा उन्होंने (शङ्कर ने) दिग्विजय ही किया है, अपने मत की प्रतिष्ठा-मात्र की है, जाति की जीवनी शक्ति का वर्द्धन नहीं।' इतिहास के प्रति जितना सतर्क और जागरुक दृष्टिकोण निरालाजी का है, उतना किसी कवि का नहीं है।" (संस्कृति और साहित्य पृ० ४३)

'विजय किया' का अशुद्ध प्रयोग भी क्षम्य हो, पर निरालाजी का यह चिंतन भी शर्माजी की इतिहास के प्रति सतर्क जागरूकता का सहायक है। शङ्कराचार्य्य एक ब्राह्मण पुनुत्थानवादी थे। उन्होंने बौद्धों के 'निस्पृहशून्य' को लेकर अपने 'ब्रह्म' की रचना की थी और 'ईश्वर' के कृतित्व से ब्राह्मणवाद को ला-घुसाया था, कर्मकाण्ड को ले आये थे। और वे स्वयं उस 'ईश्वर' की 'चिच्छक्ति' को 'जड़' कहते थे। किंतु निरालाजी के हाथ में वह चिंतन प्रगतिशील हो गया। विशिष्टाद्वैत का वह ऐतिहासिक कार्य कहीं नहीं वर्णित है जिसने अपनी सहिष्णुता से वैखानस के साथ पाञ्चरात्र पद्धति को भी ला-बैठाया। यदि डाक्टर शर्मा तैन्गलइ और वड़गलइ सम्प्रदायों के विषय में जानते तो उन्हें शङ्कर की प्रतिक्रिया प्रकट होती। शङ्कर की प्रतिक्रिया रूप में नहीं वस्तु में थी। संस्कृत के द्वारा इतना अनर्थ नहीं हुआ जितना उस चिंतन से। 'शङ्कर का मत' एक आकस्मिक घटना नहीं, इतिहास का दौर था।

डाक्टर शर्मा का चिंतन एक उलझन है। कहते हैं-(छायावाद)

उसमें पराजय और पलायन की भावनाएँ हैं, तो विद्रोह, विजय, मानव मात्र के प्रति सहानुभूति के स्वर भी हैं। (संस्कृति और साहित्य पृ० ४५)। किंतु आगे कहते हैं--'लेकिन हमें तो मूल रूप से ही मतलब है। भले ही प्रत्यक्ष में छायावाद पलायन न हो, मूल रूप में पलायन होने से ही हमारा काम चल जायगा (संस्कृति और साहित्य पृ० ३१०)।

यहाँ छायावाद केवल पलायन है, उसका विद्रोह जाने कहाँ चला गया है?

जयशङ्कर 'प्रसाद' के विषय में डा० शर्मा का कथन है-'प्रसाद जी में अतृप्ति और व्यक्तिवाद की भावनाएँ कम हैं।' (संस्कृति और साहित्य पृ० ४८) 'आंसू' केवल अतृप्ति का हाहाकार है। भले ही उसकी आलंकरिकता के कारण, बकौल शर्माजी के, उसकी वेदना की 'दम' निकल गई हो। 'एक घूंट' क्या है? 'कामना' क्या है? डा० शर्मा कहते हैं—'उन्होंने (प्रसाद) संघर्ष के युग चुने और इस संघर्ष में त्याग और शौर्य्य के बल पर उन्होंने मनुष्य को विजयी होता दिखाया है। ऐसी ही कथावस्तु बहुत कुछ 'कामायनी' की भी है। प्रसादजी यौवन और सौन्दर्य के कवि हैं; उनमें वासना है परन्तु उसका अन्त निराशा में कम होता है। उनमें जीवन की कामना है मरण की नहीं। अतृप्त वासना के साथ तो मृत्यु कामना आप ही चल पड़ती है। (वही पृष्ठ ४८)।

यह है डा० शर्मा का प्रसाद का विवेचन। आचार्य शुक्ल जी ने जिस गांभीर्य से कामायनी का विवेचन किया है यहाँ उसकी छाया भी नहीं है। कामायनी के मनु की अन्त में विजय एक व्यक्तिगत विजय है, जब वह समिष्ट से पलायन को प्राप्त करती है, किन्तु शर्माजी की दृष्टि उधर नहीं जाती। संघर्ष में त्याग और शौर्य्य के यह दो पक्ष प्रसाद को पौराणिक पक्ष से मिले थे, जिन पर पलायन छायावाद का प्रभाव था और प्रसाद का मन प्रारम्भ से प्रायः अन्त तक अतृप्ति का विकास है। वह अहं का प्रतीक है। उसका अन्त

भी दूसरे प्रकार का अहं है, जिसे निरासक्त अहं कह सकते हैं। आश्चर्य्य है कि प्रसाद में अतृप्त वासना के साथ जीवन की कामना है। डा० शर्मा ने जो एक मनोवैज्ञानिक तथ्य निकाल कर रख दिया कि अतृप्त वासना के साथ मृत्यु कामना चल पड़ती है, यह उनका एक कुतर्क ही कहा जा-सकता है। तृप्त वासना अन्त है। अतृप्ति जीवन की ओर विकसित करती है। यदि यह बात नहीं होती तो छायावादी चिंतन वाले, प्रगतिशील साहित्य में धीरे-धीरे अपना रास्ता नहीं खोज लेते, प्रगतिशील साहित्य से प्रभावित ही नहीं होते।

भाषा के प्रश्न पर शर्माजी का विकास सुन्दर हुआ है। कहते हैं 'भाषाओं के इस ताने बाने पर शब्दों को इधर से उधर भेजने वाली शक्ति न तो किसी भाषा, जाति या धर्म की है, न किसी एक मनुष्य की, (प्रगति और परम्परा पृ० ८) तथा आज हमारे देश में धर्म के आधार पर दो राष्ट्रों की कल्पना का जोरों से प्रतिपादन हो रहा है। कुछ दिन पहले तक यह अवैज्ञानिक, बुद्धिविरोधी बात केवल जिन्ना साहब और उनके अनुयायी कहते थे।

लेकिन अब उनके अनुयायियों की संख्या हिन्दू सम्प्रदायिकों के कारण बहुत बढ़ गई है। (प्रगति और परम्परा पृ० ८५) डाक्टर अधिकारी (कम्युनिस्ट पार्टी के नेता) ने पाकिस्तान हिन्दुस्तान और सिक्खिस्तान को बिल्कुल डाक्टर शर्मा की इस धारणा के विपरीत आधार पर बताया। एक समय डाक्टर शर्मा उनके सहायक थे। परिस्थिति बदलते ही तुरंत बदल गये। कहते हैं धर्म के आधार पर न दो राष्ट्र बन सकते हैं और न दो भाषाएँ और संस्कृतियाँ बन सकती हैं। (प्रगति और परम्परा पृ० ६२) कैफी आजमी की कविता—नये हिन्दोस्ताँ में हम नई जन्नत बसायेंगे' के प्रसंशक डाक्टर शर्मा ने फिर अपना रुख बदल दिया। यह असंगति यों है कि शर्माजी जिस दृष्टिकोण से हिन्दू-मुस्लिम समस्या को देखते हैं

वह मूलतः गलत है। वे उन्हीं विचारकों में है जिनका चिंतन ऐसा है 'मुसलमानों ने दया करके उर्दू में हिन्दी शब्द ले लिए'। यह असत्य है। वास्तव में मुसलमान कौन है। ऊंचे वर्गों के लोग जो शासक थे, वे तो ईरान आदि देशों से आये थे। बाकी यहीं के लोग थे। वे ब्राह्मण विरोधी बौद्ध आदि जो जाति-पांति के विरुद्ध थे, या वे शैव जो ब्राह्मण-धर्मविरोधी थे, मुसलमान हो गये। उन पर शासकवर्ग ने अपने को सबल बनाने के लिये धर्म और मजहब के नाम पर फारसी अरबी लादी और अपने सामंतीय स्वार्थों को बचाया, उन्हें ऊंची नौकरियाँ आदि देकर। हिन्दी उनसे नहीं छूट सकी, ऊपर फारसी लद गई। यह तो है एतिहासिक सत्य कि असल में मुसलमान यहीं के हैं। जो कट्टरता मजहब के नाम पर हुई वह ब्राह्मणवाद को अस्वीकार करने के कारण। बंगाल में तो बौद्धों ने 'मुहम्मदपुराण' तक लिखा। सिंध में ब्राह्मणों के विरुद्ध जाट और बौद्ध मुसलमानों से मिल गये। पर उलटे तरीके से सोचने पर होगा यह, कि हम भारत के मुसलमानों को विदेशी मानते रहेंगे। ऐसे ही दाराशिकोह की बात है।

मुगल अकबर के समय में हिन्दू-सामंतों की शक्ति नष्ट हो गई। वे सिर झुका गये। मुगलों ने साम्राज्यलिप्सा में ब्राह्मणवाद के असाम्य भरे समाज को कुछ वैसे ही स्वीकार कर लिया जैसे महारानी विक्टोरिया ने १८५७ के बाद एलान कराया था कि हमें भारत के धर्मों का हस्तक्षेप करने की इच्छा नहीं है। उस समय जब एक ओर महाराणाप्रताप उन स्वतंत्रता के प्रेमी सामंतों में थे जो सिर नहीं झुकाना चाहते थे, तुलसीदास के रूप में ब्राह्मण-वाद पुनरुत्थान कर रहा था।

और इस प्रकार वे जिहादी मुसलमान जिन्होंने एक समय इस्लाम के प्रगतिशीलतत्त्व—बराबरी—के लिये तलवार उठाई थी साम्राज्य के लोभ और मन्दिरों के धन के लिये व्याकुल थे, मुगल-काल तक अपने इस्लाम की प्रगतिशीलता को बिल्कुल भूल गये

और राज्य करने की इच्छा में उन्होंने जातिपाँति और सब कुछ ज्यों का त्यों छोड़ दिया। अकबर से लेकर शाहजहाँ तक मेल रहा। पर हिन्दू-सम्प्रदाय-समूह विराट था, आत्मसात करने की उसमें अद्भुत क्षमता थी। इस्लाम के उपदेश कुछ ऐसे बड़े अजीब न थे जिसे हिन्दू-सम्प्रदाय-समूह अपने भीतर मिला न लेते। ऐसे ही प्रयत्न हुए। अड़चन एक थी। मुसलमानों से पहले जो भी जातियाँ आईं थी उन्होंने ब्राह्मणों की भाषा संस्कृत को अपना लिया था, वे अपने मतान्तर लेकर यहीं के सम्प्रदायों में खो गये। परन्तु इस्लाम के साथ और बात थी। इस्लाम के पास समानान्तर सभ्यता-संस्कृति और भाषा थी। इस भाषाकी आड़ ने मेल नहीं होने दिया। बल्कि दोनों पक्षों के विशेषज्ञों को वर्ग-स्वार्थ बनाये रखने की शक्ति दी। दाराशिकोह के समय में इस्लाम के उच्च वर्ग के एक पक्ष ने इस्लाम को हिन्दू चोले अर्थात् संस्कृति में पेश करने का प्रयत्न किया। वह था अल्लोपनिषद्। उसे पढ़ कर ज्ञात होगा कि उसे वेद से निकला भी साबित करने की चेष्टा की गई है:—

"ऊं अस्मल्लां इल्ले मित्रा वरुणा दिव्याधत्ते इल्ले वरुणो राजा पुनर्दुः
हया मित्रा इल्लां इल्लल्ले, इल्लां वरुणो मित्रं तेजकामा ॥१॥
होतारमिन्द्रो २ सुरेंद्रा अल्लो ज्येष्ठं परमं पूर्णं ब्रह्मणं अल्लां ॥२॥
अल्लो रसूल महोमदरक, वस्प अल्लो अल्लां आदल्लांबुकमेकं
अल्लाबूक निखातकं ॥३॥
अल्लो पुरानुहतत्व अल्ला सूर्य्य चंद्रमा सर्वं नक्षत्रा अल्ला अग्नि वायु अल्ला॥४॥
अल्लो ऋषीणां सर्व दिव्यान् इन्द्रायपूर्वं माया अंतरिक्षः
अल्लो पृथिव्यंन्तरिक्षं:, विश्वरूपम ॥५॥
दिव्यानि धत्ते इल्ले वरुणोना, पुर्ददु इल्लांक वरू इल्लांक,
वरू इल्लाम इल्लेमतिल्लल्ला ॥६॥
अप्रल्लं इल्ल इल्ले अनादिरूपाय, अर्थर्णीं शामाहम् अल्लां,
रसहिजनन्या अ नुसिद्धजलचरान् प्राहष्ट कुरु करूपया असुर संहारिणी हं

अल्लो रसूल महम्मद रकक रस्म अल्ल अल्ला इल्ले इल्ले तिर इल्लल्ला ॥७॥
सहस्त्रा वर्तने न देव जालो भवति शतावर्तेन सर्ववश्यो भवति
त्रिमधुह वर्त्तेन सर्षपेन वा अत्यस्तवर्तने सर्वग्रहशान्तिर्भवति
इति अथर्वण संहितायां एकविंशति द्वारे सप्तविंशतिसुतिः
ऊं० अल्लात्वाः इल्लल्ला महम्मद रसूल अल्ला
ऊं० इल्लांक वर इल्लांक वर इल्लाम इल्लल्लेति ॥

अथर्व अ० २७ मं २१॥

यह था दाराशिकोह जिसे आज तक इतिहास के लेखक सिरफिरा कहते हैं। दाराशिकोह ने भाषा की दूरी मिटाने का प्रयत्न किया, और इसीलिये हिन्दूसामंत उसके पक्ष में थे। पर वे मौलवी और मुल्ला जो ईरान और तुर्की से प्रेरणा लेते थे वे इसे नहीं सह सके। उनका वर्गस्वार्थ इसी में था कि इस्लाम का कोई रूप ब्राह्मण पुरोहितों के हाथ में न चला जाय। ब्राह्मण तो पौरोहित्य की उँगली पकड़ कर जाति का पहुँचा पकड़ कर जीत लेने में सिद्धहस्त था। उसने जाट, गूजर आदि सबको स्वीकार कर लिया। इन जातियों की अपनी पंचायतें सब कुछ आपस में तय कर लेती हैं। जाट किसी भी जाति की स्त्री को लाकर बसा लेता है, चमारिन, महतरानी भी उसके यहाँ आकर शुद्ध हो जाती है। ब्राह्मण फिर भी उसे हिन्दू कहने में नहीं हिचकता। कारण है कि जाट ने सिर झुका कर ब्राह्मण का पौरोहित्य स्वीकार करके उसे अपने से ऊंची जाति का मान लिया। बस ब्राह्मण रज़ामन्द हो गया। पर इस्लाम के अनुयायी इस प्रकार झुकना नहीं चाहते थे। क़ायदे की बात ही यह है कि जिसकी अपनी एक संस्कृति है, दर्शन है, सामाजिक दृष्टिकोण है, वह विजेता होकर क्यों झुकेगा? हिन्दू और मुस्लिम जनसमाज सामंतीय समाज की अंधविश्वासी संस्कृति में आपस में दूर नहीं थे। अब उच्चवर्गों की ताक़त के लिये मुठभेड़ हुई। एक ने संस्कृत भाषा की संस्कृति पर जोर दिया, दूसरे की बचत फारसी और अरबी का आधार मानने में थी। मुठभेड़ हुई।

औरंगजेब जीत गया। इस मुठभेड़ का परिणाम हुआ—जगह्-जगह् हिन्दूसामंत फूट पड़े। मराठा, जाट आदि ब्राह्मणों की छाया में उठे। सिक्खों ने इस्लाम का समानान्तर रूप-सम्पदाय हिन्दी में बनाया और वह भड़क उठा।

यह है अंग्रेजों के आने के पहिले का वर्गसम्बन्ध और उसमें धर्म, भाषा, सस्कृति की समस्या। इसको डाक्टर शर्मा कहीं स्पष्ट नहीं करते, शायद सोच नहीं पाते। उनके सामने हिन्दू मुसलमानों की समस्या वही है, जो मूलतः विन्सेन्ट स्मिथ जैसों ने लिखी है, फकत फर्क है कि ये 'जनता' शब्द का बहुप्रयोग करते हैं और स्तालिन का गलत प्रयोग करते हैं।

यह प्रयोग जनवादी परम्परा ढूँढने में है। कहते हैं: 'मैं' (तुलसी) राम का भक्त किसी मनुष्य को सिर नहीं झुकाऊंगा, यह मनुष्यत्व को उठाने वाली गौरवभावना उनके छंदों में बार-बार फूट पड़ती है।' (प्रगति और और परम्परा पृ० ११०-१११) यह उद्धरण किस आधार पर है? तुलसी ने तो, कहा जाता है, कृष्ण के लिए क ।था:—

'तुलसी मस्तक तब नवै धनुषबान लेओ हाथ'।

यहाँ तुलसी की असहिष्णुता ही प्रगट होती है। कृष्णगीतावली लिखने वाले तुलसी को यदि सर्वप्रिय कोई है तो योद्धाराम—योद्धासामंत। भक्ति भी एक दासत्व है। वह तुलसी जिसने 'विनयपत्रिका' में भारतीय दरबार का ऐसा भव्य चित्र रखा, क्या उसकी भक्ति सूर की सी मानवीयता लिये है जिसमें परम सौख्य है? तुलसी को कलि का भय है, कलि ब्राह्मणवाद का नाश है।

डाक्टर शर्मा की, तुलसी को जनवादी साबित करने की सबसे बड़ी दलील है कि तुलसी सामंतों के अधीन नहीं थे, वे देवता के उपासक थे, अतः क्योंकि वे सामंतवादी नहीं थे, वे सामंतों के प्रशंसक नहीं थे, संत थे, वे जनवादी थे, पर यह एक अधूरा सत्य है। भारत में केवल यही दो प्रतिपक्षी हों ऐसा नहीं था। संतपरम्परा में दो

भेद थे एक संत परम्परा कबीर आदि की थी जो वेद विरुद्ध थी। जिसने वज्रयान और नाथ सम्प्रदाय का सामंतविरोधी रूप आत्मसात करके जाति-पाँति के विरुद्ध झंडा उठाया था। दूसरी संत परम्परा थी सूर और तुलसी की जिसने एक ओर निर्गुण का मज़ाक उड़ाया, दूसरी ओर वेदविहितमार्ग की प्रतिष्ठापना की। एक परम्परा उदार मानवीय परम्परा की थी, दूसरी संकुचित मनोवृत्ति की। तुलसी में करोड़ मुसलमानों का जिक्र ही नहीं। कबीर ने क्या कहा था? हिन्दू मुसलिम दोनों गलत हैं। एक संस्कृत के दास, दूसरे अरबी फारसी के। कबीर ने इसी से जन-भाषा को बहता नीर कहा। तुलसी ने ब्राह्मणवाद का पुनरुत्थान किया। उन्होंने ब्राह्मणों की वह धार्मिक परम्परा निभाई जो पुराण-कारों में थी। पुराणकार धर्मगुरु था। और तुलसी का पूरा 'रामचरितमानस' एक पुराण के रूप में लिखा गया है। काक-भुशुण्डि गरुड़ के सम्वाद, शिव-पार्वती सम्वाद, याज्ञवल्क्य भारद्वाज सम्वाद और किस रूप के प्रतीक हैं? क्या तुलसी से पहले के हिन्दी के साहित्य में कहीं किसी में यह पुराण का सा रूप है? नहीं है। रहा सवाल कि तुलसी ने मनुष्य सामंत के सामने सिर क्यों न झुकाया? इसलिए कि सर्वश्रेष्ठ सर्वशक्तिमान तो मुग़ल था, तुलसी उसे स्वीकार नहीं कर सकते थे। उनकी समझ में वही तो कलि के प्रसाद थे, और हिन्दू कोई ऐसा था नहीं जो टक्कर का हो। तो तुलसी ने आदर्श ब्राह्मण सेवी सामंत को सिर झुकाया— वह सामंत राम था, जिसके राज्य की कल्पना का सुख जब तुलसी ने उत्तर काण्ड में लिखा है तो न केवल एक 'यूटोपिया का सृजन किया है' वरन धर्मगुरु की भाँति निर्णय दिये हैं कि जो यह न करेगा वह नरक में जायगा, उसका सर्वनाश हो जायगा। श्रीमद्-भागवत् में भी ब्राह्मण के पतन पर खेद है। तुलसी में भी। तुलसी में खेद है कि हाय हम क्या थे, क्या हो गये? फिर वही बनो। पर शूद्रों को उपदेश है कि:—

वरनाश्रम निज निज धरम निरत वेद पथलोग,
चलहिं सदा पावहि सुखहिं नहिं भय शोक न रोग।
(उत्तरकाण्ड २०)

तथा—

विप्रचरन सेवक नरनारी।

तुलसी को संत के लक्षण में वेदज्ञान आवश्यक लगता है :—

सन्तन के लच्छन सुनु भ्राता, अगनित श्रुति पुरान विख्याता।

वे चाहते हैं—हिन्दू सामन्त योद्धा हों, सामंत स्त्रियाँ केवल आराम में पड़ी न रहें—

जद्यपि गृह सेवक सेवकिनी, विपुल सदा सेवा विधि गुनी।
निज कर गृह परिचरजा करई, रामचन्द्र आयुस अनुसरई॥

और तभी ब्राह्मण वेदविरोध पर खेद से कहता है:—

कलिमल ग्रसे धर्म सब लुप्त भए सद्ग्रन्थ,
दंभिन्ह निज मतिकल्पि करि प्रगट किए बहु पंथ।

द्विज श्रुति बेचक भूप प्रजासन, कोउ नहीं मान निगम अनुशासन।
निराचार जो श्रुतिपथ त्यागी, कलयुग सोइ ग्यानी सो विरागी।

निगम अनुशासन न मान कर श्रुति तो द्विज बेचने लगे?

हर ओर ब्राह्मणवाद का विरोध हो रहा था। कुछ इस्लाम की बराबरी के सन्देश से, कुछ लिंगायतों के कारण, एक दम निम्न जातियों ने जो कबीर, सैनानाई, दादू, रैदास आदि के रूप में बगावत की, तुलसी ने उससे टक्कर ली। नतीजा हुआ कि संत-परम्परा दब गई। प्रतिक्रिया में सामंतपक्ष ने जोर पकड़ा। रीति-काल का उदय हुआ। नंगी स्त्री की रति के वर्णन होने लगे। कवि दूसरी ओर चले गये। एक ओर हिन्दू उच्चवर्गों का एक पक्ष, जब नायिकाभेद लिख रहा था, दूसरे पक्ष ने सिर उठाया। गुरु तेगबहादुर, गोविन्दसिंह रामदास आदि ने सन्त परम्परा को निभाया।

तुलसी कहते हैं—जैसे पुराणकार फतवा दिया करते थे—

कृतजग सब जोगी विज्ञानी, करि हरि ध्यान तरहि भव प्रानी।
त्रेता विविध जग्य नर करहीं प्रभुहि समर्पि कर्म भव तरहीं।
द्वापर पद रघुपति पद पूजा, नर भव तरहि उपाय न दूजा।
कलिजुग केवल हरि गुन गाहा, गावत नर पावहिं भव थाहा।

यह है ब्राह्मण की सहूलियतें देने का रूप। और यह तब कहा है जब पहिले कह चुके हैं-श्रुति सम्मत पढ़िए—

भए बरन संकर कलि, भिन्न सेतु सब लोग।
करहिं पाप पावहि दुख, भयरुज सोक वियोग।
श्रुति सम्मत हरि भक्ति पथ, संजुतविरति विवेक।
तहि न चलहि नर मोह बस कल्पहिं पथ अनेक।

तुलसी का सबसे बड़ा काम रहा है कि उन्होंने ब्राह्मणविरोधी शैव सम्प्रदायों में से वे साथी खोज लिए जो वेद-विहित पथ मानते थे और इस प्रकार उन्होंने एक विराट मोर्चा इस्लाम के विरुद्ध तैयार कर दिया, जो इस्लाम के ही नहीं, उन सम्प्रदायों के भी विरुद्ध था जो वेद की श्रेष्ठता नहीं मानते थे जैसे जुलाहे और योगी आदि।

शङ्कर ने जैसे बौद्धों से लोहा लिया था, तुलसी ने भी धार मोड़ दी।

यदि वेद-विहित का यह बुलन्द नारा नहीं उठता तो सूफी कवियों की परम्परा नष्ट नहीं होती। रसखान आदि ने जो प्रेम-काव्य लिखे, वे व्यक्तिगत भक्ति के आदर्श थे। दूसरी ओर तुलसी की तुलना कीजिए। कुमारिल ने पृ० २०४ पर लिखा है—अद्यत्वेप्यहिच्छत्र मथुरानिवासि ब्राह्मणानां सुरापानम्। केसर्यश्वाश्तर खरोष्ट्रोभवद्दानप्रतिग्रहविक्रय व्यवहारभार्यापत्यमित्र सहभोजनाद्युदीच्यानाम्-इत्यादि अर्थात् अब भी ब्राह्मणी अहिच्छत्र और मथुरा में सुरापान करती हैं। उत्तर के बाद ब्राह्मण घोड़े, खच्चर, गधे, ऊंट बेचते खरीदते हैं। अपनी स्त्री और बच्चों के साथ एक ही थाली में खाते हैं। दक्षिणी ब्राह्मण मामा की बेटी ब्याहते हैं। उत्तर और दक्षिण दोनों के ब्राह्मण पका खाना बर्तनों में रखा हुआ भी खाते है

जो मित्रों आदि के खाने पर बच जाती है, सब वर्णों के छुए पान खाते है, खाकर आचमन नहीं करते, धोबी के धुले, गधों पर लादे, कपड़े पहनते हैं।

वरदराज ने गीर्वाणपदमंजरी में अनेक नियम दिये हैं—प्रत्येक देश में दुराचार हैं। दक्षिण में मामा की बेटी से ब्याह, कर्नाटक में बिना स्नान भोजन करना, महाराष्ट्र में बड़े के पहले छोटे भाई का विवाह, पार्वत्य प्रदेश में नियोग इत्यादि। (पृ० २२०-२२१)।

वरदराज का समय है (१६००-१६६० ई०)।

तो यह याद रखना आवश्यक है कि इस्लाम के आने पर धर्मशास्त्रों की मर्यादा जटिल होती गई। बीच-बीच में सन्तों की सहिष्णुता से प्रभावित होकर ब्राह्मणवाद ने अपनी रक्षा के लिए सहूलियतें दीं। ऐसे ही एक तुलसी भी थे।

संस्कृति और साहित्य पृ० ६३-६४ पर डा० शर्मा कहते है—'इस प्रकार वर्ग-संघर्ष दबा-दबा रहा और दूसरी-दूसरी समस्याओं से लोग उलझे रहे। इसलिए हम किसी मध्यकालीन कवि से आशा नहीं कर सकते कि वह वर्गसंघर्ष का स्पष्ट चित्रण करेगा, कि वह राजाओं और सामन्तों के विरुद्ध किसानों की मांग करेगा।' तथा 'खेती न किसान को भिखारी को न भीख बलि, बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी' इस प्रसिद्ध पंक्ति में तुलसीदास ने अपनी भौतिक जागरूकता का परिचय दिया है।' तथा (पृ० ६५) 'जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी, सोनृप अवसि नरक अधिकारी।'

तब स्पष्ट है कि तुलसी को डा० शर्मा ने गलत समझा। तुलसी में वर्गसंघर्ष दबा नहीं है, अगर हुआ है, केवल उसका रूप दूसरा है। डा० शर्मा भारत में किसान और सामन्त का संघर्षमात्र ही देखना चाहते हैं, उन्होंने यूरोप पर पढ़ा है। वे यह भूल जाते हैं भारत की सामन्तीय व्यवस्था सदियों तक नहीं बदली। उस समय ब्राह्मणवाद सामन्तवाद का प्रगट प्रतीक हो गया। यह जो अनेक नीच जातियाँ थी, क्या वे उत्पादन के अनेक साधन अपने हाथ में

नहीं लिए थीं ? बढ़ई, चमार, दर्जी, जुलाहा इत्यादि क्या थे ? इन्होंने बराबर ब्राह्मणवाद के विरुद्ध आवाज उठाई। तुलसी ने इसी आवाज को दबाकर उच्च कुलीन ब्राह्मण क्षत्रियों का साथ दिया।

फिर जिस 'खेती न किसान को' की दुहाई दी जाती है, वह क्या कलि के रूप में 'नरक अधिकारी' राजा अर्थात् वर्णाश्रमहीन राजा का पाप नहीं है ? तुलसी का 'जोर' किस पर है ? कलि पर। कलि क्या है ? वर्णाश्रम का नाश। तुलसी ने तभी गोरख पर लिखा है कि गोरख ने योग जगाकर वेद का नाश किया। "गोरख जगायो जोग" इत्यादि गोरख का विरोध भी यों कि वह वेदविरुद्ध था।

तुलसी ने अपने आदर्श को अपने युग में प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया। अपने युग में कलि का स्पष्ट रूप देखकर ब्राह्मण ने मुक्तरूप से उसका वर्णन किया। यह परम्परा तुलसी को पुराणकारों से मिली थी जो सदियों से कलि का वर्णन करते आरहे थे।

डा० शर्मा (पृ० ९६-९७) कहते हैं कि राम-राज्य की कल्पना द्वारा तुलसी ने मुक्ति-मार्ग दिखाया।' उन्होंने अभी यह अनुभव न किया था सामन्तवाद और राजसत्तावाद का अन्त होने पर ही इस उत्पीडन का अन्त हो सकता था। सामन्तवाद के साथ जातिय-प्रथा और वर्णाश्रम धर्म बंधा है।

पर डाक्टर कहते हैं यह युग की सीमाएँ थीं जिसे तुलसी न तोड़ सके। अपनी बात को कहकर काटना कोई शर्माजी से सीखे। हम तुलसी को जनवादी शायद भूल-चूक में मान भी जाते, पर कबीर और गोरख के रहते उन्हें ऐसा मानना असम्भव है। डा० महोदय कहते हैं—तुलसीदास की सहृदयता और तार्किकता में सदा सामंजस्य नहीं रहता। तर्कबुद्धि से जिस वर्णाश्रम-धर्म को वे श्रेय समझते हैं, उसी के विरुद्ध उनकी सहृदयता विद्रोह करती थी।.......और इसमें कोई सन्देह नहीं है कि उनका मूल-सन्देश यही है कि मनुष्य बड़ा होता है, अपनी मनुष्यता से. न कि जाति और पद से।'

कवि के हृदय और बुद्धि को अलग करके अंग्रेजों की भांति डा० शर्मा ने जो तुलसी का हिन्दुस्तान-पाकिस्तान जैसा विभाजन किया है, इसके लिए वे धन्य हैं। वे नहीं जानते कि न जाने कितनी गड़बड़ कर गये हैं।

विनयपत्रिका में तुलसीदास ने सामंतवाद के प्रति जो मर्यादा कायम की है, वह क्या दर्शनीय नहीं है? 'कलि' क्या है? क्या वह सामंतवाद का उत्पीड़न है? नहीं। वह वर्णाश्रम धर्म का नाश है, उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं।

संतों की सहिष्णुता के कारण तुलसीदास को शूद्रों को भी कुछ रियायत देनी पड़ी थीं। तुलसीदास केवल उच्च-वर्ग का—हिन्दू वर्णाश्रम-धर्म का प्रचारक था।

अब 'स्वान्तः सुखाए' की बात उठती है कि तुलसी दरबारी कवि नहीं थे, क्या केवल दरबारी होना ही सामंती-भाव प्रकट करता है? तुलसी से भी बहुत पहले जब श्रीमद्‌भागवत लिखी गई थी तब वह किस राजा के प्रभाव में लिखी गई थी? ब्राह्मणधर्म बड़ा जागरूक रहा है। उसने हर बदलते युग में अपने स्वार्थों और अधिकारों की बदलती चालों से रक्षा की है। दयानन्द के युग में ब्राह्मण धर्म ने और भी कई रियायतें दी थी। ब्राह्मणों की एक धर्म-गुरुपरम्परा थी वही भक्ति-आंदोलन बनकर भागवत में प्रगट हुई थी। व्यासपीठ महाभारतकाल में थी। पुराण भी किसी राजा विशेष के लिखाए हुए नहीं हैं। तो रही तुलसी की ब्राह्मणों पर व्यंग कसने की बात, सो भागवत में ही ब्राह्मणविरोधी भाव प्रगट होता है। तुलसीदास कलिकाल में प्रचलित पुराणों को पढ़ चुके थे, उनके काव्य का रूप भी एक पुराण का रूप है। इसे कोई अस्वीकार कर सकता है? उनका वर्णाश्रम धर्म-प्रचारक रूप इतना गहरा था कि वाल्मीकि के राम की मानवीयता वे नष्ट करके राम का ईश्वरत्व खड़ा करते हैं। वाल्मीकि रामायण शुंगकाल की रचना है, उस युग की जब सामंतकाल का प्रगतिशील कार्य चल रहा था।

तुलसीदास के राम-चरितमानस का पुराण का रूप उसके विषय को भी प्रभावित करता है। वाल्मीकि में वह बात नहीं है। दोनों काव्यों में दो युगों की स्पष्ट छाप है। तुलसी की पुस्तक सामंतकाल के गतिरोध और उसके ह्रास के समय लिखी गई है, वाल्मीकि की सामंतकाल के उदय के समय। तुलसीदास के लिखने का कारण है कि उस समय हिंदू उच्चवर्ण भी इस्लाम की राजनैतिक शक्ति के सामने सिर झुका गये थे। अधिकार घट रहे थे। उस समय तुलसी ने पुनरुत्थानवादी पुकार उठाई। इस तथ्य को स्पष्ट नहीं समझने के कारण गड़बड़ी अवश्य फैलती है। केवल दरबारी संस्कृति और परंपरा का उल्लेख करके यदि हम तुलसी को संतपरंपरा में रख उन्हें कबीर आदि के साथ गिना दें तो वह इतिहास से घोर अन्याय करना है। भारत में वर्गसंघर्ष के साथ ब्राह्मण प्रभुत्व जुड़ा हुआ है ब्राह्मण सामंतवाद का प्रतीक है। वर्गसंघर्ष को वर्णाश्रम जाति-संघर्ष ने बहुत दबाया था। ब्राह्मणवाद में धार्मिक रूप लेकर जो सामन्तीय दर्शन पल रहा था वह जन-परम्परा का पोषक कभी नहीं कहला सकता। वह सामंत समाज का पोषक था।

वाल्मीकि के आदिकाव्य पर भी शर्मा जी ने कृपा की है। संस्कृति और साहित्य पृ० २५८ पर कहते हैं 'रामायण की मूल कहानी उत्तर वैदिक-काल की है, अब आर्य मध्य भारत में अपनी संस्कृति फैला रहे थे।....कुछ पहले आने वाले आर्य अनार्य्यों के साथ घुलमिल भी गये, जैसे रावण। इसमें सन्देह नहीं जान पड़ता कि राम का विजय-अभियान नर्मदा तक पहुँच कर रुक गया था। इत्यादि।

डा० शर्मा निराधार तथ्य पेश करते हैं। रावण पुलस्य ब्रह्मा का वंशज था। वह आर्य्य था यह निश्चय से कौन कह सकता है? और नर्मदा वाली थ्योरी भी सर्वमान्य नहीं है। पर शर्माजी अपने पाठक से 'सम्भवत:' नहीं कहते, यह धारणा बना लेते हैं।

(पृ० २६०) आगे कहते हैं : 'यद्यपि राम ने शंबुक को मारा था, फिर भी वाल्मीकि ने रामायण पढ़ने में शूद्र का निषेध नहीं किया।

रामायण की कथा पुरानी थी, लिखी वह शुंगकाल के आस-पास गई। उस समय असंख्य जातियाँ भारत में घुस आई थीं। ब्राह्मण सहूलियतें दे रहे थे, बौद्धों से टक्कर थी और उस समय लिच्छवि आदि गणों की दास-प्रथा टूट कर 'सर्फडम' प्रारम्भ हुई थी, सामन्तकाल का उदय हुआ था। इसलिए राम के रूप में प्राचीन भाग्यवाद को सामन्त चुनौती देता है। रामायण दुःखान्त यों है कि सामन्तकाल ने अपने काल में प्रगति तो की, किन्तु वह सब समस्यायें सुलझा नहीं सका। इसलिए कवि जीवन के प्रति स्वीकारात्मक दृष्टिकोण रखकर भी, भोग प्रधान बनकर भी अन्त में पुराने त्याग की ही प्रशंसा करता है। चाणक्य के समय के अर्थशास्त्र (कौटिल्य) में तो दासों को बेहद सहूलियतें दी गईं। ग्रीक्स को भारत में दास-प्रथा नहीं मिली। पर जब कौटिल्य में मिलता है कि दासी से बलात्कार नहीं होगा, दास यों नहीं बिकेगा तो, प्रगट होता है, पहले यह होता था। सामंतवाद का उदय जब हुआ, तो उसने दास-प्रथा (स्लेवरी) को तोड़ा और फिर एकच्छत्र राज्य बनाने का प्रयत्न हुआ। उस समय सामन्त में स्फूर्ति थी, शक्ति थी। तभी राम कहते हैं:—दैव ने जो अपमान किया है, उसका मनुष्य होकर मैंने प्रतिकार किया है।'

डा० शर्मा ने आदि-काव्य के लेख में वाल्मीकि की प्रतिभा दिखाने में विलासिता पर इतना जोर दिया है कि उनको स्त्रियों की विभिन्न मुद्राओं के वर्णन से खजुराओ की नग्न प्रस्तर मूर्तियों की याद आजाती है। (संस्कृत और साहित्य पृ० २६६) गनीमत है। गनीमत है।

संसार का इतिहास बताता है कि मनुष्य जब सामन्तयुग में आया है, तब उसने प्रारम्भ में देवोपासना के स्थान पर मनुष्य की प्रतिष्ठा को स्थापित करने का प्रयत्न किया है। यही कारण है वेद,

उपनिषद् ब्राह्मणों के बाद जब रामायण आई तो इसने एक नया समाज प्रस्तुत किया, नई शक्ति उपस्थित की।

यह निस्सन्देह है कि राम जिस काल में हुए थे वह बहुत पुराना था, परन्तु जब आदिकाव्य का प्रस्तुत रूप तैयार किया गया तब दूसरी परिस्थिति थी।

दास-काल के ह्रास में सामन्तवाद के उदय के दर्शन जो श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में है उसमें 'स्टेट एबव' 'राज्य सबसे श्रेष्ठ' पर जोर दिया गया है, और रामायण में यद्यपि उसके निर्मित्त मात्र की झलक तो है, पर राम का पौरुष अपार झलकता है। यही कारण है कि जब गीता सन्यासियों की पुस्तक बन कर रह गयी है, कृष्ण की प्रतिज्ञा कि धर्मस्थापना होगी, अधूरी रह गई, महाभारत युद्ध के बाद कलि आगया, रामायण ने संघर्ष का पथ पकड़ा है। रामायण ने युगों तक मनुष्य के गौरव को जगाया है।

तुलसी के राम में बाल्मीकि वाले राम का गौरव नहीं है। यह नहीं कि तुलसी ने राम का भव्य चित्रण नहीं किया। किया है, पर वह ऊंचाई नहीं आसकी, इसलिए कि वाल्मीकि के राम को तुलसी ने देवता बना दिया है। वह सामन्तकाल के उदय और समृद्धि का युग था जब भवभूति के उत्तररामचरित ने राम को क्षमा करने से अस्वीकार कर दिया था, पर तुलसी तो उनके राजा के रूप में दब गये। यों तुलसी ने पुनरुत्थान की भावना से राम का दूसरा ही रूप प्रस्तुत किया है।

राम को भगवान बना कर तुलसी ने सामन्तकाल के आरम्भ को लौटाना चाहा पर उस समय सामन्तकाल अपने गतिरोधों से ह्रास के पास आचुका था। उसके ह्रास का ही रूप रीतिकाल था, जब संस्कृति और काव्य स्त्री की देह में आकर सिमट गया और गिलगिली सेजों में दब गया, चहबच्चों में डूबने लगा। उसमें कालिदास के श्रृङ्गार की सी मस्ती नहीं थी, साहस नहीं था, क्यों कि वह अपने लिये कृष्ण और राधा जैसे देवता और देवियों के

आधार ढूंढ़ता था, इतना साहसी नहीं था कि अपने भोग और विलास को स्वच्छन्दता से स्वीकार कर लेता। इसका कारण था कि कालिदास ने जहाँ स्त्री के रूप और विलास का बयान किया था, उसके साथ ही उसने शकुन्तला को उठाया था। महाभारत में लिखा है कि शकुन्तला ने अपने पुत्र को राजा बनवाने का बचन लेकर दुष्यन्त से विवाह किया, किंतु कालिदास ने स्त्री-प्रेम को और भी गौरवमय बनाया। तुलसी ने क्या किया ? थोड़ा-सा मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है। कुछ स्त्री के जीवन की परवशता पर प्रकाश डाला है। न वाल्मीकि की सीता की भांति उनकी सीता वह गौरव रखती है, न शकुन्तला की भाँति कोई उनकी पात्री 'अवला' सुनकर चुनौती देती है। इस सब को न समझ कर तुलसी को जनवादी कहना इतिहास के साथ अन्याय करना है। इसलिए शर्माजी कहते हैं:-"हिंदी के अधिकांश आलोचक मुस्लिम समाज के उस एक रूप को भूल जाते हैं जो जनतान्त्रिक भी था। गोस्वामी तुलसीदास और अन्य भक्त कवियों का महत्त्व घोषित करते हुए वे कहते हैं इन्होंने इस्लाम के आक्रमण से हिंदू समाज की रक्षा की। शास्त्रों की निरंकुशता और उनके एकछत्र शासन को चुनौती देकर हिंदू समाज में जनवादी भावनायें फैलाकर उन्होंने उनकी रक्षा की। परन्तु इन आलोचकों के विचार से भक्त कवियों ने उसी प्राचीन समाज व्यवस्था की रक्षा की जो भीतर से खोखली होने के कारण अब ज्यादा दिनों तक जीवित न रह सकती थी। हो सकता है इस्लाम के प्रचार का कारण उसका जनत्रांतिक रूप था जो मध्यकालीन वर्णाश्रम धर्म की अपेक्षा मनुष्य के मनुष्यत्व को मानने के लिए तैयार था। आज के विषम वातावरण में अपने "विरोधियों" की इन बातों को हम स्वीकार नहीं करना चाहते जिन से हमारा हित भी हो सकता है।' (प्रगति और परम्परा पृ० १८८-१८९)

यह है कि डा० शर्मा की विवेचना पद्धति। स्वयं तुलसी को मुगलों के विरोध में पहले दिखा चुके हैं। पर अब तक वे एक

जगह एक बात कह कर दूसरी जगह बदलते थे। यहाँ एक ही जगह विरोध है। जब वे जवाब नहीं दे पाते तो याज्ञवल्क्य की भाँति गार्गी से कहते हैं:—मत पूछ! तेरा सिर कट कर गिर पड़ेगा। मार्क्सवाद की चरम अभिव्यक्ति डा० शर्मा में हुई है, वही तर्क है कि यह थ्येटर बुनर्जुआजी ने बनाया था—ढहा दो। लेनिन का पहचान यही है? जब वे अपने हित की बात नहीं स्वीकार करते तो हम क्या कह सकते हैं?

ऐसा ही तर्क वे तब करते हैं जब कहते हैं—'साधु हिन्दी और बंगला की समानता संस्कृत की भूमि पर है जब कि ग्रामीण भाषाओं की समानता संस्कृत से इतर पाली और प्राकृत की भूमि पर है (प्रगति और परम्परा पृ० १६८) यह उत्तर शर्माजी ने तब दिया है कि जब आचार्य्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कहा है:—"भारतीय जनता अनादि काल से चली आती हुई मनोवृत्ति के अनुकुल होने के कारण ही संस्कृत बहुल भाषा इतनी तेजी से बढ़ गई।"

द्विवेजी ने निम्न और उच्चवर्ग का यहाँ कोई भी प्रश्न नहीं उठाया। पर शर्माजी को अपने को मार्क्सवादी साबित करना है। वे यह भूल गए कि जिस अलौकिक संस्कृत का उदय भारत में हुआ वह आरम्भ में मेरठ प्रदेश की बोली थी वहीं की जहाँ कि आज खड़ी बोली है। उसका वैदिक संस्कृत से उतना ही सम्बन्ध है जितना प्राकृत और पाली का। ग्रामीण भाषाओं का विकास अपनी इसी पृष्ठभूमि पर हुआ है।

पृ० २०० 'प्रगति और परम्परा' वे कहते हैं:—'लेकिन अगर द्विवेदीजी की हिंदी और उनके आदेशों के अनुसार लिखी हुई हिंदी कविता की तुलना भारतेन्दु-युग की हिंदी से करें तो यह जाहिर हो जायगा कि जिस अस्वाभाविक उच्चारण की बुनियाद पर नये हिंदी के छन्दों में कविता रची गई है, उसका बहुत बड़ा श्रेय आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदीजी को है।'

अर्थात् खड़ी बोली काव्य का आरम्भ तथा छायावाद के युग की भाषा चन्द लेखकों ने गढ़ली और अस्वाभाविक वह थी ही। द्विवेदी जी ने साहित्य का घोर अहित किया।

इसके बाद हम निरालाजी पर डाक्टर शर्मा का वक्तव्य पढ़ें।

"बातचीत में भी वह (निराला) कभी अपनी कविता में समाजवाद सिद्ध करते हैं, कभी छायावाद के समर्थन में कहते हैं—"यदि अनंत न होगा तो तुम अपनी डोली रखोगे कहाँ! इसी से निराला जी का मानसिक द्वन्द्व समझा जा सकता है। वह दोनों ही लक्ष्यों की ओर झोंका खाते हैं परन्तु उन्हें शान्ति किसी ओर नहीं मिलती। अपने इस द्वन्द्व से ही वह अपनी शक्ति का परिचय देते हैं।" (संस्कृत और साहित्य पृ० ४६-५०)

निरालाजी का व्यक्तिवाद और समष्टिवाद दोनों ही डाक्टर शर्मा को प्रिय हूँ, वे यहाँ पर याद भी नहीं करना चाहते कि पलायनवाद और शाश्वतवाद प्रगतिशीलता को जड कहते हैं।

प० ५८ संस्कृति और साहित्य में वे कहते हैं तब ईश्वर से असंतुष्ट होने वाला कोई व्यक्ति यह कह बैठता है कि ईश्वर नहीं है, उसे ईश्वर को सबसे बड़ा भक्त समझना चाहिये। नास्तिक वे नहीं हैं जो ईश्वर का विरोध करते हैं, वरन् वे हैं जो उसका नाम नहीं लेते।

यह तर्क डा० शर्मा ने दिया है कि प्रगतिशील कवियों पर से नास्तिकता का लाञ्छन मिटाने के लिए। अद्भुत है।

नजरुल इस्लाम और शरच्चन्द्र चटर्जी तथा 'देश-द्रोही' पर जो आलोचना डा० शर्मा ने लिखी है, वे एक मानसिक विकृति की लक्षण-मात्र हैं। प्रायः उसमें सब ही अनर्गल है, उसे हम कहाँ तक उद्धृत करें।

डाक्टर शर्मा ने काफी लिखा है, पर वर्षों के इस श्रम में निरंतर सिद्धांतहीन रूप से बदलते रहे हैं। उनका मार्क्सवाद उनकी बौद्धि-

कता का परिचय नहीं देता उनमें एक 'जिहादी' का सा जोश है कि कहीं लोग मुझे लोग 'नेता' समझना न छोड़ दें।

यह असंगतियाँ उनमें न हों तो कोई कारण नहीं कि वे उन्नति नहीं करें, परिश्रम से उनका भविष्य उज्ज्वल हो सकता है। अवसरवादिता तो उल्टे नुकसान ही करती है।

हम आशा करते है कि वे ध्यान से सोचेंगे और मनन करेंगे, और आलोचना जैसे गम्भीर विषय पर ऐसे ही कलम नहीं चला दिया करेंगे। केवल पढ़ना नहीं, पढ़कर समझना, सुनना भी आवश्यक है।

४—हिन्दी साहित्य के पहले का भारत: संक्षिप्त विवेचन

कुत्सित समाज-शास्त्र इतिहास के गलत विवेचन से प्राप्त होता है, हिन्दी में ब्राह्मण, बौद्ध, और जैन सम्प्रदायों का इतिहास ठीक से न समझने के कारण यह भूल जन्म लेती है।

इसलिए हम यहाँ अपनी भाषा के प्रारम्भ काल के सम्बन्ध में विवेचन करके पहले अपने चिंतन की पृष्ठभूमि को स्पष्ट कर देना आवश्यक ससझते हैं।

हिन्दी साहित्य का प्रारम्भ लगभग ७६० ई० से पाया जाता है। सरहपा हिन्दी का आदि कवि माना जाता है। किन्तु सरहपा जैसा मँजा हुआ कवि जिस भाषा में हुआ है, उसे यह सोचकर कि अचानक उसने ऐसी भाषा गढ़ली होगी, अतः वहीं से भाषा का प्रारम्भ भी मान लिया जाय, यह एक अनर्गल सी बात प्रतीत होती हैं। कवि को कविता लिखने के लिये भाषा चाहिये। भाषा को संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया, प्रत्यय, उपसर्ग, विशेषण इत्यादि चाहिये। इनकी सबकी सम्मिलित, नियमबद्ध व्यवस्था के प्रतीक शब्द वाक्यों को ही भाषा कहते हैं। यह भाषा जनता में भी प्रयुक्त होनी चाहिये अन्यथा वह दो-चार लोगों की ही समझने की भाषा होगी। अतः हम कह सकते हैं कि हिन्दी का आदिरूप अर्थात् अपभ्रंश भी सरहपा से प्राचीन रही होगी। सरहपा के समय में तो वह फली फूली अवस्था में थी।

साहित्य में आने के पहले ही भाषा के इतने विकसित होने की आवश्यकता होती है कि वह विचारों को प्रगट कर सके, माध्यम बन सके, और उनका आदान प्रदान कर सके। अन्यथा कहने वाले

की बात सुनने वाला नहीं समझ सकता। तब यह निश्चित हुआ कि ७६० ई० से पहले ही हिन्दी का प्रारम्भ हुआ था, बल्कि ७६० ई० में तो वह इस योग्य हो गई थी कि उसका उदर साहित्यिक रचना को गर्भ में रखने के योग्य हो गया था।

७६० ई० से इस अपभ्रंश का साहित्य हमें १२०० ई० तक मिलता है। यह समय लगभग ५०० वर्ष है। यहाँ से भाषा का रूप तत्सम प्रधान होने लगा, बदल गया। बदलने की क्रिया कम से कम २०० वर्ष पूर्व प्रारंभ हुई होगी, तभी तो उसने अपना सिर उठा दिया। साहित्य की एक भाषा जब मँज जाती है तब कविगण शीघ्र सम्मान पाने के लिये, या अपनी सीमाओं और परम्पराओं से बद्ध होकर तब तक उसी में रचना करते रहते हैं जब तक लोग उसे समझ सकते हैं। आज भी आसान भाषा लिखना कविगण मुश्किल पाते हैं, और अपनी छायावादी युगीन भाषा को ही चलाते रहते हैं। काव्य अब एक नई भाषा माँग रहा है, जो अधिक व्यापक हो सके। इसी प्रकार अपभ्रंश परम्परा भी रही। यही तथ्य यह भी प्रगट करता है कि यह सरहपा से कितनी पुरानी रही होगी।

एक और बात ध्यान देने योग्य है। खड़ी बोली का साहित्य खड़ी बोली के प्रचलन की कई शताब्दियों के बाद लिखा गया।

लोग कबीर में खड़ी बोली का पुट पाते हैं। किन्तु खड़ी बोली का तब कोई साहित्य नहीं था। खड़ी बोली में साहित्य क्यों बढ़ा यह विचारणीय है। अवधी, राजस्थानी, ब्रज के रहते हुए भी ऐसा हुआ, जबकि इन तीनों में विराट् साहित्य पहले से ही था, ऐसा साहित्य जो संसार के किसी भी मध्यकालीन साहित्य से टक्कर ले सकता है। किन्तु खड़ी बोली व्यापारियों और फौजियों के द्वारा भारत भर की भाषा बनती जा रही थी, अर्थात् इसके समझने वाले अधिक हो गये थे। जब समझने वालों की संख्या बढ़ गई, तब इतिहास की आवश्यकता भी यही थी कि ऐसी भाषा में साहित्य लिखा जाये, जिसे अधिक से अधिक लोग समझ सकें।

उस समय यूरोपीय भाषाओं से सम्बन्ध भी हो चुका था। गद्य की आवश्यकता बहुत जरूर हो गई थी। इसलिये ऐसी बोली (खड़ी) की आवश्यकता थी जो सहज ही गद्य के माध्यम से खरी उतर सके। दूसरे खड़ी बोली के दो रूप थे, एक संस्कृतमय, दूसरा फ़ारसीमय अर्थात् हिन्दी और उर्दू शैली। यह भाषा आगे बढ़ी। ऐसे ही अपभ्रंश भी जब व्यापक हो गई तब इतिहास की आवश्यकता के कारण यह जरूरी हो गया कि इसमें साहित्य सृजन हो, और ५०० वर्ष तक इस भाषा का प्रभाव अखण्ड रहा।

तब यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी साहित्य यदि लगभग ७६० ई० से प्रारम्भ होता है, तब उसकी पृष्ठभूमि लगभग २०० वर्ष और पुरानी होनी चाहिये, क्योंकि यद्यपि उस समय साहित्य लिखित नहीं था, तथापि उसके मुहावरे आदि जनता में तभी बन रहे थे। अर्थात् ७६० ई० – २०० ई० = ५६० ई०। सम्राट हर्षवर्द्धन मौखरिवंशीय थे। उनकी राजधानी कान्यकुब्ज (कन्नौज) थी, उनकी मृत्यु ६४७ ई० के लगभग बताई जाती है।

सम्राट हर्ष की राजधानी का प्रभुत्व भारत में १२०० ई० तक बना रहा। कन्नौज एक विशाल केन्द्र था। इसका महत्त्व पाटलिपुत्र के बाद बढ़ा था। पाटलिपुत्र का महत्त्व भारत में ईसा से लगभग ४०० वर्ष पूर्व बढ़ा और गुप्त सम्राटों के समय तक अर्थात् ६ ठी शताब्दी तक रहा। छठी शताब्दी हमारी हिन्दी के आदिकाल की भाषा का प्रारम्भ काल है। अतः हम कह सकते हैं कि कन्नौज के उदय के साथ हिन्दी का प्राबल्य बढ़ा। हिन्दी का विकास जिस प्रकार की राजनीतिक और एतिहासिक परिस्थितियों में हुआ उनको जान लेना आवश्यक है। गुप्तसाम्राज्य का युग, हमारी हिन्दी की पृष्ठभूमि है। इस युग की छाप हमारे प्रारम्भिक काल पर पड़ी है। उससे भी अधिक हर्षवर्द्धन के युग की छाप मिलती है। किन्तु छाप का अर्थ यह नहीं समझना चाहिये कि इस युग

की नकल मिलती है, वरन् यह भी कि हिन्दी उस प्राचीन के विरुद्ध प्रतिक्रिया बन कर उठ खड़ी हुई है।

यहाँ हम पहले तत्कालीन राजनैतिक और ऐतिहासिक परिस्थितियों का विवेचन करना आवश्यक समझते हैं।

हम अन्यत्र भारत के प्राचीन काल पर प्रकाश डाल चुके हैं और उसी शृङ्खलाओं की कड़ियों को भी सामने ला चुके हैं।*

इतिहास भूगोल से प्रभावित होता है। भौगोलिक परिस्थिति का उसके उत्पादन के साधनों पर भी प्रभाव पड़ता है। उसके कारण समाज की व्यवस्था पर उसका असर होता है। धर्म, दर्शन, कला, संस्कृति, वेष-भूषा, भाषा, सब ही पर उसका थोड़ा अधिक करके प्रभाव पड़ता है। हिन्दी की विवेचना के पूर्व हमें संक्षेप में पहले यह देख लेना चाहिये कि हिंदी पर भूगोल का क्या प्रभाव पड़ा है? हिंदी के विषय को हम अलग करके नहीं देख सकते क्योंकि हिंदी का विकास भारतीय इतिहास का विकास है। भारतीय इतिहास की विशाल परम्परा में हिंदी का जन्म हुआ है। राहुल ने संस्कृत को परदादी, पाली को दादी, प्राकृत को माता, और अपभ्रंश अर्थात् हिंदी के आदिरूप को पुत्री बताया है। (हिन्दी काव्य-धारा-भूमिका) इस पुत्री ने परदादी से अपने भण्डार को न केवल शब्दों के द्वारा भरा है, वरन् छंद, विचार तथा दर्शन आदि से भी भरा है। इसे हिंदी ने भरा है न कह कर हमें कहना चाहिये कि हिंदी का प्रयोग करने वाली जनता ने भरा है। जनता की अविच्छिन्न धारा को बीच में से काटा नहीं जा सकता है। अतः उसको अबाध

---

*देखिये—रांगेय राघव कृत—'प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास' 'गोरखनाथ–भारतीय मध्ययुग के सामन्त काल का मनन,' 'भारतीय चिंतन' 'भारतीय पुनर्जागरण की भूमिका' 'संगम और संघर्ष' तथा 'हिन्दी साहित्य की धार्मिक पूर्वपीठिका।

गति को जानने के लिये थोड़ा पीछे हटकर भी देखना आवश्यक है, क्योंकि भाषा पर अंततोगत्वा, जातीयता इत्यादि का भी प्रभाव पड़ता है। जातीयता पर भूगोल का गहरा प्रभाव रहता है। भारत एक विशाल भूखण्ड है, जिसके उत्तर में हिमालय और दक्षिण में महासमुद्र है। उसके बीच में विंध्याचल है, जिसने प्राचीन काल में भारत में उत्तर दक्षिण के सम्बन्ध काफ़ी रोके हैं। भारतीय इतिहास में अनेक विशेषताएँ हैं। यहाँ भूगोल को ऐसा नहीं माना गया कि वह अपने प्रभाव से अन्य क्षेत्रों को दबा सके। भारतीय प्राचीन व्यवस्था में भारत की एक ही सीमा नहीं रही है, वरन् वह बदलती रही है। प्राचीन काल में दिल्ली प्रदेश भारत का एक प्रमुख केन्द्र था। उस समय दक्षिण में उसका प्रभाव नहीं था। उससे भी पूर्व उत्तर पश्चिम में तक्षशिला और पेशावर में भारतीय आर्यों का केन्द्र था। तत्कालीन संसार में पूर्व में ताम्रलिप्ति का प्रभाव अटूट था। पाटलिपुत्र का उदय हमारे इतिहास में नदियों के व्यापार के साथ हुआ। जैसे-जैसे नदियों के द्वारा पुराने जहाज पूर्व की ओर बढ़ने लगे, व्यापार का समस्त संतुलन बदलने लगा और दिल्ली प्रदेश के स्थान पर पाटलिपुत्र का उदय हुआ। यहाँ हम साधारण रूप से भूगोल के उन रूपों को नहीं देखते, जो प्रायः हर इतिहास में मिल जाते हैं। हम उन्हीं रूपों को देखेंगे जो हमारे लिये महत्त्वपूर्ण हैं।

पाटलिपुत्र के बाद कान्यकुब्ज का उदय हुआ। कान्यकुब्ज के बाद फिर दिल्ली भारत की राजधानी बन गई। यही हमारे विकास की तीन सीढ़ियां हैं, जिनमें से हिंदी पनप सकी है। पाटलिपुत्र का प्रभाव ईसा की २०० ई०पू० से लेकर ५ वीं शती तक रहा। ५ वीं से लेकर १३०० ई० तक कन्नौज का प्रभाव रहा। १३०० ई० से लेकर आज तक दिल्ली का प्रभाव रहा है। पाटलिपुत्र युग के अंतिम काल में हिंदी का उदय प्रारंभ हुआ। यहीं वे परिस्थितियां हैं जिन्होंने हिंदी को जन्म दिया। कन्नौज काल में हिंदी अपने शैशव

से उठी और तरुणाई की ओर अग्रसर हुई। दिल्लीकाल में उसका अनेक प्रकार से विकास हुआ।

इन तीन रूपों में भूगोल ने क्या क्या प्रभाव नहीं डाले? पर्वतों, नदियों, वनों आदि ने रहने के स्थानों की योग्यता और अयोग्यता प्रमाणित की, और जातियों के आवागमन पर भी अपना प्रभाव डाला। उत्तर में खैबर का दर्रा ईरान आदि देशों से प्रारम्भ से ही सम्बन्ध रखता आया है। उत्तर ही उत्तर में काश्मीर से होकर तिब्बत रें पहुँच जाना भी भारतीयों के लिये कठिन नहीं था। खेती के लिये विशाल कर्मान्त बन कर गंगा सिंधु का प्रदेश भारत में पड़ा रहा, जिसमें पानी के लिये आकाश की ओर ताकना पड़ता था। इस अनिश्चित जलदान की ओर आशा लगाने से, भविष्य दैव के अधिकार में चला गया, जिसके फलस्वरूप भाग्यवाद ने भारत में अखण्ड प्रभाव छोड़ा।

भारत के बन्दरगाह प्रागैतिहासिक काल से ही संसार के अन्य भागों से व्यापार करते रहे हैं। इन समुद्री व्यापार केन्द्रों के पुराने रूपों में हमें पोलिनेशियन आदि जातियों का आवागमन दिखाई देता है। बाद में मिस्र, बैबीलोनिया, रोम, अरब, तथा चीन तक भारत के जहाज जाते थे। सुमात्रा, जावा तो उनके लिये आना जाना साधारण सी बात थी।

भूगोल के इस प्रभाव ने इतिहास को नवीन युग के समीप समुद्री सम्बन्धों से ही लाकर खड़ा किया था।

हमारा हिंदी का युग कन्नौज काल से प्रारंभ हुआ है। विद्वान लोग इस काल को पूर्वमध्यकाल कहते हैं। हिंदी के काल को मध्यकाल कहा जाता है। किन्तु भारतीय इतिहास की यह व्याख्या गलत है। पहले यह देखना आवश्यक है कि इतिहास के काल विभाजन का आधार क्या है।

धर्मपरिवर्त्तन, वेश परिवर्त्तन, या भाषा का बदलना, अथवा राजवंश और राजसीमा का बदल जाना, इनमें से कोई भी इतिहास

के कालविभाजन का आधार नहीं होता। समाज शास्त्रियों और आचार्यों ने इस बात को स्वीकार किया है कि समाज की आर्थिक व्यवस्था का परिवर्त्तन ही मूल परिवर्त्तन है। आर्थिक ढाँचे पर ही समाज के समस्त अंग निर्भर रहते हैं, उसी से सब पर प्रभाव पड़ता है। जब समाज का आर्थिक आधार बदलता है तब दर्शन, धर्म, राजनीति, इत्यादि भी बदलने लगते हैं। समाज का आर्थिक ढाँचा निम्नलिखित कारणों से बदलता है:—

१—उत्पादन के साधनों में परिवर्त्तन आ जाने से, श्रमविभाजन पर अंतर पड़ जाता है।

२—श्रम विभाजन की व्यवस्था में अंतर पड़ जाने से समाज की जातीय अथवा वर्णव्यवस्था, अथवा राजव्यवस्था में भी अंतर पड़ता है।

३—दर्शन और धर्म यद्यपि पुरानी बातों को लेकर चलते हैं, परन्तु उनमें नये युग की नई समस्याओं को सुलझाने की आवश्यकता आ खड़ी होती है और यद्यपि वे कोरी पटिया पर लिखना प्रारंभ नहीं कर देते, परन्तु नयापन, नये विचार, नये सुधार उनमें आ जाते हैं।

४—भारत में धर्म समाज का नियमन है। उसके बदलने से पारस्परिक समस्त सम्बन्धों में परिवर्त्तन होता है।

५—किन्तु यह परिवर्त्तन एक रेखाखींचकर इधर-उधर बाँटे नहीं जा सकते, क्योंकि—

(अ) परिवर्त्तन एक दिन में नहीं, वरन् काफी वर्षों में होता है।

(आ) परिवर्त्तन एक व्यक्ति नहीं करता, वरन् पूरा समाज मिल कर उसे कर पाता है।

(इ) अतः विभाजन कठिन हो जाता है। यह और भी कठिन भारत में इसलिये है कि यहाँ समाज की व्यवस्था का कहीं भी क्रांति से अचानक बदल जाने का प्रमाण नहीं

मिलता जैसे फ्रांस में सामंतीय व्यवस्था के स्थान पर बुर्जुआ वर्ग उठा था, या रूस में सामंतीय पूँजीवादी व्यवस्था पर साम्यवाद स्थापित हुआ था। यहाँ क्रान्ति का स्थान अभी तक विकास ने लिया है।

(ई) विकास धीरे-धीरे होता रहा है। उसमें धीरे-धीरे ही परिवर्त्तन हुए हैं।

(उ) भारतीय, उत्पादन के साधन पर निर्मित, समाज में केवल वर्गव्यवस्था नहीं रही है, यहाँ वर्ण व्यवस्था भी रही है जो है तो वर्ग व्यवस्था का ही पर्य्याय किन्तु उसका भेद एक कारण से रहा है—वह है जातियों का बाहुल्य और जातियों के बाहुल्य से अधिक विचित्र है उन बहुला जातियों की पारस्परिक अंतर्भुक्ति और अंतर्भुक्ति के कारण नये रूप से समाज की अवस्था का निर्माण।

६—उत्पादन के साधन मशीन पर निर्भर करते हैं। मशीन का अर्थ है—कोई भी औज़ार। पाषाणकालीन मनुष्य का पत्थर का फलक लगाने वाला, मछलियों को मारने वाला, भाला भी एक मशीन है। हल, करघा, तकली, यह सब मशीन हैं। विभिन्न जातियों ने भारत में यहीं रह कर, या बाहर से आकर, इन औजारों को बढ़ाया है। परन्तु वे ऐसी मशीन नहीं बना पाये जो खेती प्रधान भारत की आर्थिक व्यवस्था को बदल सकती।

अब इन तथ्यों को देखने के उपरान्त हमें अपने भारतीय इतिहास पर दृष्टिपात करना चाहिये।

भारत का प्राचीनकाल प्रागैतिहासिक काल से प्रारंभ होता है। यहाँ आग्नेयपूर्व, आग्नेय, द्राविड संस्कृति वाली, तथा किरात पारवारीय, और देवयुगीन जातियाँ थीं उन्होंने शिकार की अवस्था से धीरे-धीरे विकास करके खेती तक कदम बढ़ाया और उनके समय के बीच ही मातृसत्ताक समाज पर पितृसत्ताक समाज का उदय हुआ।

फिर जातियाँ परस्पर मिलीं। खेती बढ़ी और दासप्रथा का विकास हुआ। उत्पादन बढ़ा। समाज ने प्रगति की, किंतु कालांतर में दास-प्रथा समाज का बंधन बन गई।

नदियों का व्यापार पूर्व की ओर खींचले चला। यह पाटलिपुत्र युग का उदय होने का समय है, यह चाणक्य का समय है। छोटे-छोटे रक्त और कुल गर्व के प्रतीक क्षत्रियगण जो दासप्रथा के रक्षक थे, वे लड़खड़ा गये, सामंतवाद अपने समय की मुक्ति का निनाद बन कर गूंजा। इसके मूल में था नदियों द्वारा व्यापार बढ़ने पर व्यापार के संतुलन में परिवर्त्तन का आ जाना।

तब हमारा मध्यकाल चाणक्य से प्रारंभ होता है। यह हम लगभग-तिथि रूप में मानते हैं। चाणक्य के समय में सामंतकाल एक ओर विदेशी आक्रमणकारियों से जनता को बचा रहा था, तो दूसरी ओर वह दर्शन के क्षेत्र में मनुष्य का गौरव उठा रहा था, और दासप्रथा का विनाश कर रहा था। गौतमबुद्ध के समय में ही हमें इसके उदय के चिन्ह मिल जाते हैं।

भारतीय इतिहास के इस वर्गीकरण का रूप यों होताहै—

१—सामंतकाल के उदय से अपने पूर्वरूप को समाप्त कर लेने का समय, अर्थात् पूर्वमध्यकाल ईसा की ३री शताब्दी पूर्व से लेकर लगभग हर्षवर्द्धन तक का समय है।

२—हर्षवर्द्धन से लेकर मुस्लिम शासकों की विजय तक या आक्रमण तक का समय दूसरा युग है, अर्थात् सामंत काल।

३—मुस्लिम जातियों के विभिन्न शासकों का भारत पर १८५७ ई० तक शासन करना, भारतीय उत्तरमध्यकाल है।

यह विभाजन नगर व्यवस्था में यों हैं—

१—पाटलिपुत्र युग—अर्थात् नदी के बढ़ते व्यापार के ही साथ-साथ उन्नति का समय है। अनेक विदेशी आक्रान्ताओं से

भारत को मोर्चा लेना पड़ा है। अनेक जातियाँ आकर यहाँ के समाज में अंतर्भुक्त हो गई हैं।

२—कन्नौज युग—सभी जातियों के अंतर्भुक्त हो जाने के बाद समाज में एक रूढ़िवाद बढ़ गया है। संकीर्णता बढ़ गई है। इस संकीर्णता ने समाज को बाँध दिया है। दक्षिण के राज्यों पर भी समान राजनैतिक रूप से अंकुश रखने के लिये कन्नौज का उदय हुआ है। कन्नौज अब दक्षिण, पूर्व, पश्चिम के प्रायः मध्य में पड़ता है।

३—दिल्ली युग—उत्तर की प्रधानता बढ़ जाने के कारण फिर दिल्ली का प्रभुत्व बढ़ा है। भारत फिर एक नये साम्राज्य के पास आ गया है।

यह विभाजन व्यापार के हिसाब से यों हैं—

१—प्रथम मध्य युग में—भारतीय समुद्री व्यापार दूर-दूर तक फैल गया है, दक्षिण के व्यापारी जो पहले तामिल आदि थे, वे उत्तरी भारतीयों से अंतर्भुक्ति में मिल गये।

२—संधि-मध्य-युग में—भारतीय समुद्री व्यापार अरबों के हाथ में चला गया है। भारत का बाहरी व्यापार काफी खण्डित हो गया है।

३—उत्तर मध्ययुग में—भारतीय व्यापार फिर मुस्लिम और दक्षिणियों के साथ बढ़ा है, उत्तर भारत का भी खैबर आदि से बढ़ा है, परन्तु कुछ दिन बाद वह समस्त व्यापार यूरोपीय जातियों के हाथ में चला गया है।

साम्राज्य व्यवस्था के अनुसार विभाजन यों हैं—

१—पहले समय में व्यापार की व्यापक आवश्यकता के कारण विशाल साम्राज्य बन सके हैं।

२—व्यापार नष्ट हो जाने से भारत में छोटे-छोटे राज्य ही रह सके हैं, क्योंकि एक राजनीतिक सूत्र में बाँधने वाली वस्तु नहीं रही है।

परस्पर किस युग में क्या भेद हो गया ?

	राज्य व्यवस्था	धर्म, दर्शन	राजसीमा	संस्कृति भेद	आर्थिक व्यवस्था में मूलभेद
पूर्व मध्यकाल	सामंतीय ढाँचा हिंदू राजा	ब्राह्मण, बौद्ध जैन, शैव	साम्राज्य	इस समय में संस्कृत प्रधान	सामंतीय व्यवस्था और उसमें भेद कोई विशेष नहीं
संधिमध्यकाल	सामंतीय ढाँचा नये राजवंश	तंत्रवाद बढ़ा	छोटे राज्य	अपभ्रंश प्रधान	"
उत्तरमध्यकाल	राजा मुसलमान पर सामंतीय ढाँचा	इस्लाम धर्म और आ गया भक्तिवाद बढ़ा	साम्राज्य छोटे राज्य	हिंदी प्रधान राजभाषा फारसी	"

३—मुस्लिम शासन और मुस्लिम व्यापारियों के गठबंधन तथा भारतीय व्यापारियों के उनसे पारस्परिक लाभ उठाने के कारण, फिर अकबर के समय में विशाल साम्राज्य की आर्थिक आवश्यकता की पृष्ठभूमि रही। औरंगजेब के समय से ही यूरोपीय समुद्री व्यापारियों के हाथ व्यापार चला जाने से केवल उत्तर का व्यापार ही भारतीयों के हाथ में रहा है और धीरे-धीरे साम्राज्य खंड रूपों में बँट गया है।

हमारा हिंदी साहित्य का इतिहास भारतीय मध्यकाल के प्रथम चरण के अंत में प्रारम्भ होता है। अर्थात् पाटलिपुत्र युग में जन्म लेता है, कन्नौज युग में पनपता है और दिल्लीयुग में पूर्ण समृद्ध होता है।

जिसे विद्वान अज्ञान से पूर्वमध्यकाल कहते हैं, वह वास्तव में भारतीय इतिहास के विशाल मध्यकाल का बीच का संधिकाल है। यहाँ ३०० ई० पू० के ६०० ई० तक और ६०० ई० से ११०० ई० तक, और ११०० ई० से १८५७ ई० के तीन भागों का तुलनात्मक रूप देखना आवश्यक है।

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट हो जाता है कि कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ जो दैनिक जीवन को बदल सके। संस्कृति, भाषा रहन-सहन, खानपान, यह सब वाह्य भेद हैं। आधारभूत भेद नहीं है।

पाटलिपुत्र युग—हिंदू धर्म के दृष्टिकोण से विकास का युग था।

कनौज युग—अंतर्भुक्ति का युग था।

दिल्लीयुग—मुस्लिम धर्म के दृष्टिकोण से विकास का युग था, किन्तु वह हिन्दू दृष्टिकोण से भी तो विकास का ही युग था।

सामंतकालीन व्यवस्था के अनुसार:—

१—पाटलिपुत्रयुग प्रारंभ था, बर्बर दासप्रथा वाले समाज

के खण्डहर पर सामन्तीय समाज प्रगति बन कर खड़ा हुआ था।

२—कन्नौज युग में प्रगति समाप्त हो गई थी। निम्न वर्गों ने सिर उठाया था।

३—दिल्ली युग में विशेष आक्रांताओं से युद्ध करने के दृष्टिकोण में ह्रासप्राय: सामंतकाल कुछ प्रगति दिखला सका था। अन्यथा वह धीरे-धीरे जर्जर होकर उठते हुए पूंजीवाद (विदेशी) के सामने हार चला था।

हिंदी साहित्य की पृष्ठभूमि पाटलिपुत्र-युग है। यहाँ हम उसका विवेचन करते हैं। सामंतकाल की पृष्ठभूमि में बर्बरयुगीन समाज में, महाभारत युद्ध से लेकर बुद्ध तक विभिन्न-धर्म, उपासना, जातियाँ घुलमिल कर एक हो गए थे; सामंतकाल के इस युग में भी अनेक जातियाँ आकर आपस में घुलमिल गईं।

बर्बर दास-प्रथा वाले समाज के युग में जहाँ गिरिव्रज राजधानी थी, वहाँ पाटलिपुत्र मगध की राजधानी बन कर उठ खड़ा हुआ था। बुद्ध के समय मगध चार महाजानपदों में से एक माना जाता था। कौटिल्य, कामन्दक, पतञ्जलि मगध में ही रहते थे। श्रेणिक बिम्बसार शिशुनाग वंश का पांचवा राजा था। अजातशत्रु बिम्बसार के बाद राज्य-सिंहासन पर बैठा था। शिशुनाग-वंश के बाद महापद्मनंद राजा बना। वह शूद्रा का पुत्र बताया जाता है। मैथिल-विदेह का गण अब नष्ट हो चुका था। कौशल पर काशी का अधिकार हो गया था। कलिंग मगध के पूर्ण शासन में नहीं होने पर भी प्रभाव में आचुका था। मथुरा तक मगध की सीमा थी। अश्मक, कुन्तल, उत्तरी कर्नाटक पाञ्चाल, कुरुदेश पर भी मगध का अधिकार था।

उत्तर में काबुल नदी के पहाड़ी भूस्थल में अश्वक जाति रहती थी। गांधार, सिंध, तक्षशिला, उरश, अभिसार, पुरु, पौरव, शाकल, शिवि, मालव, क्षुद्रक, इत्यादि अनेक छोटे-छोटे राज्य थे।

सिकंदर के आक्रमण से भारत में उत्तर-पश्चिम में एक हलचल हुई जिसके परिणाम स्वरूप नन्दवंश का तख्ता मगध में पलट गया और चन्द्रगुप्त मौर्य्य गद्दी पर बैठा। उसे इसमें चाणक्य ने मदद दी। चन्द्रगुप्त का शासन फ़ारस से लेकर दक्षिण में काठियावाड़ तक और पूर्व में बंगाल तक फैला हुआ था। कलिंग, आंध्र, तमिलनाडु को छोड़कर प्राय: समस्त भारत पर उसका अधिकार था। कलिंग (उड़ीसा) मुस्लिम राजाओं के समय में सबसे अन्त में (अकबर के समय में) पराजित हुआ था। वह अदम्य था।

चन्द्रगुप्त सम्राट था और उसकी शासन-पद्धति पहले से कुछ भिन्न थी। गण-राज्यों की अब अवस्थिति पहले की सी नहीं रही थी। वृजि, मल्ल, कुरु, पञ्चाल, लिच्छिवि इत्यादि के संघ राज्यों के शासक उसके प्रतिनिधि मात्र बन कर शासन करते थे। स्थानीय राजाओं के हाथ में छोटे-छोटे राज्य छोड़ दिये गए थे। सेना, न्याय, नियम, शासन आदि के सब अधिकार सम्राट के हाथों में आगये थे। यही समय था कि जब राजा को दैवी-शक्ति प्रदान करने का प्रारम्भ हो गया था। यद्यपि महाभारत में बुद्ध पूर्व ही राजा को ईश्वर माना गया है किंतु इस भावना की परिपक्वता पुराणों में अपनी चरमसीमा को प्राप्त कर सकी है। ग्रामों में पंचायतें होतीं थीं जो निरंतर मुग़लों तक बनी रहीं। उन्हें केवल ब्रिटिश बुर्जुआवर्ग ही तोड़ सकने में समर्थ हुआ था।

प्लूटार्क के कहने के अनुसार चन्द्रगुप्तमौर्य्य के पास ६ लाख आदमियों की सेना थी। जो हो, वह अवश्य एक विशाल वाहिनी रही होगी। चन्द्रगुप्त के राज्य की सीमा दक्षिण में बहुत शीघ्र संकुचित हो गई थी। चन्द्रगुप्त का अन्तिम संघर्ष सिल्यूकस निकाटोर से हुआ था। सिल्यूकस सिकन्दर का सेनापति था। उसने अपने स्वामी की मृत्यु के उपरान्त भूमध्य-सागर से सिंधु तक अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया था। चन्द्रगुप्त ने उसे हरा दिया। उसने चन्द्रगुप्त

को अपने बड़े प्रांत दे दिये जिसके फलस्वरूप उसका राज्य पश्चिम में बलूचिस्तान से फ़ारस तक विस्तृत हो गया था।

पाटलिपुत्र के अतिरिक्त तक्षशिला, मथुरा, उज्जयिनी और कोसाम्बी महानगर प्रसिद्ध थे। पाटलिपुत्र का प्रबन्ध ३० सभासदों की एक समिति करती थी। यह समिति भी छः उपसमितियों में बँटी हुई थी। शिल्प, उद्योगधंधे; कारीगरों की मजदूरी तय करना, कारखाने वालों के कच्चे माल की परख, आदि इनमें से ही शिल्प-विभाग करता था। यह वास्तव में श्रेणियाँ थीं। वैदेशिक विभाग, जन संख्या विभाग, वाणिज्य विभाग, वस्तु निरीक्षक विभाग तथा कर विभाग—ये अन्य पाँच उपसमितियाँ थीं।

सामन्तकाल अपने प्रारंभ में बर्बर युग पर एक प्रगति का चिन्ह था। उस समय सम्राट इतना निरंकुश नहीं बन सका था, जितना वह बाद में हो गया। आमन्त्रण अर्थात् मन्त्रियों के मण्डल की आवश्यकता समितिकाल के बाद ही समाज में आ गई थी। मन्त्रि-मण्डल इस युग में भी सम्राट के साथ था। वे मन्त्री अब सचिव भी कहलाते थे। मन्त्रि परिषद् मन्त्रिन् के बाद के दर्जे की होती थी। इस परिषद् में संभवतः १२ अमात्य होते थे। न्याय और शासन के उच्च पदों पर अमात्य नियुक्त किये जाते थे।

गाँवों का शासन और न्याय ग्रामीक किया करता था। वह चुना हुआ अवैतनिक आदमी होता था। राजा का आदमी गाँव में ग्रामभृतक कहलाता था। ग्रामीक पर गोप होता था। गोप १० गाँवों का स्वामी होता था। स्थानीक गोप के ऊपर जनपद का स्वामी होता था।

सभी भूमि सम्राट की मानी जाती थी। किसान को लगान में भाग, बलिदेकर भी भूमिकर देना पड़ता था। सिंचाई पर राजा काफी व्यय करता था। सम्राट चंद्रगुप्त के समय अनेक नगर उठ खड़े हुये थे, और उनमें किले बने हुए थे।

चंद्रगुप्त के बाद उसका पुत्र विन्दुसार राजा हुआ। उसके

चन्द्रगुप्त के शासन के अंतिम समय में दुर्भिक्ष पड़ा था और वह जैन साधु होकर मैसूर में जाकर मृत्यु को प्राप्त हुआ था। विंदुसार ने भी साम्राज्यों को बढ़ाते रहने में ही जीवन व्यतीत किया। वह उत्तर और दक्षिण भारत के बहुत बड़े भूभाग पर राज्य करता था। उसे अमित्रघात् कहते थे। उसका यवन देशों से अच्छा संबंध था। विन्दुसार के अंतिम समय की बीमारी में उसका पुत्र अशोक प्रचण्ड हो उठा और उसने पिता की मृत्यु के बाद ४ वर्ष तक भाइयों को नष्ट करके साम्राज्य अपने हाथ में ले लिया।

अशोक के समय में महायान बढ़ रहा था। श्रेष्ठी दूर-दूर तक व्यापार करते थे। ऐसे ही विदिशा के एक श्रेष्ठि की सुन्दरी पुत्री से अशोक ने विवाह किया था। अशोक साम्राज्य का प्यासा था। उसने कलिंग को जीता। किन्तु इतना भीषण नरसंहार हुआ कि उसका हृदय परिवर्तित हो गया। वास्तव में इतना भीषण नरमेध हुआ कि वह दहल उठा था। कलिंग की विजय कलिंग के विशाल समुद्री व्यापार को हथियाने के लिये की गयी थी। ऐतिहासिकों का मत यह भी है कि कलिंग के बाद श्रेष्ठियों ने उसके युद्धों के लिये धन देने में असमर्थता प्रगट की। अशोक स्वयं व्यापार किया करता था। श्रेष्ठियों के विशाल व्यापार के लिये साम्राज्य बन चुका था, जिसमें शान्ति थी, डाकुओं का भय नहीं था।

बुद्ध काल में श्रेष्ठिओं ने जो जैनों और बौद्धों की अहिंसा को क्षत्रिय दमन और शूद्र उत्थान के विरुद्ध स्वीकार किया था, वह अब शान्ति के लिये हो गया था जिसमें व्यापार चैन से चल सके, उसमें युद्ध की लूट पाट नहीं हो। अशोक के विशाल साम्राज्य को स्थापित रखने के लिये अब शान्ति और अहिंसा की घोर आवश्यकता थी और बौद्ध धर्म के अहिंसात्मक पक्ष को खूब प्रचलित किया गया। यह बौद्धधर्म वास्तव में ब्राह्मणधर्म का पर्य्याय था क्योंकि यह भी मूर्ति पूजा करता था। यह बौद्ध संप्रदाय अब

एक दूसरा पुरोहित वर्ग था जो ब्राह्मणवाद का समानान्तर बनाना चाहता था। सामन्तकाल में भी क्षत्रिय और ब्राह्मण वर्गों का संघर्ष उच्चवर्णों का पारिस्परिक संघर्ष बन कर चलता रहा है। जब बौद्धधर्म ने अपने को सामन्तवाद के अनुकूल बना लिया था, तब क्षत्रिय उसकी शरण इसलिये लेते थे कि उन्हें ब्राह्मण पौरोहित्य से दब कर नहीं रहना पड़े। मिनान्दर जैसे यवन भी इसीलिये बौद्धधर्म से प्रभावित हुए थे। कलिंग विजय तक अशोक ने साम्राज्य पूरा कर लिया था। भारत के सब ही महत्वपूर्ण भाग उसके शासन में आ गये थे। यदि वह सच्चा बुद्धमत का अनुयायी होता तो बुद्ध के स्वप्न को पूर्ण करता, जिसमें गणों की प्रशंसा की गई थी। वस्तुतः यह संप्रदाय सामन्तीय व्यवस्था के अनुकूल दर्शन गढ चुका था। अब बौद्ध और ब्राह्मण संप्रदाय दोनों दो पुरोहित वर्ग थे, किन्तु सामंतीय व्यवस्था को दोनों ही रखे हुए थे। यह सत्य है कि ब्राह्मण इस समय भी अधिक जागरूक और चेतन था और उसने भारत के हित को अपने सम्प्रदाय से अभी तक ऊंचा रखना सीखा था। यह भी सत्य है कि इसकी उसने ऐतिहासिक आवश्यकता समझी थी। वह इस विषय में निश्चित था कि वह ही जातियाँ जो भारतीय थीं, विदेशी नहीं थीं, उसकी वर्ण व्यवस्था को मान सकती थीं, वर्ण व्यवस्था का रूप अपने आपमें पूर्ण आर्य्य ही नहीं था, वह आर्य्येतर जातियों की अंतर्भुक्ति से यह स्वरूप प्राप्त कर सका था। शिशुनाग वंश जो सम्भवतः नाग वंश था, वह अब क्षत्रिय कहलाता था, नाग जातीयता ने उसे अलग नहीं किया था। भारशिव नाग भी अंतर्भुक्त हो चुके थे। मगध में नन्द वंश किस कारण आ खड़ा हुआ था? क्योंकि मगध प्राचीन आर्य्यतर जातियों का गढ़ था। जरासंध वहाँ शासक था। तदनंतर वहाँ आर्य्यों में भी काफी अंतर्मुक्ति हो गई। चारों ओर गण थे जहाँ क्षत्रिय ब्राह्मणवाद के विरुद्ध विद्रोह कर रहे थे। वैश्य अहिंसा के चोगे ओढ़ कर शान्ति के लिये, व्यापार बढ़ाने के लिये

तत्पर थे। उस समय दासप्रथा नष्ट हो रही थी। शूद्र बढ़ रहा था। उस बढ़ती के परिणाम स्वरूप ही महानन्द उठ खड़ा हुआ। किन्तु वह अत्याचारी कहलाया। कारण था उसका उच्च वर्णों का विरोध। उसने चाणक्य को निकलवा दिया था। निश्चित रूप से उसके अधिकाँश अत्याचार प्रगट नहीं हैं। जनता भी सम्भवतः उसमें सुखी नहीं थी क्योंकि वह राजा बन कर प्रजा नहीं रहा था। गुलामवंश की रजिया सुल्ताना को जिस प्रकार गुलाम से विवाह करने में बाधा दिखाई दी थी, गुलामवंश शासन पाकर गुलामों का प्रतिनिधि नहीं था, उसी प्रकार नन्दवंश भी उच्छृंखल हो गया था।

अशोक को ऐतिहासज्ञ महान् कहते हैं। हम भी अशोक की प्रशंसा करते हैं। जब हम उसके समय की आर्थिक व्यवस्था की व्याख्या करते हैं, तब हमारे कहने का तात्पर्य यह नहीं कि अशोक चालाक था और उसने ऐसा सब करने के पहले सामाजिक और वर्गस्वार्थों का आर्थिक पहलू आज के दृष्टिकोण से समझ लिया था। नहीं, यह कहना इतिहास को विकृत करना होगा। वस्तुतः इतिहास, मनुष्यों की जानकारी या अज्ञान में ही, अपनी आवश्यकताऐं पूरी करवा लिया करता । कहावत भी है कि समय ही मनुष्य को प्रभावित करता हैं। अकाल और युद्ध और शान्ति, इनका मनुष्य पर अलग अलग असर होता है। यदि हम नरमेध को देख कर ही अशोक का हृदय बदलता मान लेते हैं जो हमें अपने इतिहास में बहुतों को बुरा कह देना पड़ेगा। क्या अश्वेमध्याजी राम और कृष्ण नरमेध को देख कर विचलित नहीं हो सकते थे? क्या साम्राज्य बढ़ाने की भूख पहले या बाद में बन्द हो सकी? नहीं, कभी ऐसा नहीं हुआ। उस समय की ऐतिहासिक आवश्यकताओं में युद्ध साम्राज्य के लिए आवश्यक हो गया था। जिस तरह दार्शनिक युधिष्ठिर का हृदय भाइयों को मारने के समय काँप उठा था, उसी प्रकार अशोक का भी हृदय विचलित हो गया था।

युधिष्ठिर ने क्षत्रिय कर्म को क्रूर कहा था। उस समय छोटे-छोटे राज्यों में परस्पर संघर्ष अब व्यर्थ हो गये थे, इसलिए युधिष्ठिर ने सन्देह किया था। वह अशोक के साथ भी हुआ। विशाल साम्राज्य बनाने वाला चंद्रगुप्त मौर्य वृषल था। अर्थात् वह उन क्षत्रियों में था जो वेदत्रयी के अनुसार नहीं चलते थे। राज्य के लिये, इतिहास की आवश्यकता ने उसे ब्राह्मण चाणक्य से मिलाया और दोनों ने ब्राह्मण क्षत्रिय गठबंधन करके शूद्र राज्य विनष्ट किया और विदेशी आक्रान्ताओं को भारत से भगा देने को, जनता की रक्षा करने को, विशाल साम्राज्य बनाया। चाणक्य ने कमकरों को पहले से कहीं अधिक छूट दी।

यह हुई सामन्तीय व्यवस्था की प्रथम विशाल सीमा प्रसरित विजय। किन्तु चंद्रगुप्त मोरिय वंश का, पिप्पलीवन का क्षत्रिय था, जिसमें ब्राह्मणवादविरोध के भी संस्कार थे। अंततोगत्वा वह राज्य छोड़कर जैन हो गया। भारतीय चिंतन के व्यक्तिवादी पक्ष को भी, साधु बनते देख कर, चंद्रगुप्त के विषय में, हमें याद रखना होगा। पूर्व के इन सम्राटों का ब्राह्मण और बौद्ध प्रभाव में रहना, क्षत्रिय और ब्राह्मण वर्णों का उच्चस्तर पर आन्तरिक विरोध लगातार प्रगट करता रहा है।

कलिंग एक सशक्त राष्ट्र था, स्वतन्त्र था, राज्य व्यवस्था वहाँ सामन्तीय ही थी। कलिंग के राजा के पास ६०००० पैदल, १००० अश्वारोही और लगभग ७०० हाथी थे। यह मौर्य चन्द्रगुप्त के समय की बात है। अशोक के समय बढ़ गये होंगे। अहिंसक अशोक ने हृदय परिवर्तन के बाद भी कलिंग को स्वतन्त्र नहीं कर दिया, न अहिंसक बौद्धों ने ही उस पर जोर दिया। वैसे भगवान तथागत की करुण रागिणी गूंजने लगी और साथों और नावों पर बैठ कर वह दिव्य रागिणी व्यापार को इधर-उधर ले जाने लगी। कलिंग के बाद दिग्विजय के लिये कोई जगह भारत में प्रायः नहीं रही थी। अब सामन्तीय व्यवस्था जम गई थी और व्यापार बढ़ रहा

था। अब श्रेष्ठियों अर्थात् सेठों का राजवंशों से घना संबंध होने लगा था, अब कथाओं के नायक क्षत्रियों के स्थान पर वैश्य होने लगे थे।

इतिहासकार कहते हैं कि कलिंग के युद्ध ने राज्य परिवर्तन की नीति में राजाओं में परिवर्तन कर दिया। यह तो हम निरंतर सामंतों में होते हुए युद्धों में देख कर ही जाँच सकते हैं। हम यह नहीं कहते कि अशोक ने शांति करके बुरा किया, नहीं। हम केवल उसकी ऐतिहासिक सीमाओं और परिसीमाओं की निष्पक्ष होकर व्याख्या करते हैं। हम यह कहते हैं कि यह सब सामन्तीय काल में बढ़ते व्यापार की दर्शन के रूप में अभिव्यक्ति थी, जिसकी पहले इतिहास में आवश्यकता नहीं थी। किसी राजा के हृदय में विजय की आकांक्षा भी तभी कार्यरूप में अपना परिणाम दिखा सकती है, जब उसकी कोई आर्थिक या सामाजिक या राजनैतिक आवश्यकता पड़ गई हो।

क्षत्रियों का कार्य्य अब विदेशियों से युद्ध करना था। उसके बिना वह घर की जनता पर बोझ मात्र था। सामन्तकाल की दृढ़ता और व्यापार के बढ़ने के साथ ही हमारे देश के प्रारंभिक पूँजीपति वर्ग का उत्थान हो गया होता, किन्तु उसमें निम्नलिखित बन्धन थे :—

१—देश के भीतर अभी विभिन्न जातियाँ थी, जिनमें परस्पर सामन्तीय व्यवस्था के फैलने के लिये युद्ध की आवश्यकता थी।

२—देश पर इस समस्त युग में विदेशियों के आक्रमण होते रहे, जिनसे बचने के लिये संग्राम आवश्यक थे।

३—आर्थिक व्यवस्था के आगे बढ़ने का रास्ता नहीं था, क्योंकि समाज के उत्पादन के साधन नहीं बदल सके थे।

४—विदेशों में ईरान में अवश्य साम्राज्य था, परन्तु अन्य-अन्य विदेशों—यूनान, रोम आदि अभी तक गुलाम प्रथा वाले समाजों

में थे, पिछड़े हुए देश थे। विश्व की परिस्थिति भारत की अपेक्षा पिछड़ी हुई थी।

५—बौद्धमत चीन आदि में पहुंचा, जहाँ सामन्तवाद विकसित होने लगा था। वहाँ सामन्तीय समाज के उपयुक्त नैतिकता की दार्शनिकता ले जाने वाले बौद्धों का सम्मान किया गया। किन्तु बुद्ध के ये नये अनुयायी रोम की ओर, यूनान की ओर और अरब की ओर नहीं गये, जहाँ अभी दासप्रथा वाले समाज ही थे। वहाँ असल में इनकी आवश्यकता नहीं थी। प्लिनी के समय भारत का बड़ा भारी व्यापार रोम से चलता था, पर वहाँ कोई अहिंसक नहीं पहुँचा। क्या यह चिन्तनीय नहीं है? अशोक के भेजे हुए बौद्धों का कोई विशेष प्रभाव पड़ा हो इसका उल्लेख नहीं मिलता।

अतः बौद्ध अशोक की धर्म विजय को हम इतिहास में व्यक्ति के चरित्र का आकस्मिक अनुष्ठान नहीं कह सकते। हमें बौद्ध धर्म के फैलने में आपत्ति नहीं है। वरन् उसके अध्यात्मिक रूप को फटककर उसकी वास्तविकता को जान लेना आवश्यक है। मगध के इन क्षत्रियों ने ब्राह्मणों का विरोध करने, सामंतीय व्यवस्था और व्यापार बढ़ाने वाली क्रियाओं के फलस्वरूप, बौद्धमत के उस रूप को स्वीकार किया जो उसके समस्त स्वार्थों को दार्शनिक और अध्यात्मिक रूप दे सकता था। ब्राह्मण की परम्परा थी। राज्य को बढ़ाने के लिये अश्वमेध कराना। परंतु जब ब्राह्मण ने अश्वमेध प्रारम्भ किये थे तब आर्य्य शासक था और अनार्य्यों को लूटने की आवश्यकता थी। अंतर्भुक्ति के बाद युद्ध की आवश्यकता कम हो गई थी। शान्ति की आवश्यकता थी, और तभी तो शान्ति के करवानों के लिये सेठ लोग, अनाथपिण्डक आदि बड़े-बड़े विहार और मठ बनवा रहे थे।

अशोक का विशाल साम्राज्य था। उसके राज्य में निम्नलिखित प्रदेश थे:—

१—मगध ।
२—पाटलिपुत्र ।
३—निकटस्थ पहाड़ियाँ ।
४—कौशाम्बी ।
५—लुम्बिनी ग्राम ।
६—कलिंग ।
७—अटवी (अर्थात जंगल) ।
८—सुवर्णगिरि (दक्षिण) ।
९—इसिला ।
१०—उज्जयिनी ।
११—तक्षशिला ।
१२—पुरुषपुर (पेशावर) ।
१३—पुरुषपुर का पश्चिमोत्तर तथा दक्षिणपश्चिमीय भूभाग ।
१४—काम्बोज ।
१५—गान्धार ।
१६—यवन साम्राज्य की सीमा को छूने वाला प्रदेश ।
१७—काश्मीर ।
१८—पंचनद प्रदेश ।
१९—कालसी ।
२०—नैपाल की घाटी ।
२१—चम्पारन जिला ।
२२—हिमालय प्रदेश ।
२३—विश गण ।
२४—वज्जी गण ।
२५—बंगाल ।
२६—पेलर नदी तक दक्षिण के भूभाग ।
२७—मैसूर के चित्तल द्रुग तक का प्रदेश ।

२८—सौराष्ट्र (यहाँ यवन तुषास्फ अशोक का अधीन राजा था)।

२९—सिंध।

३०—आंध्र।

३१—कलिंग।

३२—अरब सागर तक का भूप्रदेश।

केवल आसाम, और दक्षिण के चोल, पाण्डय तथा सतियपुत्र रह गये थे। ये राज्य जीतने सहज भी नहीं थे। अशोक के साम्राज्य में बचा क्या था। जो राज्य में नहीं था वहाँ अशोक ने अपने मिशनरी भेज दिये थे।

इतिहास के राजवंशों और गौरवों को ही देख कर अभिभूत होकर वास्तविकता को देखने में असमर्थ लोग इसे समझने में कष्टकर दुःख पाते हैं।

इतिहास बताता है कि प्रगति के तथ्य एक बार पैदा हो जाने पर कैसे भी अत्याचारों से नष्ट नहीं होते। बौद्धधर्म नहीं बच सका। वह निरन्तर क्षत्रिय स्वार्थों के अनुकूल बदलता गया और उसमें इतना परिवर्तन आ गया कि यदि बौद्ध जीवित रहते तो अपने नाम पर जीवित रहने वाले उन लोगों को कभी भी स्वीकार नहीं करते।

कलिंग की विजय एक महान् सीमा चिन्ह थी, किन्तु किसकी? सामन्तवाद की, अशोक की नहीं। उसके बाद बगावत और अशान्ति के विशुद्ध अहिंसा की ही आवश्यकता थी। कलिंग विजय के बाद भी × "शान्ति, सामाजिक उन्नति, धार्मिक प्रचार, सैनिक ह्रास, राजनैतिक अवरोध" का एक रूप नहीं रहा। सैनिक शक्ति बढ़ती रही। अशोक के बाद आठ सौ वर्ष तक उसी पाटलिपुत्र में सैनिकों ने अनेक बार मार्च किया और वे वक्षुतीर तक उत्तर

× हेमचन्द्र रायचौधरी का उद्धारण।

पश्चिम में लड़े। जब जब विदेशी आक्रान्ता आये और बौद्ध पुरोहित वर्ग ने उन आक्रान्ताओं से समझौते किये, अपने देश की जनता के खेतों को रौंद देने का उन्हें अधिकार दे दिया ताकि उनके करोड़ों रुपयों के खजाने वाले विहार और मठ बचे रह सकें, उन्होंने उन आततायियों को हमारी स्त्रियों और बालकों और घरों को जला देने का भी परोक्ष रूप से अधिकार दे दिया, तब-मगध से ब्राह्मण प्रभाव में आर्य्यावर्त के युवक अपना रक्त बहाने आक्रान्ताओं से युद्ध करने गये। और उन्होंने देश की जनता को बचाया। ब्राह्मणवाद निरन्तर बदलता रहा। उसकी कथनी और करनी में भेद नहीं रहा। उसने अपने वर्ण और वर्ग के दाग़ को छिपाने की सामर्थ्य कभी नहीं पाई। अतः सैनिक शक्तिह्रास की बात व्यर्थ है। रही उन्नति की बात। सो गुप्त साम्राज्य की भागवत सहिष्णुता में भी उन्नति हुई, वह अशोक के समय में हो भी नहीं सकी थी।

भारतीय इतिहास में व्यक्ति की महत्ता और भी मिलती है। क्या अशोक का, भारत वजय करने के बाद, साम्राज्य स्थापित रखकर, शान्ति फैलाना महान है, या क्षत्रियों को पराजित करके परशुराम का पृथ्वी को दान कर देना? व्यक्ति की महत्ता में परशुराम ही श्रेष्ठ मिलते हैं किन्तु व्यक्ति को महत्व देने के पहिले हम परशुराम को भी देख लें। ब्राह्मण ने क्षत्रिय को पराजित करके देख लिया कि उसके हाथ में धरती उन्हीं वर्ण स्वार्थों को लेकर सुरक्षित नहीं रह सकती, वैश्य और शूद्रों के सामने वह नहीं बच सकता, तब परशु-राम ने ब्राह्मणों को पृथ्वी दे दी, जिन्होंने फिर क्षत्रियों को ढूंढा और सिंहासन पर बिठाया, और दोनों वर्णों में राजनैतिक और सामाजिक समझौता हुआ। क्या परशुराम के त्याग को हम कह सकते हैं? नहीं; किन्तु हमें व्यक्ति की महानता के साथ साथ उसकी आर्थिक और सामाजिक तथा ऐतिहासिक आवश्यकता को देखना अत्यन्त आवश्यक है।

अशोक ने अपने पितामह और पिता के शासन में सुधार किये थे। हर पाँचवे या तीसरे साल महामात्र, प्रादेशिक, राजुक तथा युत को दौरे पर जाना पड़ता था। इसे अनुसम्यान कहते थे। इसमें निरंकुशता की स्वेच्छाचारिता को रोकने का प्रयत्न किया गया। अधिक सन्तान वाले और वृद्ध को दण्ड नगण्य रूप से दिया जाता था।

अशोक सभी धर्मानुयायियों को दान देता था। उसमें संकीर्ण साम्प्रदायिकता नहीं थी। वह प्रजा का चौबीसों घंटे ध्यान रखता था। उसने कहा था; जो कुछ पराक्रम मैं करता हूँ वह जीवों के ऋण से मुक्त होने के लिये करता हूँ।

वस्तुतः अशोक की जाति प्रथा विरोधिनी प्रवृत्ति सामन्तवाद की प्रगति थी, जो प्रारम्भ में जातिवाद का विरोधी करती थी। पशु-हिंसा ब्राह्मणवाद के कारण थी, या राजवंशों की परम्परा में थी, यह निश्चित नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अहिंसा का प्रभाव ब्राह्मणों पर पाँचरात्र से बढ़ा था और पाँचरात्र नारायणीय सूक्त महाभारत में ५०० ई० पू० का माना जाता है। ऐतिहासिज्ञों ने इस विषय को अभी गंभीरता से नहीं देखा है।

डा० हेमचन्द्रराय चौधरी, काशीप्रसाद जायसवाल, और भाण्डरकर ने अशोक के युद्ध रोकने को अच्छा नहीं समझा। उन्होंने कहा है कि वह महंत था अन्यथा वह एक विशालतर साम्राज्य बना सकता था। किन्तु सामन्तीय व्यवस्था चतुर थी। भारतीय व्यापार को इतना ही उस समय काफी था। कलिंग में अशोक को बहुत व्यय उठाना पड़ा था। उस युग में साम्राज्य को खड्ग के बल पर जीवित रखना एक बहुत कठिन काम भी था।

अशोक के समय में राजनैतिक स्थिरता का प्रयत्न किया गया था। वह उसे ही रखना चाहता था, जो प्राप्त हो गया था। अधिक पाँव फैलने से उसके टूट कर गिर जाने का भय था।

अशोक ने तत्कालीन समाज में प्रगति की थी। उसने इतिहास को पीछे नहीं हटाया।

व्यक्तिगत रूप से अशोक बड़ा उदार शासक था, ऐसा जैसा इतिहास में मिल सकना कठिन है। चंद्रगुप्त मौर्य्या के समय में जो राष्ट्रीयता का भाव भारत में उदय हुआ था, वही आगे भी उन्नति कर सका। दक्षिण भारत जो धार्मिक रूप से, अर्थात् सामाजिक व्यवस्था के रूप में उत्तर भारत से प्रायः समान हो चुका था, राजनैतिक रूप से अभी तक स्वतन्त्रता का अनुभव करता था। दक्षिण भारत के हाथ में समुद्री व्यापार था और इसलिये उसकी संपदा का माध्यम समुद्र भी था। अशोक के पास समुद्र पथ अब छूटा नहीं रह गया था।

जनता के असंख्य धन का व्यय अशोक ने बौद्ध बिहार, स्तूप और मठ बनवाने में खर्च किया था और ऐसे साधू वर्ग को ब्राह्मण के समानान्तर रूप में बढ़ा दिया था जो खुद श्रम करके अपनी आजीविका नहीं कमाता था, परन्तु दूसरों के दान पर पलता था। ब्राह्मण ने जनता में जड़ें बनाई थीं, क्योंकि ब्राह्मणधर्म अब अनेक जातियों के पुजारी वर्ग की अन्तर्भुक्ति का परिणाम था। बौद्धों ने क्षत्रिय और वैश्यों का सहारा पकड़ा क्योंकि वह मूलतः उन्हीं का धर्म था, उन्हीं के वर्गस्वार्थों के रक्षण का चिंतन था। अशोक ने भारतीय जाति व्यवस्था में परिवर्तन नहीं किया था। इस मामले वह महारानी विक्टोरिया की ही भांति सहिष्णु था।

अशोक के बाद के राज पुत्रों में कोई जैन था, कोई बौद्ध। उनका कोई विशेष गौरव नहीं रहा। सम्प्रति और दशरथ उसके पौत्र बताये जाते हैं जो दोनों ही जैन थे और उनमें साम्राज्य बँट गया था।

इस वंश के अन्त में शुंग वंश का उदय हुआ। शुंग ब्राह्मण थे। क्षत्रिय शक्ति को ब्राह्मणों ने अंततोगत्वा पराजित कर दिया। सामंतीय साम्राज्य ने जहाँ एक ओर व्यापारियों को लाभ दिया था,

जहाँ चन्द्रगुप्त मौर्य्य ने विदेशियों से रक्षा की थी, (अब वह बात नहीं रही) अशोक के बाद वही साम्राज्य अपने को जीवित नहीं रख सका, क्योंकि जनता पर बोझ बहुत बढ़ गया था। राजकर्मचारी और आमात्य प्रजा पर अत्याचार किया करते थे। तक्षशिला में बार-बार विद्रोह उठ खड़े हुए थे। धीरे-धीरे राज्य स्वतन्त्र होने लगे थे। मौर्य्य साम्राज्य के प्रारम्भ में वह ब्राह्मण सहायता से बना था, किन्तु स्थापित हो जाने पर क्षत्रियों ने ब्राह्मणों से मुँह मोड़ कर अपनी सत्ता को सर्वोपरि करने का यत्न किया था। यद्यपि अशोक, ब्राह्मण द्वेषी न था, परन्तु जिस दर्शन को मानता था वह क्षत्रिय-स्वार्थ का प्रतीक था। ब्राह्मण वर्ग ने उस राज्य को विनष्ट कर दिया। यह उच्च वर्णों का पारस्परिक द्वंद्व था। ग्रामों में वही पंचायती राज था। अधिक राज्यभार नगरों पर ही पड़ता था। यह ग्राम आर्थिक रूप से स्वतन्त्र से होते थे, गांव की पैदावार उसके लिए बहुत कर के पूरी पड़ जाया करती थी। अशोक के समय में भी जनता से सेना के संरक्षण को अतिरिक्त 'कर' लिया जाता था, जो 'बलि' 'भाग' के अलावा होता था।

मेगास्थनीज़ ने भारत के समाज को पश्चिमी दृष्टिकोण से देखा है, और इसको पढ़ने पर हमारी बात स्पष्ट समझ में आजायेगी—

(१) दार्शनिक—इनमें बौद्ध, श्रमण, और ब्राह्मण वर्ग हैं।

(२) कृषक—सबसे बड़ा वर्ग है।

(३) ग्वाले, तथा शिकारी।

(४) व्यापारी, शिल्पी, मल्लाह।

(५) सैनिक, यह क्षत्रिय हैं।

(६) गुप्तचर, प्रतिवेदक।

(७) अमात्य, मन्त्री।

यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य और है। ब्राह्मण अपने सामाजिक रूप में गार्हस्थ्याश्रम में रहते थे, किंतु वे धन को उतना महत्त्व नहीं देते थे, जितना अपने अधिकारों को। संन्यासी तो सब को ही

छोड़ देते थे। बौद्ध भिक्षु संसार त्यागी अब धन भरे मंदिरों विहारों में बसने लगे थे और यह इन दो पुरोहित वर्गों में बहुत बड़ा भेद था।

वैश्य और शूद्र दोनों कृषि, पशुपालन तथा व्यापार करते थे। पहले महाभारत काल में वैश्य ही यह सब करता था। शूद्र को यह अधिकार अब मिल चले थे। उसके वर्ण ने उन्नति की थी। यह भी सामन्तीय समाज की ही प्रगति थी।

शिल्पी अधिकांश शूद्र थे। किंतु वे निम्नकोटि के शूद्र नहीं थे। समाज चातुर्वर्ण्य पर ही निर्मित था, किन्तु वर्णों का विभिन्न पेशे अख्तियार करने का अधिकार, सामंतीय व्यवस्था को छूट सी दिखाई देती थी। प्रथम तीन वर्णों में अंतवर्णीय विवाह अब भी जायज थे। क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ और बीज के अनुरूप ही संसार का नियम माना जाता था।

महाभारत काल में जो राक्षस आदि विवाह धर्म से न्याय समझे जाते थे अब उनके विषय ने परिवर्त्तन आगया था। यह स्त्रियों के बढ़ते हुए अधिकारों को दिखाता है—

(१) ब्रह्म विवाह : वैदिक विवाह था।

(२) शौल्क विवाह में ठहरावा होता था। एक जोड़ी बैल देने पड़ते थे।

(३) प्रजापत्य विवाह में १ और २ का सम्मिलन था।

(४) दैव विवाह अपने पुरोहित को कन्या देना था।

(५) गांधर्व विवाह वही प्राचीन गंधर्व पद्धति थी।

(६) आसुर विवाह में स्त्री खरीदी जाती थी।

(७) राक्षस विवाह में स्त्री को छीन लाना जायज़ था।

(८) पैशाच विवाह में स्त्री से बलात्कार कर के उसे स्त्री बना लेना न्याय था।

गांधर्व, आसुर, राक्षस, पैशाच अब निंदनीय समझे जाते थे। यह स्त्री की पति चुनने की मातृ सत्ताक समाज की स्वतन्त्रता, उस

की पितृसत्ताक समाज की प्रारम्भिक अधिकार हीनता में क्रय-विक्रय, अपहरण, बलात्कार का भी अन्त था।

स्त्रियां तलाक दे सकती थीं। मोक्ष का अर्थ तलाक है। बहु विवाह होते थे। पर्दा था, विधवा विवाह भी था। संभवतः इस युग में स्त्री के अधिकार बढ़ने से सती प्रथा रुक गई थी जो कि महाभारत काल में थी। माद्री पाण्डु के साथ जल गई थी। स्त्री के बढ़ते अधिकार के साथ वह प्रथा दब गई। जैसे बर्बरदास प्रथा युग ने पुनर्जन्मादि की भावनाओं को प्रारम्भिक सामन्तकाल में दैववाद विरोधी पौरुष ने रोका था, परन्तु सामन्तीय समाज के ह्रासकाल में फिर उन्हीं दार्शनिक विचारों का प्रभाव पड़ा। वैसे ही प्रारम्भ में स्त्री की मुक्ति हुई, परन्तु कालांतर में उसके अधिकार फिर नष्ट हो गये और सती प्रथा फिर उभर आई। शकों के साथ सती प्रथा का उदय मानना ठीक नहीं है, क्योंकि शकों की भारत के बाहर की उपस्थिति में तो सती प्रथा के कोई ऐसे उल्लेख नहीं मिलते ?

मौर्य्यकाल में दास प्रथा थी किन्तु ऐसी कि यूनानियों को भारत में अपने देश की तुलना में कहीं दास प्रथा ही दिखलाई नहीं दी थी। यह दासत्व घरेलू दासत्व था, समाज के उत्पादन के साधन के रूप में दास वर्ग का अब स्थान नहीं रहा था। अब ब्राह्मण भी दास हो सकता था। दास अब दरिद्रता का चिन्ह था। आर्य्य का अर्थ अब 'नागरिक' था, जो भारतीय त्रिवर्णों में से हो। मेगास्थनीज के देश में दास उत्पादन के साधन थे। अतः उसे यह भेद स्पष्ट दिखाई दिया था। घरेलू दास प्रथा राजस्थान के राजवंशों में लौंड़ियों और बांदियों में अभी तक मिलती थी। कौटिल्य ने म्लेच्छों में दास प्रथा स्वीकार की है। म्लेच्छ यवन आदि हैं और उनके यहाँ यह नियम था। दास प्रथा के इन दो भेदों— घरेलू दास और दास समाज के उत्पादन के साधन का स्वरूप को समझ लेने से सारा भ्रम दूर हो जाता है। पहले आर्य्य का अर्थ जातीयता से था अब वह अन्तर्भुक्ति के बाद नागरिकता से लिया जाता था।

कहा जा चुका है कि ग्राम में पंचायतें प्रायः स्वतन्त्र थीं 'कर' के अतिरिक्त वे राज्य की कोई विशेष सेवा नहीं करते थे। पहले की तुलना में वे स्वतन्त्र हो गये थे। इस समय शूरसेन में कृष्ण की पूजा चल पड़ी थी। शिव, स्कन्द और विशाख की भी पूजा थी। इन्द्र की पूजा अब भी चलती थी। अशोक ब्राह्मणों के आडम्बर और मिथ्याचार का विरोधी था। यह स्पष्ट कर देता है कि वह क्षत्रिय रूप में उनका विरोधी था, क्योंकि प्रत्येक धर्म में आडम्बर आवश्यक रूप से था और रहा है। मौर्य्य राजाओं ने बौद्ध ही नहीं; उसी की भाँति जैनों के धर्म को भी आश्रय दिया था। जैन-धर्म पूर्णतया राज्याश्रित नहीं बना, उसने सेठों में अधिक जड़ें जमाये रखीं।

बौद्धों और जैनों ने इस समय ब्राह्मणों अर्थात् विभिन्न जातियों के पुजारी वर्गों के अन्तर्भुक्त वर्ग से मूर्ति-पूजा को ले लिया और अपने धर्म को उसके अनुसार परिवर्तन करने में लग गये। पातञ्जलि ने मौर्य्यों का देवमूर्तियों को बनवा कर सोना इकट्ठा करना उल्लिखित किया है।

सूत्र अब भी बनते थे। बौद्ध त्रिपिटिक प्रायः पुराणों के अनुकरण पर बन रहा था। जैन धर्म ने भी अपनी संगीत इसी युग में की थी अपने धर्मग्रन्थों का बनाना प्रारम्भ किया था। न्याय और मीमांसा के रूप में ब्राह्मण चिंतन जागरूक था, जो भगवान को नहीं मानता था परन्तु कर्मकाण्ड को अब भी मानता है।

मकान अधिकतर नदी किनारे तो काठ के बनते थे। गुफाएँ खुदती थी, और बड़े बड़े भवन पत्थर के भी बनते थे। यक्ष पूजा की चैत्य पद्धति अब बौद्धों में पूर्णरूपेण स्वीकृत हो चुकी थी। नाट्यगृह, भी बनते थे।

बहुत करके देखा जाये, तो मौर्य्यकाल में कृषि, शिल्प और व्यापार की बहुत उन्नति हुई। यही साम्राज्य का कारण और उसका प्रभाव भी था। अकाल में राजा सहायता देता था। करघे का

व्यापार बहुत बढ़ गया। बनारस, बंगाल (नया देश) कलिंग (नया देश) और मथुरा (नया देश) साम्राज्य में सूत के कपड़े बनाने के केन्द्र थे। कलिंग जीतने की आवश्यकता स्पष्ट हो जाती है।

चीन से व्यापर चलने लगा था। समुद्र व्यापार खूब बढ़ गया गया था। चीने से रेशम आता था। भारत में कपड़े, पटसन, ऊन, रूई, हाथीदाँत, मोरपंख, शंख, हीरे, मोती आदि व्यापार की सामग्रियाँ थीं, जिनमें से कई विदेश भेजी जाती थीं, नगरों में मुद्रा प्रसार अधिक हो चला था, यद्यपि गाँवों में वस्तु का आदान-प्रदान ही अधिकाँश चलता था।

व्यापारियों ने अपने को खूब सुसंगठित कर लिया था। एक ही व्यवसाय करने वालों की श्रेणियाँ बन गई थीं। वे सुरक्षित थीं, उनकी सदस्यता जातिबंधन पर निर्भर नहीं थो। राज्य-व्यवस्था इन श्रेणियों को मानती थी, श्रेणी का प्रधान श्रेष्ठी कहलाता था। व्यापार का अन्य संगठन 'सभूय समुत्थान' कहलाता था। यह बड़ा संगठन होता था, जिसमें हिस्सेदार आपस में मुनाफे को बाँट लिया करते थे। व्यापार के लिये साम्राज्य ही ने सड़कें बनवाई थी। सरकार इन सड़कों की रक्षा किया करती थी। जगह जगह ठहरने का प्रबंध था। सेना रहतो थी। एक सड़क पाटलिपुत्र से तक्षशिला तक जाती थी।

मौर्य्यकाल में प्राकृत भाषा का बहुत प्रचार हुआ। इसी में क्षत्रियों ने धर्म प्रचार किया था मौर्य्य शासन व्यवस्था ने उसे स्वीकार कर लिया और परिणाम स्वरूप उसका खूब प्रसार भी हुआ। इस भाषा के प्रभुत्व से ब्राह्मणों का एक प्रकार का विरोध भी किया गया, क्योंकि ब्राह्मण अपने को संस्कृत से अलग नहीं कर पाया था।

इस युग में विशेषताएँ यह थीं।

१—ब्राह्मण और क्षत्रिय ने मिलकर शूद्र राज्य को नष्ट किया।

२—उन्होंने साम्राज्य बनाया जिसका आधार विदेशी आक्रान्ता से रक्षा करने का था, जिसमें प्रजा ने उसे मदद दी।

३—व्यापारियों को समस्त भूभाग में व्यापार करने की स्वतन्त्रता मिली और उनकी शक्ति पहले से कहीं अधिक बढ़ गई।

४—व्यापारियों की श्रेणी और कंपनियाँ बन गई। इनमें जाति का भेद नहीं रहा।

५—कृषकों को भी पहले से मुक्ति मिली।

६—स्त्रियों के अधिकार पहले से बढ़े।

७—दास उत्पादन के साधन नहीं रहे, परन्तु घरेलू दासप्रथा अभी जीवित थी।

८—सामन्तवाद के इस विकास ने गणों की सत्ता का स्वातंत्र्य मिटा दिया और वे अन्तर्गत राज्य सीमाएँ हो गईं।

९—ब्राह्मण पुरोहित वर्ग था। बौद्ध पुरोहित वर्ग ने उससे टक्कर ली। क्षत्रिय ने काम निकल जाने के बाद ब्राह्मण का एक प्रकार से विरोध किया।

१०—ब्राह्मण वर्ग धीरे-धीरे इसका विरोध करता रहा।

११—जैनधर्म भी क्षत्रियों से प्रश्रय का प्राप्त कर सका किन्तु उसने श्रेष्ठियों से अधिक सहायता ली और पाई।

१२—प्राकृत भाषा का खूब प्रचार हुआ।

१३—अहिंसा साम्राज्य रक्षार्थ मन्त्र बन गया। व्यापार भी अहिंसा के नाम पर फला फूला।

१४—जो व्यापार के अच्छे केन्द्र थे उन्हें जीतकर मौर्य्यों ने साम्राज्य में मिला लिया, बाकी लोगों से मित्रता करली जिन्हें हराने में, जिनसे युद्ध करने में काफी हानि का भय था।

१५—व्यापार सुरक्षित हो जाने के बाद राज्य फिर खंड राज्यों में बँटने लगा क्योंकि व्यापारियों पर सामन्तीय प्रभुत्व फिर अधिक आने लगा। उस समय नये साम्राज्य की आवश्यकता पड़ती दिखाई देने लगी।

१६—आंध्र, और महाराष्ट्र में नया गठबंधन हुआ और दक्षिण उत्तर से टक्कर लेने को तैयार हो गया।

१७—कलिंग स्वतंत्र उठ खड़ा हुआ।

१८—इस समय के अन्त में फिर यवनों ने उत्तर से अपना आक्रमण प्रारम्भ कर दिया जनता पर फिर विनाश के बादल मँडराने लगे।

मौर्य्य साम्राज्य के अन्त में निम्नलिखित राजा उठ खड़े हुए—

(१) कलिंग, (२) मगध, (३) महाराष्ट्र, (४) कुम्भ प्रदेश।

यवन गांधार, पश्चिम मालव, पंजाब पर छा गये। जैन उड़ीसा में प्रबल रहे। महेश्वर और भागवत संप्रदाय का प्रभाव बढ़ा। ब्राह्मणों ने इस समय मगध में सिर उठाया। अश्वमेध, यज्ञ, और बलि फिर होने लगी। शुंग पुष्यमित्र ने मौर्य्यवंश का अन्त कर दिया और संस्कृत भाषा का पुनरुद्धार प्रारम्भ कर दिया।

महाभारत से पहले ब्राह्मण राज्यतन्त्रों में भी आयुध रखता था। महाभारत युद्ध तक ब्राह्मण इस परम्परा को छोड़ चुका था। आश्वत्थामा और द्रोण आदि ही आयुध जीवी ब्राह्मण मिलते हैं। कालान्तर में तपोवनों में वह आयुधों से और भी दूर हो गया। किंतु अब आत्मरक्षार्थ उसमें फिर आयुधजीवोपयोगिता बढ़ी और उसने शास्त्र धारण किया। शुंगवंश ब्राह्मणवाद का पुनरुत्थान था। किन्तु उसमें पहले के रूप से परिवर्त्तन था। पुष्यमित्र का शासन गंगा घाटी, पंजाब, नर्मदा तक था। विदिशा, शाकल, बंगाल का समुद्र तट, बघेलखण्ड सब उसके साम्राज्य में थे। विदर्भ में उसका पुत्र शासक था। पुष्यमित्र ने फिर भारत को एकत्र करने के लिये अश्वमेध का घोड़ा छोड़ दिया था और यवन को भारत के बाहर निकाल दिया था। इस सफलता से उसने अश्वमेध किया। कहा जाता है उसने बौद्धों पर अत्याचार किया था, किन्तु इसका प्रमाण बौद्धों के ही ग्रन्थों में है। बौद्धों के हाथ से राजाश्रय छिन गया था। उस समय कुछ तो उनका इस अभाव को अधिक अनु-

भव करना भी स्वाभाविक था. कुछ ब्राह्मणों ने प्रतिहिंसा भी ली होगी। कहा जाता है कि जिस यवन को पुष्यमित्र ने हराया था, वह मिनान्दर था (मिलिंद) वह बौद्ध हो गया था। बौद्ध उसके पक्षपाती थे। यह स्पष्ट हो जाता है। कि बौद्ध ब्राह्मणों के विरुद्ध विदेशियों को भी बुला रहे थे। धर्म के राजनीतिक प्रतिद्वन्द्विता में बदल जाने से और भी द्वेष बढ़ जाने की सम्भावना थी। आज के मानववादी दृष्टिकोण से यवन भी मनुष्य थे, किन्तु वे विदेशी शासक तो थे ही। और आक्रान्ता थे। यदि वे सच्चे अहिंसक बौद्ध होते तो आक्रमण क्यों करते? हरिवंश पुराण कहता है कि जनमेजय के बाद पुष्यमित्र ने ही अश्वमेध यज्ञ किया था। निश्चय ही यह सत्य लगता है। जन्मेजय के बाद आर्य्य शक्ति का ह्रास हो गया था। क्षत्रियगणों की शक्ति बढ़ी थी। चातुर्वर्ण्य का नया रूप बना था, जातियों की अन्तर्भुक्ति से। चाणक्य और चन्द्रगुप्त ने पहले साम्राज्य बनाया था, उसमें क्षत्रिय ब्राह्मण का साथ छोड़ बैठे। अब ब्राह्मण ने क्षत्रिय को दबाया था। अतः उसने फिर यज्ञ किया।

बौद्धों की राजनैतिक शक्ति का ह्रास ही पुष्यमित्र को अत्याचारी कहता है। पुष्यमित्र के समय में ही भरहुत का बौद्ध-स्तूप बना है। अगर वह ऐसा अत्याचारी कट्टर होता तो क्या यह संभव हो सकता था कि बौद्ध धर्म के नाम पर ईंटें जुड़ पातीं? वह ईंट से ईंट अलग नहीं कर देता? अतः यह अत्युक्ति है कि वह घोर अत्याचारी था।

शुंगवंश के समय में ब्राह्मणों ने अन्तर्भुक्ति का काम बढ़ा दिया था। भागवत सम्प्रदाय की कर्मकाण्ड में अन्तर्भुक्ति हो रही थी। उसका प्रभाव बढ़ रहा था। इसी समय हेलियोदोरस् नामक ग्रीक (यवन) वैष्णव हो गया था अर्थात् वह धर्म में स्वीकृत कर लिया गया था। उसने विदिशा में वासुदेव की पूजा के लिये गरुड़ध्वज बन वाया था। इन राजाओं के निरन्तर यवनों से युद्ध चलते रहे थे।

सऽङ्ग वेद का अध्ययन अब खूब होता था। ब्राह्मणों का नया-रूप वैष्णव धर्म खूब फैल रहा था। निरन्तर ब्राह्मणवाद विकास करता चला जा रहा था। शुंग वंश का स्थान लेने वाला काण्व वंश भी ब्राह्मण था। उसने कोई विशेष परिवर्त्तन नहीं किया। कुल ४५ वर्ष ही राज्य किया था।

शुंग-वंश का समकालीन खारवेल था। वह कलिंग का पुनुरुत्थान था। अब कलिंग में चेदिवंशीय क्षत्रिय थे जो स्वतन्त्र हो गये थे। मेरा मत है कि कलिंग के राजवंश और चेदिवंश का मिलन ही इसका नया रूप था। अनेक आर्य्येतर जातियों के योद्धा इस युग में क्षत्रिय माने जाने लगे थे। खारवेल ने मूषिक नगर के लोगों को दबाया। वह दक्षिण के आंध्र शातकर्णि का मित्र था। उसने राष्ट्रिकों, और भोजकों को झुकाया, गंगा तक भू प्रदेश जीत लिया। उसके हाथी गंगा में नहाये थे। पितुण्ड मण्डी को उसने गधों के हल से जुतवा दिया था। खारवेल ने तमिलों पर भी प्रभुत्व जमाया था। वह जैन था।

इस प्रकार प्रगट होता है कि मौर्य्य साम्राज्य के खंडहरों में से ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों ही उठ खड़े हुए थे। वेदिक कालीन आंध्र की प्राचीन जाति कृष्णा और गोदावरी नदियों के बीच दक्षिण भारत में अब भी थी। इस समय इस पर अन्तर्भुक्ति का पूरा प्रभाव पड़ चला था। अब आंध्र के पुराने पुजारी वर्ग का ब्राह्मण वर्ण, योद्धा वर्ग का क्षत्रिय वर्ण, व्यापारी वर्ग का वैश्य वर्ग और कमकर वर्ग का शूद्र वर्ग में मिलन हो चुका था और वह मिलन भी काफी पुराना होगया था। + अशोक के समय में यह लोग मौर्य्य साम्राज्य में थे। आंध्र अब अशोक के बाद स्वतन्त्र हो गया। शिशुक या शिमुख उठा। उसने कण्व वंश भी नष्ट किया ऐसा बताते हैं। आंध्रवंश का नाम ही सातवाहन वंश था। सातवाहन ब्राह्मण थे।

+ देखिये हिन्दी साहित्य की धार्मिक और सामाजिक पृष्ठभूमि।

प्राकृत का ही उनमें प्रभाव मिलता है जो तत्कालीन अंतर्भुक्ति का परिणाम है। संभवतः सातवाहनों में नागों का भी सम्मिश्रण था। द्वात्रिंशतपुत्तलिका में सातवाहन, ब्राह्मण और नागों के अन्तर्भुक्त ब्राह्मणों के रूप में वर्णित किये गये हैं। शिमुक का पुत्र कण्ह था। अर्थात् कृष्ण। उसका पुत्र शातकर्णि था। यह बड़ा राजा था। इसके हाथ में बड़ा समुद्री व्यापार था। उसने खारवेल से मित्रता कर ली थी। उसने भी दो बार अश्वमेध यज्ञ किये थे। इसी वंश में 'गाथा सप्तशती' का प्राकृत, ग्रंथ लिखने वाला राजा हाल भी पैदा हुआ था। सातवाहनों का क्षत्रपों और शकों से भयानक युद्ध हुआ था और उसमें इनके हाथ से महाराष्ट्र निकल गया था।

गौतमी पुत्र शातकर्णि ने क्षत्रियों, शकों, यवनों और पह्लवों को हराया था। उसके पुत्र श्री पुलमावी ने शक क्षत्रप रुद्रदमन की कन्या से विवाह किया था। यज्ञ श्रीशातकर्णि इस वंश का अन्तिम महान राजा था। उसने साम्राज्य विशाल कर लिया था। उसके बाद के राजा अधिक न टिक सके। उनको शकों, आभीरों और पल्हवों ने समाप्त कर दिया सातवाहन ब्राह्मणों को एक ओर अभीरों ने हराया, दूसरी ओर क्षत्रिय इक्ष्वाकुओं ने हरा दिया और साम्राज्य नष्ट हो गया।

प्राचीनकाल से ही तमिलों में राजा होता था और राजा के पास पुरोहित, वैद्य, ज्योतिषि, जनता के प्रतिनिधि तथा मन्त्रियों की सभा सलाह मशविरे के लिये हुआ करती थी।

इस समय व्यापार की समुद्र से और भी अधिक उन्नति हुई। भड़ौंच, शूर्पारक, और कल्याण प्रसिद्ध बन्दरगाह थे, तगर और पैठण विशाल मण्डियाँ थीं। समस्त दक्षिणी भारत में व्यापारियों के आवागमन के लिये रास्ते बन चुके थे।

समाज में कुल मातृपक्ष से चलते थे। यही उत्तर और दक्षिण में भेद था। यह यहाँ की प्राचीन मातृसत्ताक व्यवस्था का प्रभाव प्रकट करता है। वरुण वासुदेव, इन्द्र और शिव तथा स्कंद की पूजा होती थी। बौद्ध भी दक्षिण में काफी थे। बौद्धों को भी यह ब्राह्मण वंश दान देता था।

खारवेल क्षत्रिय, सातवाहन तथा शुंग वंश ब्राह्मण निरंतर उत्तर पश्चिम से आने वाले विदेशियों से लड़ते रहे थे। परन्तु फिर भी पंजाब में यवन बस गये थे। डिमेट्रियस उनका राजा था। उसकी राजधानी सागल थी (स्यालकोट) मिनान्दर या मिलिंद इसी वंश में था। जो बौद्ध हो गया था। यूक्रेटिडस ने बैकाट्रिया से हमला करके तक्षशिला, पुष्कलावती और कपिशा पर अधिकार कर लिया। उनके ऊपर शकों ने हमला करना शुरू कर दिया और वे विजयी हो गये। यवनों को हराकर शुकों ने राज्य बढ़ाया। ४० ई० पू० में यवनों का सूर्यास्त हो गया। लगभग, उनका राज्य, १५० वर्ष रहा और फिर वे भारतीय वर्ण व्यवस्था हो के विशाल उदर में धीरे धीरे समा गये। उनका पता भी नहीं चल सका। ज्योतिष और गांधार कला के अतिरिक उनका कोई प्रभाव भारतीय समाज पर नहीं पड़ा। वे बर्बर कहलाते थे।

पार्थियन, शक और पह्लव मिली जुली जातियाँ थी। वनान, श्पलहोर, श्पलगदम, श्पलिरिष, श्रय, गुदफर्न, पकुर इनके महत्व-पूर्ण राजा थे। यह भी भारतीय उदर में समा गये।

पार्थियनों के बाद कुषाणों का आक्रमण हुआ। यह शकों की एक उपजाति के लोग थे। शक बड़े सशक्त लोग थे। उत्तर पश्चिम भारत में सबको ही एक बार पराजित कर दिया था। योअस, अय, आदि इनके राजा हुए। मथुरी महाराष्ट्र, उज्जयिनी में शकों के क्षत्रप रहते थे। यह सीथियन भी प्रजा पर जबर्दस्ती नहीं करते थे। सीथियनों में भी राजा आदरणीय समझा जाता था। धीरे-धीरे यह लोग भारतीय धर्मों को स्वीकार करने लगे। उन्होंने यहाँ की भाषा भी स्वीकार करली। कालान्तर में यहीं घुलमिल गये।

कुषाण कुजुल कदाफ़िस बौद्ध था। उसका राज्य ईरान से सिंधु नदी तक फैला हुआ था। उसके पुत्र विम कदाफ़िस ने मथुरा तक साम्राज्य फैला लिया। वह शैव धर्मानुयायी था। उसके बाद

कनिष्क प्रतापी राजा हुआ। वह बौद्ध था। कहा जाता है कनिष्क ने ही शक सम्वत् चलाया था। कनिष्क ने ही अश्वघोष को बुलावाया था। कनिष्क ने चीन पर आक्रमण करके चीनियों को हराया था। वह पेशावर (पुरुषपुर) में रहता था। कनिष्क यूनान ईरान, भारत, सबके देवी देवताओं की पूजा करता था। वह हवन भी करता था। उसने अश्वघोष जैसे संकीर्ण बौद्ध धर्मावलम्बी का बड़ा आदर किया था। कैसा आश्चर्य है कि शिष्य सम कनिष्क गुरुसम अश्वघोष से कहीं अधिक उदार था। इस समय बौद्ध भी संस्कृतभाषा का प्रयोग करने लगे। अब उनका जनता से संपर्क छूट चुका था। ब्राह्मणों के सामने बचे रहने की आवश्यकता थी अतः इस पुरोहित वर्ग ने पुराने पुरोहित वर्ग की भाषा को अपना लिया। महायान ब्राह्मणधर्म का समानान्तर बन गया था। कनिष्क ने कई स्तूप और नगर बनवाये थे।

उसकी मृत्यु कारण उसके सैनिकों का षड़यन्त्र था। उसके बाद हुविष्क राजा हुआ। हुविष्क के बाद वासुदेव राजा हुआ जो शिव का भक्त था। इस समय ही संभवतः विक्रम संवत् चलाने वाला कोई राजा हुआ था। भारत में इस समय नागजाति ने फिर सिर उठाया और उत्तरी भारत पर अपना अधिकार जमा लिया। विदिशा, पद्मावती, कान्तिपुरी, और मथुरा नागों के प्रधान केन्द्र थे। नागों की ७ पीढ़ियों ने शासन किया। यही भारशिव नाग थे। इन्होंने उत्तरापथ के विदेशियों को पराजित किया। वह नागा ब्राह्मण धर्मानुयायी थे। इन्होंने अश्वमेध यज्ञ किये। अंततोगत्वा भारत की प्राचीन जाति नाग, जो ब्राह्मण व्यवस्था में महाभारत युद्ध के बाद घुलमिल गई थी, उठ खड़ी हुई। और उसने अपना प्रभुत्व जमा लिया। नागवंश अंत में वाकाटकों में लुप्त हो गया।

इनके बाद गुप्त साम्राज्य प्रारम्भ हुआ। चन्द्रगुप्त प्रथम, समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्तद्वितीय, कुमारगुप्त, और स्कंदगुप्त इस वंश का महान राजा थे। गुप्त क्षत्रिय थे किन्तु भागवत संप्रदाय के

अनुयायी थे। सम्भवतः गुप्त पहले उच्च क्षत्रिय न थे, वे ब्राह्मणों द्वारा स्वीकार कर लिये गये थे। ब्राह्मण धर्म पर इस समय वैष्णव का प्रभाव पर्य्याय था। गुप्तों के समय में बौद्धों ने विदेशियों को बुलाने के कुचक्र बनाये थे। विहारों में, बौद्धों में, खूब धन एकत्र हो गया था और वज्रयान की तैयारी हो गई थी। निन्तर राष्ट्रीयता की आड़ में चलने वाला ब्राह्मणवर्ग अब भी सशक्त था। राष्ट्रीयता की मदद से ही ब्राह्मण परोहित अपने को वर्ग जीवित रख सका। शकों के विरुद्ध गुप्तों ने विद्रोह किया और चन्द्रगुप्त प्रथम का शासन प्रारंभ हुआ। लिच्छवि गण की कुमारदेवी से उसने विवाह किया और लिच्छविगण नाम मात्र को ही रह गया। यह ही गण पहले रक्तवर्ग से कन्या आपस में ब्याह लेते थे। विदूढभ की माता ऐसी एक दासी थी परन्तु अब उनकी शक्ति नष्ट हो चुकी थी। दासप्रथा समाप्त हो गई थी। क्षत्रीय कुलों का शासन तो था, किंतु वह सामन्तीय प्रथा के अनुसार था। लिच्छवियों को व्रात्यमाना जाता था। उनका कोई विशेष आदर भी नहीं माना जाता था।

समुद्रगुप्त ने एक राट् बनाया। उसने समस्त गणों को नष्ट करके राज्य बना लिया। इस प्रकार सामन्तकाल की पूर्ण विजय हो गई रक्तगर्व के वे अड्डे, जहाँ दास प्रथा के अवशेष थे वे पूर्णतया मिला दिये गये। उसने नागवंशी राजाओं को भी हराया। व्यापारियों के लिये उसने जंगलों के आटवी राज्यों को भी पराजित किया और शान्ति स्थापित करदी। दक्षिण के १२ राज्यों को उसने आधीन नहीं बनाया, जीता, पर लौटा दिये। वह अधिक चतुर था। वह जानता था उन्हें सदा के लिये दबा कर नहीं रखा जा सकता था। काँची का राजा विष्णुगोप भी बड़ी टक्कर का आदमी था। परन्तु समुद्रगुप्त ने वहाँ साम्राज्य नहीं फैलाया। एक मित्रता सी कर ली। बंगाल आसाम सब इसके आधीन हो गये। उसने मालव, मदक, यौधेय, अर्जुनायन, अम्मीर, प्रार्जुन, सनकानिक, काक, खरपीरक आदि गणों को आधीन कर लिया।

सिंघलद्वीप उसके आश्रित था। समुद्रगुप्त ने कुषाणों और शकों की कन्याओं से विवाह करके पारस्परिक सम्बन्ध जोड़े थे। समुद्रगुप्त बौद्धों के विहार बनवाये। उसने अश्वमेध यज्ञ भी किये। राज्य-व्यवस्था वही सामन्तीय थी। उसका केन्द्रीय शासन बड़ा प्रबल और प्रचण्ड था। इसे इतिहासकार सुवर्णयुग कहते हैं। उसने हारे हुए राज्यों को लौटाया। साम्राज्य की आवश्यकता थी जो बन कर तैयार हो गया।

समुद्रगुप्त के बाद शकों ने सिर उठाया। चन्द्रगुप्त द्वित्तीय, जो उसका पुत्र था। उसने शकों को हराया और गद्दी के मालिक अपने बड़े भाई कायर रामगुप्त को मार कर उसकी स्त्री ध्रुवस्वामिनी से विवाह कर लिया। भाभी से ब्याह नगण्य माना गया। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने नागवंश की कन्या कुबेरनागा से विवाह किया। उसकी पुत्री का विवाह उसने वाकाटक राजा रुद्रसेन द्वित्तीय से कर दिया। इसने शकों को बुरी तरह मारा। इसने बंगाल और वाल्हीक का विद्रोह कुचला था। इसके हिमालय से नर्मदा, बंगाल से काठियावार तक के साम्राज्य में कंबे, घोघ, वेखल, पोरबन्दर और द्वारका के बन्दरगाह थे। चन्द्रगुप्त वैष्णव था, किंतु उसका सेनापति बौद्ध और मन्त्री शैव था। इसी के समय में फाहियान भारत में आया था। इसी न विक्रमादित्य का नाम धारण किया था।

कुमार गुप्त, चन्द्रगुप्त का पुत्र था उसने भी अश्वमेध किया और शकों से युद्ध किया था। उसका पुत्र स्कन्दगुप्त था। उसी के समय में उत्तर से हूणों ने हमला किया जो असली हूण नहीं थे। शकों की एक और शाखा थी। हूणों ने गुप्त साम्राज्य को नष्ट कर दिया। इसी के समय कहा जाता है बौद्धों ने ब्राह्मण विद्वेष में हूणों से संधि करली थी और साम्राज्य नष्ट करवा दिया था। स्कंन्दगुप्त बड़ा त्यागी राजा था। वह तीन दिन विचलित राजलक्ष्मी को स्थिर करने के लिये भूमि पर सोया था। गुप्त साम्राज्य उसके बाद मगध के

आस पास ही रह गया। बौद्ध विहारों ने राज्य पर प्रभाव डाला। वज्रयान अब तैयार था।

स्कदगुप्त बड़ा उदार वैष्णव था। कार्त्तिकेय, सूर्य्य, शिव आदि की पूजा होती थी। उसने जैन तीर्थङ्करों की चार मूर्तियां बनवाई थीं।

गुप्तकाल में सम्राट देवतुल्य माना जाता था। कालिदास इसी युग में था। इस समय भी अन्तर्जातीय विवाह होते थे। ब्राह्मण भी शकों को कन्या ब्याह देते थे। शूद्र, व्यापर, शिल्प और कृषि में भी भाग लेने लगे थे। शूद्र सेना में भर्ती हो जाते थे और ऊँचे पद प्राप्त कर लेते थे। यह भागवत् धर्म की सहिष्णुता का प्रभाव था। छूआछूत बढ़ गई थी। अछूत बस्ती के बाहर रहते थे और बस्ती में आने के लिए उन्हें लकड़ी बजानी पड़ती थी, तभी वे लोगों के हट जाने पर भीतर आ पाते थे इनके विषय ब्राह्मण,, जैन और बौद्ध सब चुप थे। ब्राह्मण सरकारी कर्मचारी बन गये थे। बहुत से क्षत्रिय व्यापार करने लगे थे। वैसे ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्ण अब अच्छे मित्र थे। पल्लव राज्य के क्षत्रियों ने मयूर शर्मा ब्राह्मण का अपमान किया था तो वह भी क्षत्रिय बन गया था। इस युग में घरेलू दास प्रथा अवशिष्ट थी। ऋण चुकाकर, दासता से मुक्त हुआ कहा जा सकता था। कन्याओं का १२ या १३ बरस तक विवाह हो जाता था। विधवा विवाह जायज़ था। सती प्रथा फिर प्रारम्भ हो गई थी। उच्च कुलीन स्त्रियों में पर्दा प्रथा थी। ब्राह्मणों ने मांस भक्षण त्याग सा ही दिया था। पश्चिमी देशों से दक्षिण में शराब आती थी।

कपड़े बुनना देश का खेती के बाद प्रधान व्यवसाय था। जहाज खूब बनते थे। ताम्रलिप्ति (बंगाल) बन्दरगाह से बड़ा सिंधु व्यापार चलता था। ब्राह्मणों और बौद्धों का इस युग में काफी सान्निध्य भी रहा था। पौराणिक धर्म अधिक प्रचलित हो गया था। यक्ष और नाग की पूजा भी चलती थी।

सुमात्रा, जावा, बोर्नियो, मेसोपाटामिया, सिरिया में इसी युग में हिन्दू मन्दिर बने थे।

संस्कृत इस समय राष्ट्रभाषा थी। गणित, ज्योतिष, वैद्यक और रसायन, पदार्थ, तथा धातु विज्ञानों की इस समय खूब उन्नति हुई थी।

वाकाटकों का भी हूणों ने नाश किया। अंततोगत्वा हूण भी भारतीय समाज में मिल गये।

सामन्तीय युग के प्रथम काल का अन्त आगया था। अन्तिम वंश मौखरि वंश था, जिसमें हर्षवर्द्धन बड़ा पराक्रमी हुआ था। उसके समय में दक्षिण में पुलकेशिन् द्वित्तीय बड़ा प्रचण्ड सम्राट था।

इसके बाद भारत में बड़ा साम्राज्य नहीं बना।

अब पाटलिपुत्र युग के स्थान पर कन्नौज युग प्रारम्भ हो गया था। मौखरिवंश के समय में भी समाज में कोई मूलभूत परिवर्त्तन नहीं हुआ, न सांस्कृतिक रूप से ही कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्त्तन दिखाई देता है। जैन धर्म अवश्य अब लोकप्रिय नहीं था। बौद्ध धर्म प्रायः वज्रयान में बदल चुका था, और ब्राह्मण धर्म अब संकीर्णता की ओर बढ़ रहा था। अब कोई आक्रमणकारी नहीं था। सामन्त-काल की प्रगतिशीलता नष्ट हो चुकी थी। व्यापार भी समुद्र का हाथ से चला गया था। अरबों ने उसे ले लिया था।

राज्य श्री हर्ष की बहिन थी। वह बौद्ध थी। हर्ष सूर्य्य, शिव, और बुद्ध, तीनों की पूजा करता था। वह बड़ा उदार शासक था और उसने चीन से बड़ा अच्छा संबंध स्थापित किया था। उसके समय में ब्राह्मण संकीर्णतावादी रूढ़िवादी हो चले थे। अर्जुन ने ब्राह्मण का द्वेष भाव रख कर चीन के राजा के भेजे बौद्धों की हत्या कर दी थी, तब चीन के सम्राट के कहने से तिब्बत का राजा उसे पकड़ ले गया था। गुप्त साम्राज्य का अवशेष शशांक नरेन्द्रगुप्त भी कट्टर ब्राह्मणवादी था। गुप्त साम्राज्य के पतन में बौद्धों के कुचक्र की प्रतिहिंसा से उसने बुद्ध का बोधिद्रुम कटवा दिया था। बौद्धों का जनता में प्रभाव अजीब था। जनता वज्रयानी थी। जादू टोना

मानती थी। बुद्ध को भगवान् मानती थी। विहारों में ढेरों सुवर्ण था।

इस युग में इतनी नई जातियां आकर अंतर्भुक्त हो गई थीं कि ब्राह्मण घबरा उठा था। सामंतीय व्यवस्था के विकास में उसने विकासशील काम किया था। किंतु अब उसकी विकासशीलता नष्ट हो गई थी। सामन्तवाद जनता पर बोझ बन गया था। उस समय ब्राह्मण ने अपने धर्म को अपनी रक्षा के लिए चारों ओर से बांधना प्रारम्भ कर दिया। और यहीं से सङ्कीर्णता प्रारम्भ हुई। वस्तुतः यह संकीर्णता इसलिये हुई थी कि निम्न जातियों ने भागवत संप्रदाय के प्रभाव के फलस्वरूप काफी सिर उठा दिया था, और ब्राह्मण की सत्ता ही खतरे में पड़ गई थी।

इस्लाम के आने के पहले ही भारत में यह संकीर्णता प्रारंभ हो गई थी और इस्लाम जब आया था तब उसे एक ऐसा रूढ़िबद्ध समाज मिला था, जिसमें कोई भी लचक बाकी नहीं रही थी।

इस युग में वेदवाह्य संप्रदाय उठ खड़े हुए थे। सामंतीय व्यवस्था जर्जर तो थी किंतु उसके बदल जाने के आसार नहीं थे। क्योंकि आर्थिक व्यवस्था को बदलने के लिये समाज में उत्पादन के साधन नहीं बदले थे। उस समय समाज में एक स्थिरता थी। निम्न जातियों ने अवश्य सिर उठाना प्रारंभ किया था।

चाणक्य के समय से हर्ष के समय तक भारत में विभिन्न जातियों की परिस्थति पहले से बदल गई थी। यह कबीलों का रूप पूर्णतया छोड़ नहीं पाई थीं। मालव, क्षुद्रक, इत्यादि यद्यपि कबीले थे किन्तु इनमें विभिन्न जातियाँ थीं। फिर भी यह एक नाम से पुकारी जाती थीं। इस युग की विशेषता थी कि जब महाभारतकाल में इतने नगर नहीं थे, इस युग में नगरों का आधिक्य हो गया।

महाभारत के युग में निम्नलिखित मुख्य नगर थे—

तक्षशिला, उपप्लव्य (ग्राम), इन्द्रप्रस्थ, हस्तिनापुर, मथुरा, प्रयाग,

अयोध्या, राजगृह, ताम्रलिप्त, मिथिला काशी। इनके अतिरिक्त भी छोटे बड़े नगर रहे होंगे, परन्तु उनका अधिक महत्व नहीं लगता।

अशोक के समय में नगर कहीं अधिक थे—

पुरुषपुर, तक्षशिला, इन्द्रप्रस्थ, मथुरा, कपिलवस्तु, ललितापट्टन, वैशाली, पाटलिपुत्र, बौद्धगया, ताम्रलिप्त, कौशाम्बी, प्रयाग, काशी, उज्जयिनी, साँची, गिरनार, शूर्पारक, स्वर्णगिरि, सिद्धपुर, मदुरा, तौसाली इत्यादि।

हर्षवर्द्धन के समय में और भी बढ़ चुके थे: काबुल, जालन्धर, श्रीनगर, स्थाण्वीश्वर, ग्वालियर, मतिपुर, गौड, नालन्दा, पुरी, धान्यकटक, नौल्लूर, अजन्ता, नासिक, वल्लभी, इत्यादि।

हर्ष के समय में बुद्ध और हिन्दू देवताओं की साथ-साथ भी पूजा हुआ करती थी। हर्ष स्वयं पुरोहित वर्गों के भेद को नगण्य समझ कर सब को ही समान रूप से दान दिया करता था। वास्तविकता यह थी कि उस काल में दोनों में अपनी परम्पराओं का भेद अवश्य था परन्तु सामाजिक रूप में दोनों ही समान हो गये थे। उनका राजनीतिक भेद कोई नहीं रहा था। दोनों ही पुरोहित वर्गों की भाँति थे।

त्रिपुरी का इतिहास पृ० ७२,* प्रगट करता है कि गुप्तकाल में ही एक ही मन्दिर में नृसिंह, गंगा, यमुना, दशभुज-चण्डी, शेष-शायीविष्णु, ब्रह्मा, जैनतीर्थङ्कर पार्श्वनाथ तथा बुद्ध मूर्त्ति मिल जाती थी। यही वह पारस्परिक मिलन था कि श्रीमद्‌भागवत में बुद्ध को भी अंततोगत्वा हिन्दू अवतार मान लिया गया है। ऋषभ तीर्थङ्कर जैन तथा दत्तात्रेय भी तो अवतारों में आ गये हैं। जिस प्रकार महाभारत युद्ध के बाद विष्णु और शिव के रूपों में भारतीय जातियों के विभिन्न देवता अंतर्भुक्त हो गये थे, उसी प्रकार सामन्तीय युग की प्रगतिशीलता के समाप्त होने के समय

---

* लेखक—व्यौहार राजेन्द्रसिंह—जबलपुर १९३९।

फिर समाज का नया रूप गढ़ने लगा था, ताकि वैमनष्य दूर हो सके और इसी में वे तमाम जातियाँ जो नयी थीं, या बाद में जो संप्रदाय उठे थे, सब ही घुलमिल जा रहे थे, तब नये रूप की आवश्यकता आ गई थी और दशावतार ने बढ़कर चौबीस अवतारों का रूप ले लिया और सबको अपने भीतर अंतर्भुक्त कर लेने का प्रयत्न किया था।

मध्यभारत में यशोधर्मन् एक प्रचंड शासक हुआ था, जिसने हूणों को गुप्तों के बाद परास्त कर अपना राज्य जमाया था। इसका राज्य, यद्यपि इस पर मतभेद है, ब्रह्मपुत्रोस लेकर पश्चिमी समुद्र तक, और हिमालय से तिरवाँकूर तक बताया जाता है। इसके बाद ही हर्षवर्द्धन का उत्थान हुआ था।

अपने 'हिन्दुइज्म' में मोनियर विलियम्स ने बड़ा प्रयत्न किया है कि वह भारतीय धर्मों की अंतर्भुक्ति के इस स्वरूप को समझ सके किंतु वह असफल रहा है, क्योंकि भारतीय इतिहास की शृंखलाएँ तब तक (१८७७ ई०) स्पष्ट नहीं हो सकी थीं, जब उसने लिखा था।

डाक्टर हीरालाल × ने इस अंतर्भुक्ति पर प्रकाश डाला है यद्यपि वे उसकी वैज्ञानिक ढंग से व्याख्या नहीं कर सके हैं। उनके तथ्यों से निम्नलिखित जो हमें सारांश मिलता है, वह यहाँ लिखते हैं।

मध्यप्रदेश के मूल निवासी जब यहाँ रहते थे तब इसे आर्य्यो दण्डकारण्य कहते थे। उन्होंने यहाँ आधिपत्य जमाया। इस भूमि को जीतने के पूर्व ही उन लोगों ने इसको इक्ष्वाकुवशीय मान लिया। उन्होंने मूल निवासियों को सताना प्रारम्भ किया। मूल निवासी उनके यज्ञों में बाधा डालने लगे। राम जब आये तब

१६५१—कलकत्ता

× मध्यप्रदेश का इतिहास संवत् १६६६ काशी पृ० ६ स०—

ऐसे ही मरे हुए आर्यों की हड्डियाँ उन्हें दिखाई गईं। राम ने बालि को मारा और कहा था—'यह वन कानन-शालिनी सशैव भूमि इक्ष्वाकुवंश वालों के अधिकार में है। भरत उस वंश के राजा हैं और हम उनके आज्ञा अनुसार पापियों को दण्ड देने के लिये नियुक्त हैं। जिन्हें दण्ड देना है उनके संग क्षत्रियों के समान सन्मुख होकर युद्ध करने की कोई आवश्यकता नहीं है।'

मध्यप्रदेश के मूल निवासी गोंड हैं। कोई चार सौ वर्ष पूर्व जब इस प्रदेश में गोंडों का आधिपत्य हो गया और ब्राह्मणों ने समय देख गोंड राजाओं को प्रसन्न करने के लिये राजघरानों की पंक्ति अलग बनाकर उन्हें जनेऊ पहनाकर क्षत्रियवर्ण की व्यवस्था कर दी, तब भी वे अपने को पौलस्त्यवंशी ही कहते रहे।

डाक्टर हीरालाल ने इंगित किया है। वस्तुतः पुलस्त्य पहले ही महाभारत में ब्राह्मणों के इतिहास में ब्रह्मा के रूप में स्वीकृत हो चुका था। गोंड गुप्तकाल में भी रहे थे और अशोक काल में भी। कितने जाने आकर अपने को भारतीय समाज में अंतर्भुक्त कर गये। यह गोंडों की अंतर्भुक्त का हाल का प्रमाण है। अधिकांश जनेऊ और क्षत्रियत्त्व इसी प्रकार ब्राह्मण ने विभिन्न जातियों को दिया था।

एतिहासज्ञों के साथ परेशानी है कि वे सातवीं सदी ईसा पूर्व से ही इतिहास को प्रारम्भ करते हैं। वस्तुतः उससे पहले कितनी ही शताब्दियाँ बीत चुकी हैं। अभी तक राजवंशों को ही महत्त्व मिलता रहा है। इतिहास के उत्थान और पतन के मूल को नहीं खोजा गया। यद्यपि हमारे पास इतने साधन नहीं हैं कि हम ७०० ई० पू० के इतिहास की निश्चित तिथियाँ बता सकें, परन्तु हम सांस्कृतिक धारा को देख सकते हैं। बुद्ध काल के समृद्ध रूप को देखकर हमें उसकी पृष्ठिभूमि को सोचना आवश्यक है।

बहुत पुराने काल से भारत में पुराण लिखने की परपाटी थी,

किन्तु वह सम्भवतः लुप्त हो गई और यह पुराण तो निश्चय ही परवर्ती हैं।

भारतीय इतिहास के पूर्वमध्य काल अथवा यह युग जिसके अन्त में हिन्दी का प्रारम्भ हुआ है, हम उसका सांस्कृतिक रूप देखते हैं।

इसी समय जातकों का निर्माण हुआ और अधिकांश जैन-साहित्य भी इसी समय लिखा गया। इसी युग में पुराण बने और धर्मशास्त्र भी अधिकांश इसी समय में लिखे गये थे। तांत्रिक साहित्य की इस युग में इतनी उन्नति नहीं हुई थी जितनी अगले ५०० वर्ष में हुई। उसके मूलाधार अवश्य तैयार हो गये थे। (देखिये प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास) यहाँ हम बौद्ध, जैन, ब्राह्मण साहित्य का परिचय देते हैं।

भारतीय इतिहास में ब्राह्मण और क्षत्रियों का जब एक ओर मिलन हुआ है तो वह राज्यतंत्र में फलाफूला है। अवैदिक क्षत्रिय कुल के गण व्यवस्था में थे और ब्राह्मण को सर्वोऽपरि नहीं मानते थे, वे ही बौद्ध और जैन बन कर समृद्ध हुए। यद्यपि गण व्यवस्था उगते सामन्तवाद के सामने छिन्न-भिन्न हो गई, और कालांतर में बौद्ध और जैनों को भी सामन्तोय व्यवस्था के अनुरूप अपने को बदलना पड़ा, परन्तु उन्होंने एक काम किया। वे क्षत्रिय ही पुरोहित बन गये। अर्थात् क्षत्रिय बौद्ध और जैन जो वेद को नहीं मानते थे, उठते सामन्तकाल तथा सामन्तकाल के विकास-काल में, क्योंकि ब्राह्मणों से पौरोहित्य छीन नहीं सके थे, उन्होंने संघबद्ध होकर अपने भीतर ही श्रमणोर परम्परा डालकर एक नये पुरोहित वर्ग को बना लिया। और वे ब्राह्मण पौरोहित्य को चुनौती देते रहे। यही बौद्ध और जैन संप्रदायों के पुजारी वर्ग का मूल इतिहास है।

बौद्धों का पवित्र ग्रन्थ त्रिपिटक है जो पाली में लिखा हुआ है। उसमें बुद्ध के मुख से उपदेश दिलाये गये हैं हम निश्चय से नहीं

कह सकते कि उसमें सचमुच बुद्ध के मुख से निकले हुए शब्द हैं और कितने परवर्त्ती हैं, जो शिष्यों और अनुयायियों ने उनके नाम पर जोड़ दिये हैं। बुद्ध के अधिकांश वचनों को उनमें अवश्य रखा गया होगा, क्योंकि गुरू परम्परा को प्राचीन भारतीय बचाये रखने की चेष्टा करते थे। आर्य्यसत्यों का प्रतिपादन करने वाला भाग अवश्य बुद्धमुख से कहा हुआ ही है क्योंकि वह हर जगह एक सा ही मिलता है। महापरिनिर्वानसुत्त और धम्मपद में ऐसे जो समान वाक्य आते हैं, वे सम्भवतः बुद्ध भगवान के ही कहे हुए हैं। बुद्ध ने अपने समय में संस्कृत में अपने उपदेशों को लिखने से रोक दिया था। वे पाली के ही पक्षपाती थे। पाली जन साधारण की भाषा थी। और बुद्ध संभवत जानते थे कि संस्कृत में अपने उपदेशों का प्रभाव वे नहीं डाल सकेंगे, क्योंकि संस्कृत में ब्राह्मण साहित्य था। उन्होंने अब्राह्मण वर्गों को अपने लिये एकत्र करने का प्रयत्न किया था, और वे इस विषय में सामाजिकरूप से जागरूक दिखाई देते हैं। दससिक्खापदानि, में उनके दस मूल उपदेश प्राप्त होते हैं। पातिमोक्ख भी संम्भवतः काफी प्राचीन वर्णन है। ओल्डेन बर्ग के मतानुसार त्रिपिटक के कुछ छंदों की बना वट रामायण (वाल्मीकि) के छंदों से प्राचीन लगती है। यह होना असंभव नहीं है क्योंकि रामायण का वर्तमान रूप शुंग-कालीन है। त्रिपिटक संभवतः बुद्ध के कुछ ही बाद बनना आरंभ हो गये थे। वे काफी दिन तक रहे होंगे जिसमें उनके समाज की बहुत सी परम्पराएँ एकत्र की गई होंगी। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं समझना चाहिये कि जो त्रिपिटक में उल्लिखित नहीं है, वह त्रिपिटक का परवर्त्ती ही होना चाहिये। त्रिपिटक एक संप्रदाय की रुचि, स्वार्थ तथा परम्परा का ग्रन्थ है, जिसे बनने में काफी दिन लगे हैं। प्रारंभ में केवल गुरु उपदेश को सुरक्षित रखने के लिये ही इसका लिखना प्रारम्भ किया गया होगा। बाद में प्रचार बढ़ने के साथ-साथ इसमें बहुत सी उपदेशात्मक प्रचार की बात भी आ गई

होगीं, जिसने संप्रदाय को फैलाने और बढ़ाने के दृष्टिकोण को भी जोड़ा होगा। इस प्रकार इसके निर्माण में विभिन्न दृष्टिकोण रहे होंगे। त्रिपिटक इतिहास नहीं है जो सबका वर्णन करता। जो उसके अपने कार्य के सिलसिले में उल्लेख आगये हैं उन्हीं का उसमें वर्णन अधिक मिलना संभाव्य है। बुद्ध संप्रदाय के उपदेश, वार्त्ता, और कहावतें तथा गाने और इतिवृत्तात्मक कथा और नियमावलि ही का संग्रह त्रिपिटक है। उसमें महाभारत की सी विभिन्न परम्पराओं की अंतर्भुक्ति नहीं है, न महाभारत की सी धर्म को समझने की जिज्ञासा है। उसमें गुरु है, गुरु उपदेश जीवन के सत्यों का चरम लक्ष्य है। उसमें जीवन की विविधता भी नहीं है, क्योंकि वह भिक्षु जीवन को आदर्श मान कर चलता है। इसका कारण है कि महाभारत विभिन्न संप्रदायों की अंतर्भुक्ति के समय विभिन्न संप्रदायों के लेखकों की व्यापक सहिष्णुता की भावना में निर्मित हुआ है, यद्यपि उसके अपने कुछ बंधन भी हैं जो कहीं-कहीं एक ठौर पर जो कहते हैं, दूसरी ठौर पर उसका विरोध भी कर जाते हैं। त्रिपिटक में एकात्मकता है, एक संप्रदाय विशेष का संकीर्ण दृष्टिकोण है।

बुद्ध की मृत्यु के बाद ही उनके शिष्यों ने 'विनय' नाम से जीवन के कुछ नियम बाँध लेने की चेष्टा की थी, जो बुद्ध भगवान कहा करते थे। दूसरी संगीती वैशाली में बुद्ध के १०० वर्ष बाद हुई बताई जाती है जिसमें बौद्ध एकत्र हुए थे। इसमें काफी मतभेद प्रारम्भ हो गया था। इस संगीती में बुद्ध वचनों के अनुसार ही निर्णय किये गये थे। इससे प्रगट होता है कि कि बुद्ध के निकट बाद ही उनके कुछ वचन लिखे गये होंगे। सम्भवतः शिष्य वर्ग उनके जीवन काल में ही लिखते रहे थे, वरन् मरने के बाद सब शब्दों का याद रह जाना क्या संभव है? यूरोपीय विद्वानों का यह प्रयास कि सब कुछ भारत में बहुत देर में ही हुआ, नितान्त हास्यास्पद है।

श्री रामदास गौड़ ने हिंदुत्व पृ० ४१५ पर जैनों और बौद्धों के पुराणों की सूची दी है।

दिगम्बर जैनों ने २४ तीर्थङ्करों पर २४ पुराण रचे हैं। जो क्रम से यों हैं :—

१—आदि पुराण—इसमें ऋषभदेव की कथाएँ हैं। यह प्रथम तीर्थङ्कर थे। ये ८४ लाख वर्ष जिये थे। (भागवत् में यह ऋषभदेव आठवाँ अवतार है) नवाँ बुद्ध है।

२—अजितनाथ पुराण।

३—संभवनाथ पुराण।

४—अभिनन्दी पुराण।

५—सुमतिनाथ पुराण।

६—पद्मप्रभ पुराण।

७—सुपार्श्व पुराण।

८—चंद्रप्रभ पुराण।

६—पुष्पदन्त पुराण।

१०—शीतलनाथ पुराण।

११—श्रेयांश पुराण।

१२—वासुपूज्य पुराण।

१३—विमलनाथ पुराण।

१४—अनन्तजित् पुराण।

१५—धर्मनाथ पुराण।

१६—शान्तिनाथ पुराण।

१७—कुन्थुनाथ पुराण

१८—अरनाथ ,,

१९—मल्लिनाथ ,,

२०—मुनिसुव्रत ,,

२१—नेमिनाथ ,, नेमिनाथ का वर्णन है।

२२—नेमिनाथ का पुराण, नेमिनाथ कथा है।

२३—पार्श्वनाथ ,,

२४—सम्मति ,, २४ वां तीर्थङ्कर वर्णन

इनके अतिरिक्त है—

पद्म पुराण—लेखक रविसेन

अरिष्टनेमि पुराण (हरिवंश) जिनसेन

उत्तर पुराण—गुणभद्र

जैन पुराणों के विषय कुछ इस प्रकार हैं—

मगधाधिप श्रेणिक का आदि पुराण में उल्लेख है। स्तोत्र हैं। तीर्थङ्करों को ईश्वर के अवतारों की भांति ही माना गया है। मन्वन्तर निर्णय, युगादि निर्णय, पुराण पीठिका वर्णन, धर्म वर्णन, धर्म-नीति वर्णन, जीवजीवादि तत्त्व कथन, स्वर्ग नरक वर्णन, इन्द्रादि देवताओं का वर्णन, जातकर्मोत्सव वर्णन, कैवल्योत्पत्ति कथन, तीर्थ विहार वर्णन, युद्ध विजय वर्णन, द्विजोत्पत्ति वर्णन, इत्यादि के अतिरिक्त प्राय: जीवन के विभिन्न क्षेत्रों का वर्णन है। जिस प्रकार चमत्कार के साथ ब्राह्मणों ने पुराण बनाये हैं, जैनों के भी वैसे ही हैं। दार्शनिक मतभेद अवश्य है।

पद्मपुराण में—नागराज, मन्दोदरी, रावण, सगर, देवगण, लङ्का, सुमालि, इन्द्र, वालि, आदि का वर्णन है। हनुमान, पवन, अञ्जना राम, लक्ष्मण आदि सब की कथा है। वस्तुतः इस पुराण में इन्हीं परिचित ब्राह्मण पुराणों के नामों की अनेक कथाएं हैं जो जैन दृष्टिकोण से लिखी गई हैं।

नैपाली बौद्ध नौ पुराण मानते हैं—जो निम्नलिखित हैं—

१—प्रजापर्णामता

२—गण्डव्यूह

३—समाधिराज

४—लंकावतार—रावण और शाक्यसिंह की कथा है। शाक्यसिंह ने उसे बोधिज्ञान लाभ कराया था, बुद्ध चरित्र सुनाया था।

५—तथागत गुह्यक

६—सद्धर्म पुण्डरीक—इसमें चैत्य वा बुद्ध मण्डल निर्माण पद्धति है और उसकी पूजा का फल बताया गया है।

७—ललितविस्तर—बुद्ध चरित्र

८—सुवर्ण प्रभा—सरस्वती, लक्ष्मी, पृथ्वी की कथा है और उनके द्वारा बुद्ध पूजा है।

९—दशभूमीश्वर—१० भूमियों का वर्णन है।

नेपाल में स्वयम्भुव क्षेत्र और स्वयंभुवचैत्य प्रसिद्ध तीर्थ हैं। बृहत् और मध्यम् दो स्वयम्भुव पुराण भी हैं जो बौद्धों ने बनाये हैं और काफी परवर्त्ती हैं। उनमें स्पष्ट कहा गया है कि नेपाल में बौद्ध धर्म को शैवधर्म ने ही समाप्त कर दिया है—

यदा भविष्ये काले च यत्र नेपाल मण्डले,
बौद्ध लोक गणायेऽपि शैव धर्म करिष्यति।
ते सर्वे कृत पापाश्च नरकश्च गमिस्यति,
शैव लोका जना येऽपि बौद्ध धर्म प्रवर्त्तते॥

(८ अ० बृहत् स्वयम्भुव पुराण)

हम ऊपर कह चुके हैं कि दार्शनिक भेद अवश्य थे किंतु अपने समस्त बाह्यरूप में जैन और बौद्ध ब्राह्मण धर्म की नकल करने लगे थे।

अशोक के समय में ही बौद्धों में एकमत नहीं रहा था। उनमें कई विचार हो गये थे। इसीलिये शुद्ध मार्ग जो बुद्ध के निकटतम था उसे नियत करने के लिए संगीति बुलाई गई थी। तिस्स योग्गलिपुत्र ने हजार भिक्षुओं को पाटलिपुत्र में थेरवाद नियत करने के लिये, संगीति बुलाई थी। इसका समय बुद्ध की मृत्यु के २३६ वर्ष

वाद बताया जाता है। तिस्स स्वयं विभज्जवादी था। तिस्स स्वयं 'कथावत्तु' का प्रणेता बताया गया है। संभवतः बौद्धों की तीन से भी अधिक संगीतियां भी हुई थीं। त्रिपिटक एक समय में नहीं, बल्कि धीरे-धीरे बना है। बौद्ध कथाओं में धीरे धीरे चमत्कार बढ़ते जा रहे हैं। 'महिंद' पक्षी की भांति लंका उड़कर गया बताया जाता है। सीधी बात है कि वह लंका गया था।

त्रिपिटक में तीन पिटक हैं—

(१) विनय

(२) सुत्त

(३) अभिधम्म।

इनके नौ अङ्ग बताये गये हैं—

(१) सुत्त—गद्योपदेश

(२) गेय्य—गद्य-पद्योपदेश

(३) वैय्याकरण (व्याकरण) टीका व्याख्यादि।

(४) गाथा—छंद

(५) उदान; चतुर वाक्य

(६) इतिवुत्ताक—'बुद्ध ने यों कहा' से प्रारम्भ होने वाले छोटे उपदेश।

(७) जातक—बुद्ध के पूर्व जन्मों की कथाएं।

(८) अब्भुतधाम्भ, चमत्कार

(९) वेदल्ल—प्रश्नोत्तररूपेण उपदेश।

त्रिपिटकों में इन नौ तरह की रचनाएं हैं। बड़े वैज्ञानिक दृष्टि-कोण वाले बौद्ध आलोचकों को ब्राह्मणवाद के चमत्कारवाद का मजाक उड़ाते समय इस अपने रूप को भी देख लेना चाहिये। यह जो बड़े दार्शनिक नागसेन, असंग, वसुबंधु थे, यह सब उसी त्रिपि-टक को पूज्य मानते थे जिसमें चत्मकार भरे पड़े थे। सिवाय इसके कि वह एक दूसरे प्रकार का पुरोहित वर्ग था, समाज का दूसरा शोषक रूप था, यह भी नहीं कि ब्राह्मण की भांति जो कहता वही

मानता भी, जो अपने ही द्वन्द्वों में फँसा था, इमें कोई ऐसी बात नजर नहीं आती कि इस सब को कार्लमार्क्स की पृष्ठभूमि समझ लिया जाये। यह चमत्कार बौद्धों के अतिरिक्त जैनों में भी था।

कथा है कि एक बौद्ध ने पूछा—विष्णु किस पर सोते हैं? ब्राह्मण ने कहा—शेष नाग पर। वह किस पर? समुद्र पर। बौद्ध प्रसन्न होकर व्यंग से बोला और संभवतः शेष कच्छप पर टिका रहता है? और वह काठ के उल्लू पर टिका रहता होगा? जैन कथा में राजा ने पूछा: देर क्यों हुई। उत्तर मिला महाराज, राह में एक स्यार मिल गया तो मैं एक खंभे पर चढ़ गया और वह खंभा उखाड़ कर ले चला तो मैं बड़ी मुश्किल से छूट कर आया हूँ। जब उसे झूंठ कहा गया तो उसने कहा :—ब्राह्मणों का बन्दर हनुमान पर्वत उखाड़ सकता है तो मेरा स्यार खंभा भी नहीं उखाड़ सकता?

इस प्रकार का आक्षेप वे लोग करते थे जिनको ईश्वर की गैरहाजिरी में जनता से पैसा वसूल करने को ईश्वर की नकली कल्पना, अवतारवाद की कल्पना करनी पड़ी थी।

पाली विनय और सुत्त पिटक ३०० ई० पू० के प्रतीत होते हैं, क्योंकि अशोक के शिलालेखों में इसका उल्लेख है। विनय को बहुत ऊँचा दर्जा दिया जाता है। इसको सुत्तपिटक से प्राचीन माना जाता है। बुद्ध ने किसी को अपना वारिस नहीं बनाया था। वे संघ के लिये अपनी दस आज्ञामात्र छोड़ गये थे। वह सिक्खापद और पातिमोक्ख कहलाते हैं। पातिमोक्ख से ही भिक्षु का जीवन नियमबद्ध होता है। उपोसथ जिसमें अपराधी भिक्षु अपना पाप स्वीकार करता था, यह संभवतः बुद्ध की चलाई हुई परंपरा ही थी। पहले इसमें १५२ नियम थे, पर थेरवादियों के समय में २२७ हो गये। इस पातिमोक्ख को सुत्तविभंग में प्राप्त किया जाता है। विधि और अर्थवाद विनयपिटक वैदिक ब्राह्मणों से मिलता जुलता है।

सुत्तपिटक में ५ निकाय हैं—

१—दीघ।

२—माज्झिम।

३—सम्युत्त।

३—अंगुत्तर।

५—खुद्धक।

उपंतिम में निम्नलिखित हैं—

१—खुद्धकपाठ।

२—धम्मपद।

३—उदान।

४—इतिवुत्तक।

५—सुत्तनिपात्।

६—विमान वत्थु।

७—पेतवत्थु।

८—थेरगाथा।

९—थेरीगाथा।

१०—जातक।

११—निद्धेस।

१२—पटिसम्भिदामग्ग।

१३—अपादान।

१४—बुद्धवंश।

१५—चर्य्यापिटक।

दीघनिकाय में बुद्ध जादूगर सा दिखाई देता है। उसमें ऐसी शक्ति है कि यह चाहे जितने दिन जीवित रह सकता है। और आनंद उसकी इस शक्ति को नहीं समझता इसलिये वह खेद प्रगट करता है। बुद्ध की मृत्यु के विचार से ही भूकंप आ जाता है। (२-३४-४६)

महा अपादान सुत्त में बुद्ध से पहले के छः बुद्ध गिनाये गये

हैं जो बुद्ध के पहले ही जन्म ले चुके थे। बुद्ध स्वयं भी चमत्कारों में और सिद्धियों की प्राप्ति में वैसे ही विश्वास करते थे जैसे वे अनेक छोटे-छोटे देवी देवताओं और प्रेतों की सत्ता में विश्वास करते थे।

सुत्तों में इन्द्र बुद्ध की उपासना करता हुआ दिखाया गया है। ब्राह्मण पुराणों में वह विष्णु और शिव की पूजा करता है। बौद्धों ने बुद्ध की पूजा करवाई है। क्योंकि ब्राह्मण का क्षेत्र बहुत व्यापक था और उसने विभिन्न विश्वासों को अंतर्भुक्त किया था हमें उसमें अनेक प्रकार के देवी-देवता मिलते हैं। बौद्ध धर्म में क्योंकि क्षत्रियों ने उसे विशेषकर लिखा है, अनेकों की अंतर्भुक्ति नहीं है। केवल ब्राह्मण विरोध का ही स्वर मुखर प्राप्त होता है। नाग-यक्षों का बौद्ध-साहित्य में भी उल्लेख हुआ है।

सक्क पन्हसुत्त में शक्र (इंद्र) डरते डरते बुद्ध के पास जाने की तैयारी करता है। पहले वह गंधार्वों को भेजता है ताकि वे पहले ही भगवान् को संतुष्ट करलें। फिर शक्र बुद्ध की स्तुति गाता है।

अग्गनसुत्त में सृष्टि की उत्पत्ति की विचित्र कथाएँ हैं। संसार, समाज और संस्कृति की भी अनेक कथाएँ हैं। इन कथाओं में भी विभिन्न जातियों के विश्वासों की अंतर्भुक्ति नहीं है। वस्तुतः कुल-वर्ग की पृष्ठ-भूमि में बढ़े हुए क्षत्रियों की किसी से अन्तर्भुक्ति थी नहीं। अतः वे अपने अवैदिक क्षत्रिय समाज की परम्पराओं को ही जानते थे। बाद में जब चमत्कारों की आवश्यकता हुई और उनके बिना काम न चला तो जैसे चाहे उन्हें गढ़ कर जोड़ लिया गया।

बुद्ध के मूलचिन्तन में ब्राह्मण, पुक्कस, आदि सब बराबर थे। (मज्झिम निकाम २ २ पृ० १५१) किन्तु बौद्धों ने समाज में यह लागू नहीं किया। यह वैसे ही रहा जैसे आदर्श रूप में ब्राह्मणों ने भी सब की आत्मा समान होने के कारण महाभारत में ही सब को समान

मान लिया था। मूलतः सब की समानता का विचार महाभारत में बराबर पुकार उठा है।

बुद्ध और मोग्गल्लान कई बार अदृश्य हो जाते हैं। ब्रह्मा के स्वर्ग में भी चले जाते हैं। बुद्ध ब्रह्मा से भी ऊँचे हैं, बड़े हैं। सुत्तों में नरक यातना भी दिखाई गई हैं। दास प्रथा के बाद नरक का भय सामंत काल में भी स्तैमाल किया गया है। माज्झिम निकाय पर अवश्य ही यह ब्राह्मण पुराणवाद का प्रभाव है। क्योंकि ब्राह्मणों पर यह आर्य्येतर चिंतन का प्रभाव है।

नाग संयुत्त में नागों का वर्णन है। वे भयानक हैं। वे कर्म भी बताये गये हैं, जिनसे बार-बार नागों का जन्म लेना पड़ता है। यह नाग साँप माने गये हैं। सक्कसंयुत्त का नायक शक्र (इन्द्र) है जो बुद्ध भक्त है। यह शक्र अहिंसावादी बनाकर पेश किया गया है। माज्झिम निकाय में संयुत्त १०-१२ में बुद्ध यक्ष के प्रश्नों का उत्तर देकर उसे संतुष्ट करते हैं। यह महाभारत के युधिष्ठिर यक्ष प्रश्नोत्तरी को लिया गया है गीतात्मक आख्यान स्पष्ट ही ब्राह्मण आख्यानों की परम्परा में लिखे गये हैं।

ब्राह्मण चिंतन में जिस प्रकार स्त्री को महत्त्व नहीं दिया गया है, बुद्ध ने आनंद से कहा है—स्त्री ईर्ष्यालु, मूर्खा है। तभी उसे समाज में सभाओं में स्थान नहीं मिलता। और न वे आजीविका के लिये कोई काम करने की आज्ञा प्राप्त करती हैं। माज्झिम निकाय में (बुद्ध ओल्डेन वर्ग पृ० ३१५) बुद्ध ने कहा है-जो परलोक और सृष्टि के मूल कारणों को खोजना चाहता है और दुख के विषय में कारण जानना चाहता है, उसका मूल जानना चाहता है, उसका अंत और अंत का पथ जानना चाहता है वह दुख की समाप्ति के पहले ही मृत्यु को प्राप्त हो जायेगा।

बुद्ध ने यह उदाहरण देकर कहा है कि यदि किसी के तीर लगे और दूसरा तीर खींचने को हो तो, घायल व्यक्ति कहे : पहले बताओ किसने मारा है, वह क्षत्रिय था या ब्राह्मण था, शूद्र या वैश्य,

किस कुल का था, लम्बा था या ठिगना, तीर का वर्णन करो, तो तब तक तो वह मर जायेगा।

बुद्ध की राय में तीर निकाल कर फौरन चिकित्सा करनी चाहिये।

किंतु यह उदाहरण संकीर्ण है और संकुचित है। क्योंकि समाज का सुख परम्परा से था, विषमता का मूल आर्थिक था। यहां लगे हुए तीर को बुद्ध ने व्यक्ति दुःख से तुलनात्मक रूप में देखा था।

विचार और व्यवहार में बड़ा भेद होता है। ज्ञान को बढ़ाना ही इनका उद्देश्य रहा, परन्तु उसका परिणाम क्या हुआ? समस्त संघ बुद्ध के बचनों को पकड़ कर बैठ रहा।

ब्रह्म की अनिर्वचनीयता के बुद्ध विरुद्ध थे। जिस प्रकार जैनियों ने ब्रह्म को अस्वीकृत किया था, बुद्ध ने भी किया।

संयुत्तनिकाय में बुद्ध ने कहा है:—'पहले अच्छी भूमि को किसान जोतता है, तब मामूली को, फिर बुरी को, ऐसे ही बुद्ध पहले भिक्षुभिक्षुणियों को, फिर ग्रहस्थों को और तब सद्धर्म्म से बाहर वालों को उपदेश देते हैं।'

अपने धर्म के प्रचार के विषय में बुद्ध बड़े जागरूक थे और उन्होंने संघ का निर्माण भी इसीलिए किया था।

अभी विद्वानों को यह निश्चित करना है कि करुणा और अहिंसा की क्या परम्परा है अहिंसा आर्य्येतर जातियों से जैनों में आई। संभवतः उस परम्परा से बौद्ध चिंतन में गई। ब्राह्मणों पर जैनों का और पाञ्चरात्र का प्रभाव पड़ा। अहिंसा बढ़ी।

धम्मपद में बुद्ध कहते हैं:—

मैंने जन्म और मृत्यु के कई चक्रों में यात्रा की। मैंने सृष्टा को कभी नहीं पाया। जीवन का प्रवाह जन्म, मृत्यु और फिर जन्म है। सब दुःख है। ओ सृष्टा अब तू पकड़ा गया। तू और निर्माण न करेगा। तेरे सारे प्रयत्न निष्फल हो गये। इस मृत्यु को बनाने

वाले सब मिट गये। मन ने इच्छा को छोड़ दिया। मैंने धारा पार करली है।

युधिष्ठिर, जनक सबने इच्छा त्यागने की बात की थी। अनिर्वचनीय ब्रह्म और कर्मकाण्ड के रहते हुए भी, आत्मा के रहते हुए भी, इन दोनों ने जीवन के प्रति पूर्ण उदासीनता देखी थी। वही बुद्ध में पाई जाती है। बुद्ध आत्मा, ब्रह्म को नहीं मानते। किंतु उन्हें भी सब दुख दिखता है। वे इस जाल से मुक्त होना चाहते हैं। समाज के विकास में बहुत से विकास के तथ्य एक से हैं। दास प्रथा के समाज का नाश गीता के विराट पुरुष में है। बुद्ध के दुःखवाद में है। समाज की विषमता से मुक्त होने का रास्ता है, व्यक्ति का सब से अलग हो जाना।

आपस के संघर्ष का यह एक नया मजाक है कि ब्राह्मण, बौद्ध, और जैन सब यह कहते हैं कि सत्य का पूर्णरूप मैं जानता हूँ, दूसरा नहीं जानता। बाकी अंधों और हाथी की कहावत के पर्याय हैं, खण्ड रूप जानते हैं। और ब्राह्मण कल्पना और जातियों के विभिन्न विश्वासों को शाश्वत समझता था। जैनों ने ईश्वर की अस्वीकृति को ही सत्य माना था। बुद्ध ने ईश्वर पर साफ कहा था कि वे असलियत जान नहीं सकते, अतः चुप हैं, हाँ वह ज्ञान ब्रह्म नहीं है जिसे ब्राह्मण कहते हैं क्योंकि उसे किसी ने देखा नहीं, परंतु फिर भी वे समझते हैं कि वे सारे सत्य को जानते हैं :—

ब्राह्मण धम्मिकसुत्त (२.७) कहता है कि प्राचीन काल के ऋषि 'असली ब्राह्मण' थे। परन्तु बाद में राजाओं के धन के लोभ में आ गये। राजा इक्ष्वाकु ने उन्हें धन और स्त्रियों से मोहित कर लिया। तभी हिंसामय कर्मकाण्ड प्रारम्भ हुआ। वर्णसंकर भी तभी हुए, और बुद्धमत तभी असली ब्राह्मणत्व की ओर लौट जाता है। वरसेत्थ सुत्त (३,६) में असली ब्राह्मण को जन्म से नहीं कर्म से माना गया है।

बुद्ध धर्म के इस रूप से आश्चर्य होता है। बुद्धमत को असली

ब्राह्मणत्त्व कहना, वर्णसंकरत्त्व को घृणा करना, क्या बतलाता है? कर्मकाण्ड की हिंसा का मूल क्या है? प्राचीन आर्यों का जीवन ही ऐसा था जिसमें पशुओं को आग के चारों ओर बैठ कर भून कर खाया जाता था। वह आग यज्ञ कहलाती थी। खाने के वितरण को दान कहते थे। इस समस्त दृश्य की पूर्णता को ब्रह्म कहते थे। वही परम्परा धार्मिक रूढ़ि बन कर चली आ रही थी। ब्राह्मणों में खुद ही अहिंसा का आन्दोलन पाञ्चरात्रों, भागवतों के प्रभाव से बढ़ता चला जा रहा था।

तालकसुत्त में बुद्ध के जन्म से अभूतपूर्व चमत्कार हुए हैं। बुद्ध अग्निसा देदीप्यमान जन्म लेता है।

विमानवत्थु और पेतवत्थु, पाली त्रिपिटक में, संभवतः परवर्त्ती हैं। प्रेतों की कथाएं इनमें मिलती हैं। प्रेत और नारद का कर्म और पुनर्जन्म पर संवाद है। नारद प्रेत को स्वर्ण शरीर देखते हैं पर उसका शूकर मुख देखकर, ऐसा होने का कारण पूछते हैं। प्रेत कहता है वह शरीर पर तो स्वामी था, पर शब्दों में चंचल था उसका नतीजा भोग रहा है। अतः मुख से भी कोई बुरी बात या कर्म नहीं करना चाहिये।

जातकों में अंगति राजा की कथा महत्त्वपूर्ण हैं। वह विदेह का राजा था और उसने तीन मन्त्रियों से पूछा कि वह क्या करे। अलात सेनापति ने युद्ध की राय दी। सुनाय ने आनन्द और भोग की राय दी। विजय ने साधू या ब्राह्मण की उपदेशात्मक बात सुनने की सलाह दी। दिगम्बर गुण कस्सप को बुलवाया गया। उसने आकर कहा: कर्म कुछ नहीं है, न पितर हैं, न माता पिता, न गुरुजन। सब समान हैं और भाग्य सब का पहले से निश्चित है। उपहार दान व्यर्थ हैं। दण्ड और पुण्य के लिये परलोक में विश्वास करना मूर्खता है।

अलात ने कहा: ठीक है, मैं गौ-वधिक था, पर इस जन्म में सेनापति हूँ। कर्म कहाँ है?

दास बीजक ने भी कहा : मैं पहले जन्म में भला आदमी था, परन्तु इस जन्म में दास हूँ।

राजा संगति पर प्रभाव पड़ा। वह आनन्द में पड़ गया, राज दूसरे संभालने लगे। परन्तु उसकी पुत्री रूजा ने कुसंगत छोड़ कर अच्छी राह पर आने की राय दी और कहा कि वह पहले पुरुष थी और स्त्रियों को फुसलाती थी। उसने कई जन्म लिये थे, नरक वास किया था।

नारद स्वर्ग से आये। रूजा की कर्मवाद की बात को ठीक बताया।

राजा ने कहा :— यदि परलोक है तो मुझे ५०० दे दे, मैं अगले जन्म में तुझे १००० लौटा दूंगा।

नारद ने कहा :— १००० क्या मैं और भी दे दूँगा, परन्तु तू लौटाने तो तब आयेगा जब नरक से छूटेगा ?

नारद ने नरक का भयानक वर्णन किया है। राजा बिचारा मान गया है।

जिस प्रकार ब्राह्मण पुनर्जन्म की, नरक की, परलोक की, स्वर्ग की, सत्ता मानते थे, बौद्ध भी मानते थे।

गुण कस्सप कहता है— सब समान हैं।

पर बौद्ध इसे भी यहाँ स्वीकार नहीं करते। वे तो कर्मवाद और पुनर्जन्म साबित करने में लगे हैं। इससे यह प्रगट होता है कि ऐसे विचारक भी उस समय थे अवश्य। चारवाक तो प्रसिद्ध ही है। कस्सप दिगम्बर कहा गया है। वह जैन तो हो नहीं सकता। वह दैववादी है अवश्य, परन्तु उसका किसी में भी विश्वास नहीं है। और बौद्ध अड़े हुए हैं कि कहीं समाज का ढाँचा न उलट जाये, वरना इस पुरोहित को सुनेगा कौन ?

बुद्ध के बाद में जब मौर्य्य साम्राज्य फैला तब ही बुद्ध पौरोहित्य ने ब्राह्मण पौरोहित्य की टक्कर में संस्कृत में ग्रन्थ बनाने प्रारंभ कर दिये। हीनयान के सर्वास्तिवादियों ने ई० पू० २०० में ही संस्कृत को

अपना लिया था। कनिष्क युग में संभवतः इन ग्रन्थों का प्रचार बढ़ा था। विदेशी कनिष्क संभवतः भारतीयता की गहरी मोहर चाहता था।

महावस्तु की जातक कथाओं में बुद्ध शेर और हाथी का भी जन्म लेने लगे हैं।

ललित विस्तर, जो हीनयानी ग्रंन्थ है, पर जिसमें महायान का स्पष्ट प्रभाव है, उसमें बोधिसत्व तुषित स्वर्ग में ठाठ के महल में रहते हैं। ८४००० ढोल बजते हैं। उनको पृथ्वी पर उद्धार करने को निमन्त्रित किया जाता है। वे अंत में शुद्धोधन के घर जन्म लेते है। क्योंकि उसकी स्त्री माया में उनको गर्भ में धारण करने की शक्ति है, क्योंकि रानी में १०००० हाथियों का बल है। देवताओं की सहायता से गर्भ स्थापित होता है और बोधिसत्व हाथी के रूप में गर्भ में प्रवेश करते हैं। गर्भ में देवता उनके के लिये रत्न जटित प्रासाद प्रस्तुत करते हैं। अब बीमार लोग तो मायादेवी के पास आते ही अच्छे हो जाते हैं।

'और जो बुद्ध के इस जन्म चमत्कार को नहीं मानते वे धिक्कार के योग्य हैं'। बुद्ध में भक्ति आवश्यक है। बुद्ध कहते हैं—मैं उन सब का कल्याण करूँगा जो मुझ में भक्ति रखेंगे। जो मेरी शरण में आयेंगे। मैं उनका मित्र बनूँगा। तथागत के मित्र हैं। परन्तु तथागत के वे मित्र सत्य ही बोलते हैं, झूठ नहीं। आनंद! विश्वास करो, यही अपना लक्ष्य बनालो।

सब बोधिसत्व पढ़ने गये तो ८००० देव कन्याओं ने तो उन पर फूल बरसाये। बिचारा शिक्षक घबराकर गिर गया। एक देवता ने उसे उठाया और बोधिसत्व का परिचय दिया। गोरखनाथ भी वैसे तो समर्थ थे पर मछिन्द्र को गुरु उन्होंने लोक व्यवहार के लिये बनाया था वर्ना निगुरी पृथ्वी में प्रलय जो हो जाती—निगुरी पृथ्वीले पर जाती है।

दार्शनिक अश्वघोस रामयण महाभारत नामक आक्खानक

काव्यों के चमत्कारों और झूठों से नाराज रहते थे। उनके सोन्दरानन्द काव्य में कथा है कि जब नन्द पर बुद्ध की बात का प्रभाव न पड़ा तो वे उसे हाथ पकड़ कर स्वर्ग ले गये। राह में एक बन्दरिया मिली। बुद्ध ने कहा तेरी स्त्री सुन्दरी ऐसी है? उसने उसने कहा: इससे सुन्दर है। फिर बुद्ध ने अप्सराएँ दिखाईं। नन्द को अपनी स्त्री उन अप्सराओं के सामने ऐसी दिखाई दीं, जैसे बन्दरिया उसे पहली सुन्दरी के सामने कुरूप लगी थी।

ईसा की चौथी सदी (गुप्तकाल) में बुद्ध को आदिबुद्ध भी कहते थे। स्वयम्भू आदिनाथ उनके ही नाम थे। अवलोकितेश्वर इस समय अपने शरीर में से समस्त देवताओं को जन्म देते हैं। अवलोकिश्तेवर को भगवान समझ कर निर्वाण की प्रार्थना की जाती थी। कारण्ड व्यूह में अवलोकितेश्वर के नेत्रों से सूर्य्य चंद्र का जन्म हुआ है, भौं से महेश्वर निकलते हैं, ब्रह्मा आदि कन्धों से, नारायण हृदय से, सरस्वती दाढ़ों से, मुख से वायु, चरणों से पृथ्वी, पेट से वरुण निकल आये हैं। वह बोधिसत्व करुणामय है। 'ओम् मणिपद्मे हुँ।' उनका पवित्र बीजमन्त्र है। यह गुप्तज्ञान है। भगवती-प्रज्ञा-परमिता-सर्व-तथागत-माता एकाक्षरी' का आविर्भाव वज्रयान में महायान की परिणित प्रादुर्भाव है। उत्तरी जातियों में अवशिष्ट मातृसत्ताक तन्त्रवाद की बौद्धधर्म के इस रूप में अंतभुक्ति हो गई है, जो यक्षवाद का पारवर्त्ती रूप है और वाममार्ग आदि प्रचलन है। अष्ट सहस्रिका प्रज्ञा परमिता (अध्याय २) में सुभूति संसार को 'माया' कहता है। निर्वाण भी माया के समान है। स्वप्न और माया और निर्वाण एक ही हैं, उनमें किसी में भी द्वन्द नहीं है। बुद्ध कहते हैं—'सर्वशक्तिमान' को करुणामय होना चाहिये। बोधिसत्व को ही सर्वशक्तिमान, महान का पर्य्याय माना गया है। राष्ट्रपालसूत्र में सद्धर्म के नाश की कल्पना वैसी ही है जैसे ब्राह्मण की कलि की कल्पना है—मेरे भिक्षु निर्लज्ज, दर्पमय, क्रोधी होंगे, मदिरा पियेंगे, गृहस्थ हो जायेंगे, उनके स्त्रियाँ बच्चे होंगे,.........

राष्ट्रपाल परिपृच्छ का समय ५८५ ई० से पुराना माना जाता है क्योंकि तब तक तो उसका चीनी अनुवाद हो चुका था। इसकी मूल पुस्तक की भाषा में प्राकृत और संस्कृत समिश्रण है।

४४३ ई० से ५१३ ई० के बीच घटते बढ़ते बनते हुए लङ्कावतार सूत्र में बुद्ध और लंकाधिपति राक्षस राजरावण का संवाद है। महामति और बुद्ध का संवाद भी है। बुद्ध के अनेक नाम हैं— शक्र और शक्र, हस्त और पाणि, तथागत, स्वयंभुव, नायक, विनायक, परिनायक, बुद्ध, ऋषि, वृषभ, ब्राह्मण, विष्णु, ईश्वर, प्रधान, कपिल, भूतान्त, अरिष्टनेमि, सोम, भास्कर, राम, व्यास, शुक्र, बलि, वरुण इत्यादि। और अनुरोधानुत्पाद, शून्यता, तथता, सत्य, धर्मधातु, सर्वोडपरि, निर्वाण, आर्य्यसत्य इत्यादि।

इसकी गाथाओं में कहा गया है कि भविष्य में मांस भक्षण को बुद्ध के नाम पर प्रचलित कर दिया जायेगा।

अध्याय ६ में धारणी है, जो सर्पों और भूतों से रक्षा करने के लिये हैं।

यह पुस्तक विज्ञानवाद का प्रचार करती है। इसमें सांख्य, वैशेषिक, दिगम्बरों और आस्तिकों पर आक्षेप है। १० वें अध्याय में शाक्यमुनि नहीं बोलते, वरन् कोई प्राचीन बुद्ध बोलता है, वह कहता है :—मैं कात्यायन गोत्री हूँ, शुद्धवास स्वर्ग से आया हूँ। मैं निर्वाण पुरी को पहुँचने का मार्ग बताता हूँ। मैं और वे तथागत वही प्राचीन निर्वाणोपदेश देते हैं। मेरी माता वसुमती हैं, पिता ब्रह्म प्रजापति है। मेरा नाम है— विरजजिन। मेरा जन्म चंपा में हुआ था। मेरे पितामह का नाम सोमगुप्त था, और वे चन्द्रवंशीय थे।

व्यास, कणाद, ऋषभ, कपिल, शाक्यसिंह, यह सब मेरे बाद पैदा होंगे। मेरे १०० बरस बाद भारतकार व्यास, पाण्डव, कौरव, राम, और फिर मौर्य्य होंगे, फिर नन्द, फिर गुप्त, फिर बर्बर लोग

होंगे, और वे सब से नीचे होंगे। उस समय बड़े दंगे होंगे, और तब कलियुग आ जायेगा और सद्धर्म उठ जायेगा। अन्यत्र कहा है—पाणिनि, अक्षपाद, बृहस्पति, लोकायन, सूत्रकार कात्यायन, याज्ञवल्क्य, वाल्मीकि, मयूराक्ष, कौटिल्य, और आश्वलायन जन्म लेंगे।

महायान सूत्रों में सुवर्ण प्रभास में बुद्ध के बारे में कहा गया है कि कभी धरती पर आये ही नहीं, वे तो धर्मकाया थे, उनका मानुषी शरीर था ही नहीं, जो उनके शरीर के अवशेष कोई प्राप्त कर सके। सरस्वती और श्री महादेवी का इसमें उल्लेख है।

यह नहीं कि निम्न जनता इन अंधविश्वासों को मानती थी, लिखने वाले तो विहाराधीश थे, भिक्षु थे। स्वयं नागार्जुन बड़ा जादूगर माना जाता था। उसने दक्षिण में सद्धर्म प्रचार किया था। कहा जाता है कि उसने महायान सूत्र एक वृद्ध ऋषि से हिमालय में प्राप्त किये थे और नागराज की सहायता से टीका की थी।

यह इंगित करता है कि संभवतः जो चीनागम हिमालय प्रांतस्थ विश्वासों में से आया था, उसका प्रारम्भ नागार्जुन के समय में ही हो गया था। बौद्ध लोग नागार्जुन की आयु ३०० या ६०० वर्ष तक की मानते हैं। वह विदर्भ का ब्राह्मण था। उसने महायान में माध्यमक दर्शन का प्रतिपादन किया था। और शून्यवाद ग्रंथ लिखे थे। नागार्जुन की देन आयुर्वेद और रसेश्वर संप्रदायों में भी मानी जाती थी। योगी लोग भी उसकी सिद्धियों और चमत्कारों का बड़ा आदर करते थे।

स्थिरमति दिङ्नाग, बौद्धों में तर्क शास्त्र का अधिष्ठाता माना जाता है।

महायान साहित्य में धारणी बढ़ती गईं। धारणी और सूत्र कहीं-कहीं एक से लगते हैं। धारणियों में देवियों की स्तुति भी है। 'जब जब जिवि जिवि जुवु जुवु' आदि मन्त्र भी प्रयुक्त हुए हैं। मंच-

यान और वज्रयान महायान की शाखाएं हैं। वज्रयान की हम व्याख्या कर चुके हैं। ×

इस युग में बौद्ध साहित्यतंत्रवाद में डूब गया है। बुद्ध का नाममात्र बच रहा है। तंत्रों में साधनाएँ हैं, जादू है, सिद्धि है, मंत्र हैं, ध्यानमंत्र हैं। बुद्ध धर्म में प्रेम का देवता वज्रानङ्ग है, जो मञ्जुश्री का अवतार है। उसकी सिद्धि से स्त्रियों का वशीकरण किया जा सकता है। योग साधनाएँ भी स्वकृति की गई हैं।

लक्ष्मींकरा ने सहजयान पर लिखा था। उसने मूर्ति-पूजा विरोध किया था, वह इस पक्ष में थी कि शरीर का ही ध्यान करना चाहिए क्योंकि काया में ही समस्त देवता हैं। सहजयोगिनी चन्ता (७६१ ई०) ने तंत्रग्रंथ लिखे हैं। स्त्रियों ने अन्त में बौद्ध धर्म में अपना महत्त्व बढ़ा ही लिया था। वज्रयान में लिंग वज्र का पर्य्याय था, योनि पद्म की पर्य्याय थी। सहजयान एक प्रकार से पुरुष की उस कामुक साधना के विरुद्ध स्त्री का विद्रोह था, जो उस समस्त साधनाओं के जाल को तोड़ने के पक्ष में थी।

कालांतर में बुद्ध भैरव और विष्णु बने, उग्रतारादेवी उपासना करने लगे। तारा ही प्रज्ञा है।

उपर्युक्त से यह स्पष्ट हो जाता है—

(१) बौद्ध धर्म पहले दुःखवाद से पैदा हुआ था। वह एक ओर ब्राह्मण विरोध था, दूसरी ओर कर्मवाद की स्वीकृति से अनजाने ही दास-प्रथा का पोषक था।

(२) बुद्ध ने ब्राह्मणों की भाँति 'थ्योरी' में मान लिया था कि सब मनुष्य समान हैं, परन्तु भिक्षुसंघ इसे समाज में लागू नहीं कर सका।

(३) जब समाज दास-प्रथा से सामंतकाल की ओर बढ़ा तो

× देखिये—गोरखनाथ :—रांगेयराघव।

बौद्ध धर्म भी समयानुकूल बदलने लगा। और अपने को सामंत-काल के अनुकूल बनाने लगा।

(४) उसमें नये परिवर्त्तन हुये। वह एक प्रकार का क्षत्रिय पौरोहितवर्ग होगया जिसने ब्राह्मणों की भाँति धर्म, मन्दिर, पुराण, मूर्त्ति आदि को स्वीकार किया।

(५) कालांतर में वह तंत्रवाद में डूब गया। राम और हिंदू देवी-देवताओं का भी पर्य्याय उसने बुद्ध को मान लिया। शैवों से भी वह मिल गया।

(६) विभिन्न रूपों से प्रभावित बौद्ध धर्म विभिन्न सम्प्रदायों में अंतर्भुक्त हो गया। बाकी रहे लोग कालांतर में इस्लाम के क्रोड में चले गये।

(७) बौद्ध धर्म अपने जीवन के बीस साल बाद ही उच्चवर्णों और वर्गों के हाथ की कठपुतली हो गया था और प्रतिक्रियावाद के रूप में फलता-फूलता रहा। उसके भारत में फैलने का कारण राजाश्रय था, क्योंकि उसकी कमी में वह चल नहीं सका। बौद्ध-धर्म संघों में सीमित था, बाहर की जनता ब्राह्मणकृत वर्ण-व्यवस्था में बँटी थी। बौद्धधर्म क्षत्रिय पौरोहित्य का प्रतीक था, जिसका रूप कनिष्क के बाद ही इतना ब्राह्मण हो गया था कि ब्राह्मणधर्म से प्रभावित राजा भी उससे चिढ़ते न थे। हर्ष तो बुद्ध को भगवान् मानता था। विदेशों में जानेवाला बौद्धधर्म में इसी प्रकार अपने साथ भक्ति, तंत्रवाद, और धारणी आदि ले गया था और क्यों कि राजनीतिक रूप से चीन आदि को व्यक्तिपरक धर्म की आवश्यकता थी, वहाँ यह जम गया, परन्तु वहाँ के मूल धर्मों की इसमें अनेक रूप से अंतर्भुक्ति अवश्य होगई।

हमारा ध्येय बौद्धधर्म का विकास दिखाकर निष्पक्ष आलोचना करना था। यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि हम बौद्ध धर्म के विरोधी हैं। हमारे लिए जैसे ब्राह्मण, वैसे बौद्ध, वैसे ही जैन वैसे ही इस्लाम या ईसाई। परन्तु इतिहास के अन्वेषण के समय निष्पक्ष

होना चाहिए। अगर तथ्य यह बताते हैं कि इस समय ब्राह्मणवर्ग ने प्रगतिशील कार्य किया है तो उसे छिपाना नहीं, कहना चाहिए। बौद्धों की बहुत तारीफ की जाती है, परन्तु इसीलिए कि उनका एक पक्ष से ही अध्ययन होता है। कसौटी पर चढ़ाकर देखने से उसकी असलियत स्पष्ट हो जाती है और उसके ऊपर जो 'प्रगतिवाद' का जाल चढ़ा दिया गया है वह कट जाता है। यूरोपीय तथा मार्क्स-वादी लोग बौद्ध मत को भारतीय चिंतन का अंग बनाकर नहीं देखते, वे उसे स्वायंभुव बना कर देखते हैं। कहा जाता है कि बौद्ध जातिप्रथा के विरोधी थे। ठीक है। दक्षिण और उत्तर के समस्त अवैदिक शैव जातिप्रथा के विरोधी थे। जैन भी जातिप्रथा को नहीं मानते थे। और बौद्ध 'थ्योरी' में ही थे, व्यवहार में क्या थे? क्या ऐसे शङ्कराचार्य भी प्रगतिप्रथा के विरोधी न थे जो 'शुनिशैवश्व-पाकेच' कह कर सबको समानता मानते थे?

मज़ाक यह है कि अगर आप गीता के कर्मवाद कपिल के सांख्य की परम्परा देखते हुए बुद्ध चिन्तन की बात करें तो बौद्ध लोग कहते हैं कि यह असल में भ्रम है। उनकी राय में अचानक बिना किसी परम्परा के बुद्ध नाम के एक इलहामी व्यक्ति पैदा हो गए, जिन्होंने इतनी जबरदस्त क्रान्ति की उसके फलस्वरूप ही कार्लमार्क्स का जन्म हुआ। इसका यह मतलब नहीं कि बुद्ध महान व्यक्ति नहीं थे। वे भी उसी प्रकार युगसीमाओं में बुद्ध महान थे, जैसे युधिष्ठिर, कपिल, पार्श्वनाथ, महावीर आदि थे या परिवर्त्ती दार्शनिक थे। ढाई हजार साल पुराने जमाने के समस्त बन्धन उन पर भी थे। हम अपनी हिन्दी साहित्य की धार्मिक और सामाजिक पृष्ठभूमि' में बुद्ध के मत का विवेचन कर चुके हैं। ब्रह्म उस समय समस्त जातियों के लघुत्व को दूर करने वाली, देवताओं की शत्रुता के ऊपर उठने वाली भावना की एकता का प्रतीक था। आत्मा और पुनर्जन्म को, दासप्रथा में, निम्न और शोषित वर्गों ने इसलिए स्वीकार किया था कि वह समानता का प्रतीक थी। मुँह

से निकले ब्राह्मण ने पैर से निकले शूद्र को अन्ततोगत्वा अपनी ही जैसी आत्मा वाला मान लिया था। आत्मा की समानता वर्ग शोषकों को भयभीत करने लगी। कालांतर में, क्योंकि समाज के उत्पादन के साधनों का विकास धीरे-धीरे हुआ, उत्पादन का साधन नहीं बदला, वरन् व्यापार के सन्तुलन में फर्क आया, क्योंकि समाज के आर्थिक ढाँचे की वैज्ञानिक व्याख्या नहीं थी, पुनर्जन्म दासप्रथा के अन्तिम समय में उच्च वर्गों ने दासों पर लागू किया कि कर्मानुसार ही दासत्व और स्वामित्व मिलता है। उस समय उठते हुए सामंतवाद की पुकार थी कि दैव दैव मत पुकारो, मनुष्य दैव को बनाता है, जिसकी ज्वलंत पुकार रामायण बन गई। बुद्ध मत पुनर्जन्म दुःख को पकड़े रहा, क्यों कि वह क्षत्रिय स्वार्थों का पोषण था। दासत्व को ब्राह्मणवर्ग तोड़ने में सहायता देरहा था। जब बौद्धमत सामंतवाद को न रोक सका तो वह क्षत्रियों का पुरोहितवर्ग बना, जिसने ब्राह्मणधर्म का समानान्तर बनाना चाहा और संघ में बराबरी, लोक व्यवहार में जातिप्रथा को स्वीकार करके, अनिर्वचनीय ब्रह्म की जगह मिलता-जुलता आत्म-विज्ञान पकड़ा, मूर्त्तिपूजा तंत्रमंत्र, और राज्याश्रय पकड़ लिया। बुद्ध को ईश्वर बना लिया, अवतारवाद की कल्पना की और फिर ब्राह्मण पुराणों की भांति सब कुछ का तादात्म्य करने का यत्न किया। बौद्ध हीनयान का ज्ञानवाद महायान में मूर्त्तिवाद बना, और उपासनावाद बना, तब वज्रयान के समय में साधनावाद बना, रूढ़िवाद बन गया और अन्ततोगत्वा सहजयान में भक्तिवाद बनकर फिर कृष्ण और शिवभक्ति में मिल गया। उसका दार्शनिक चिंतन अनात्म से शून्यवाद पर गया और वह शून्यवाद मूलतः जिस उपनिषद्वाद से निकला था, शंकराचार्य के शून्य ब्रह्म में मिल गया। जो बौद्ध बाकी रह गये और अवैदिक ही बने रहे और ब्राह्मण विरोधी रहे, वे अवैदिक शैवों में घुलमिल गये और उसके बाद इस्लाम में घुलमिल गये।

बौद्ध मत के द्वारा प्रचारित, बौद्ध पौरोहित्य अर्थात् क्षत्रिय पौरो-

हित्य द्वारा प्रचारित नये बौद्ध धर्म का, (जो सामन्तीय ढांचे में, ब्राह्मण वाद का पर्य्याय था, जो वर्गवाद और जातिवाद का भी पोषक था, जो ईश्वरादि का प्रचारक था, जो तीर्थों की भांति अपने विहारों का पोषक था,) क्षत्रिय राजाओं ने प्रचार किया और उसे देश देश में भेजा, परन्तु ब्राह्मण फिर भी नहीं हार सका, क्योंकि ब्राह्मण भारती की विभिन्न जातियों की अंतर्भुक्तियों से निरन्तर शक्ति लेता रहा। हूण, गुर्जर, जाट, मीणया, अम्भीर, यवन, शक, बर्बर, पह्लव, सबको उसने मिला लिया और उन्हें क्षत्रियत्व दिया, नई जातियों का संगठन-राजपूत वर्ग उसके हाथ में अब राजपूताने और मध्यदेश में था। उसने वहाँ गोण्डों आदि को क्षत्रियत्व दिया। इस दृढ़ता से उसे क्या डरने की गुंजायश रह गई थी ?

परन्तु इसी युग के अन्त में जब विदेशी आक्रमण होने बन्द हो गये, जनता में अवैदिक शैव, और शाक्तों का प्रचार बढ़ा, यद्यपि ब्राह्मणवाद भी तन्त्रवाद में डूब गया, परन्तु उसने उसे भी अंतर्भुक्ति में स्वीकृत कर लिया और जहाँ जाति प्रथा का विरोध सामंतीय बोझों से लदी जनता करने लगी, उसने समाज को बाँधना प्रारंभ कर दिया। धर्मशास्त्र बढ़ चले और अभी तक की हुई प्रगति को ब्राह्मण अपने वर्ग स्वार्थ में अब नष्ट करने लगा, किन्तु उसने अपना रूप सदैव राष्ट्रीय ही रखा।

जैन धर्म भी राष्ट्रीय ही रहा। और इसीलिये वह जीवित रह सका। बौद्ध धर्म यदि राज्याश्रय में अधिक रहा, ब्राह्मण धर्म यदि जातियों की अंतर्भुक्ति पर अधिक पल सका, तो जैन धर्म सेठों का ही अधिक आश्रित रहा। यह भारतीय वर्ण व्यवस्था का तीसरा उच्च वर्ण था। जैन धर्म ने क्षत्रिय प्रभुत्व के रूप को और भी माँजा है और वैश्यों के अनुकूल बन गया है। तभी एकांगी प्रावेण राज्याश्रय पर ही नहीं टिके होने के कारण वह आज भी जीवित है।

बौद्ध धर्म ब्राह्मण धर्म में से पैदा हुआ था। जैन धर्म आर्य्येतर धर्मों की सहायता से पैदा हुआ है। यहां यह बता देना आवश्यक

है कि इतने विरोधों के रहने के बावजूद वर्ण व्यवस्था क्यों जीवित रही।

पहले वर्ण व्यवस्था आर्य्यों में ही सीमित थी। दास प्रथा के लड़खड़ाने के समय समस्त जातियां अपने पेशों के अनुरूप वर्ण-व्यवस्था में अंतभुक्त हो गईं। ब्राह्मण ने सब के धर्मों को मान लिया, और सबने उसके वेद को मान लिया। सामन्तकाल में भी उसने सब के धर्मों को माना, और सब ने उसके वेद को माना। ब्राह्मण धर्म एक संप्रदाय का पर्य्याय नहीं है, विभिन्न संप्रदायों के समूह का पर्य्याय है, जिसमें आस्तिक और नास्तिक (ईश्वर संबंध में, वेद संबंध में नहीं) बराबर रह सके। सामंतीय युग के उत्तार काल में कबीर आदि संत वेदबाह्य रह कर भी हिन्दू ही बने रहे, क्योंकि उनके अनुयायियों ने वर्ण व्यवस्था में रियायतें मांगीं, उसे तोड़ा नहीं। वस्तुतः वर्ण व्यवस्था को तोड़ना ही कठिन था। वर्ण व्यवस्था तत्कालीन आर्थिक ढाँचे पर आधारित थी। निम्न जातियाँ अर्थात् वर्ग, रियायतों के लिए संतों के रूप में आन्दोलन कर के उन्हें प्राप्त कर लेते थे। वे सब जातियाँ अपने-अपने संप्रदायों की उपासना करने के लिए स्वतन्त्र थीं। उनमें आपस में पंचायती राज था। परन्तु कोई भी जाति खेतिहर उत्पादन के साधनों में ही बद्ध रहने के कारण समाज का आर्थिक ढांचा नहीं तोड़ सकती थीं। कोई भी नयी जाति आती थी, यदि वह ब्राह्मण की सत्ता को मान लेती थी, तो ब्राह्मण उसको ज्यों का त्यों स्वीकार कर लेता था। ब्राह्मण भी जावा सुमात्रा गया था, परन्तु ब्राह्मण के लिये तो पहले यात्रा अत्यन्त आवश्यक थी। तब भी जातियों की अंतर्भुक्ति के कारण वह सहज व्यापक राष्ट्रीय रूप धारण करता रहा और उसी परम्परा को उसने दयानन्द तक निभाया, जिसने वर्ण व्यवस्था में नवीन युग के अनुकूल परिवर्त्तन करने का प्रयत्न कर के स्वराज्य की पुकार की थी।

जैन धर्म का राजनीतिक रूप शीघ्र ही सांप्रदायिक रूप में डूब गया।

महावीर अर्थात् निगण्ठ नातपुत्र बुद्ध के समकालीन थे। लिच्छवियों में जैसे बुद्ध का सम्मान था, वैसे ही महावीर का भी था। अधिकांश विद्वानों ने बुद्ध की ही चर्चा की है, जब कि महावीर का महत्त्व भारत में किसी प्रकार भी कम नहीं है। अवतारों में बुद्ध माने गये हैं, परन्तु जैन तीर्थङ्करों की लम्बी परम्परा होने के कारण ऋषभ को ही अवतार माना गया है और जैन अंतर्भुक्ति इतने से ही प्रसन्न हो उठी है क्योंकि जैनों में भी अपने आदिदेव का २४ वें तीर्थङ्कर से अधिक सम्मान है। अपने आत्मा के विश्वास तथा कच्छ्र-तपस्या के कारण जैन बौद्धों के अनात्म और मध्यमा प्रति-पदापादन से अलग हैं। अहिंसा के सब से बड़े प्रचारक जैन हैं, ऐसे कि इन्होंने अति कर दी है। जैन धर्म का सामाजिक रूप चातुर्वर्ण्य पर निर्भर रहा है और उसमें उसने गड़बड़ी नहीं की है। जैन पौरोहित्य ने ब्राह्मण पौरोहित्य को स्वीकार नहीं किया, यहां तक कि अपने तर्क से ब्राह्मणों को भी हिला दिया, जो बौद्ध नहीं कर सके, परन्तु जैनों का विद्रोह इतने तक ही रहा, शेष वह वर्ण-व्यवस्था से जाकर टकराया नहीं। बौद्ध धर्म दास प्रथा के लड़खड़ाते हुए, मृत प्रायकाल में जन्मा था। जैन धर्म बहुत प्राचीन है, जो महाभारत से भी संभवतः प्राचीन है, और धीरे-धीरे अपना विकास करता रहा। जैनों का कहना भी यही है कि उनके धर्म से गिरे हुए लोग ही ब्राह्मण धर्म को मानते हैं, पहले एक ही धर्म था। भारत में जैन साहित्य पर तो खोज ही नहीं हुई। संस्कृत, प्राकृत, और अपभ्रंश में इसका विराट साहित्य पड़ा है जो अभी देखा भी नहीं गया। जैन उसे सहज से देखने भी नहीं देते। जैनों के दो भेद हैं—श्वताम्बर और दिगम्बर। दिगम्बर परम्परा का उल्लेख प्राचीन है। दोनों ही ईसवीं सदी प्रथम में विद्यमान थे इसका उल्लेख है। वे

अपने धर्म ग्रंथ को सिद्धान्त या आगम कहते हैं। उसके बारह अंग हैं—

१—आयारंग सुत्त (आचारंग सूत्र)
२—सूयगडंग (सूत्र कृतांग)
३—ठाणाङ्ग (स्थानाङ्ग)
४—समवायांग
५—भगवती वियाहपन्नति (व्याख्या प्रज्ञप्ति)
६—नायाधम्म कहाउ (ज्ञाताधर्म कथा :)
७—उवास गडसाउ (उपासक दशा :)
८—अंत गडदसाउ (अंतकृद्दशा :)
९—अनुत्तारोव वैयदसाउ (अनुत्तारौप पातिकादशा :)
१०—पन्हावागरणाइम् (प्रश्न—व्याकरणानि)
११—विवागसूयम् (विपाक श्रुतम)
१२—दिठ्ठियाव (दृष्टिवाद)

इसी प्रकार १२ उपाङ्ग, १० प्रकीर्ण, ६ छेदसूत्र, नांदीसूत्र, अनुयोगद्वार, ४ मूल सूत्र इसके भाग हैं।

चंद्रगुप्त मौर्य्य के समय में भद्रबाहु के मगध से दक्षिण में, अकाल के समय चले जाने पर, स्थूल भद्र के समय में जैनों की संगीति हुई और सिद्धांतों को लिपिबद्ध किया गया, ऐसा कहा जाता है। मगधवासी दिगम्बर से श्वेताम्बर हो गये। पहले जैन दिगम्बर ही रहते थे। देवऋद्धि क्षमा श्रमण के समय में ६ वीं शदी में गुजरात के वलभी में इनकी एक और संगीति हुई और फिर इनके ग्रंथ का संपादन हुआ।

जैनागम भी धीरे धीरे बना है। वह स्वयं अपने बहुत प्राचीन होने का दावा नहीं करता।

जैन शरीर को कष्ट देने में बहुत श्रेय समझते हैं। जैनों के तीर्थङ्करों को अपनी नग्न रहने की परम्परा के कारण प्रारंभ में

बहुत कष्ट भी सहना पड़ा था। लोग इन्हें सताते थे, और इन पर कुत्ते छोड़ देते थे। किंतु यह साधना मूलतः व्यक्तिवादी थी।

आश्चर्य का विषय है कि जैनधर्म में ब्राह्मण पौरोहित्य का विरोध है, परन्तु बौद्धों का सा उसके प्रति विद्वेष नहीं है। इसका कारण यही है कि जैन धर्म की परम्परा प्राचीन है और उसकी जड़े राज्याश्रम से नहीं जमी, वरन् आर्य्येतर जातियों के आदिम विश्वासों में जमी हुई थीं।

जैन साहित्य में जनता के संबंध अधिक होने के कारण भारत की ही ऐतिहासिक परम्पराओं का अपने ढंग से उल्लेख है, उनमें बुद्ध संप्रदाय की भांति एक व्यक्ति के ऊपर सब कुछ समाप्त नहीं हो गया है। स्त्री विरोध, संसार विरोध, ब्राह्मण, बौद्ध, जैन, शैव, सब में ही है, जैनों में इसकी अति दिखाई देती है।

जैन कथायों में क्षत्रियों के अतिरिक्त वैश्यों की भी बहुत सी कथाएं हैं। स्वर्ग और नरक को वे भी मानते हैं। कर्म पुनर्जन्म उनमें भी स्वीकृत है, जहाँ तक संप्रदायों की सहिष्णुता का प्रश्न है, वह बौद्धों से जैनों में कहीं अधिक है।

स्त्री के लिये कहा गया है— उस मादा राक्षसी को मत चाहो, जिसके छाती पर दो मांस पिण्ड हैं। जो पुरुष को फँसाती है, अस्थिर बुद्धि है, और दासों की भांति पुरुष को अपनी लीला का पात्र बना लेती है, उत्तरज्झयण सूत्र में (७ अध्याय) काविलीयम् कपिल द्वारा कथित है, उसमें भिक्षुओं को आत्मा को मुक्त करने के लिये कहा गया है, अहिंसा का प्रतिपादन किया गया है, नामि राजा की गाथाओं में क्षत्रियत्व से ऊपर श्रमणत्व पर जोर दिया गया है। ब्राह्मणवाद को कई जगह गिराया गया है। कर्मानुसार शुभ कार्य करने वाला शूद्र भी बुरे कर्म करने वाले ब्राह्मण से श्रेष्ठ बताया गया है। यह महाभारत में भी मिल जाता है। पार्श्व और महावीर के अनुयायियों में थोड़ा भेद बना रहा था। (अध्याय २३) इसमें (२२ अध्याय) कृष्ण की कथा भी है—

शौर्य्यपुर में दो सशक्त राजकुमार थे। एक था वसुदेव, उसके दो स्त्रियां थीं—रोहिणी, देवकी। रोहिणी के राम और देवकी के केशव नामक पुत्र उससे हुए। दूसरा कुमार समुद्र विजय था, उसके अरिष्टनेमि नामक पुत्र उसकी स्त्री शिक से उत्पन्न हुआ था। केशव ने एक बलशाली राजा की पुत्री राजीमती को अरिष्टनेमि के लिये मांगा, और वह मिल गई। अरिष्टनेमि बड़े वैभव से अपनी वधू को लेने चला। किन्तु रास्ते में उसने पिंजड़ों में, कठघरों में कई पशु देखे। पूछने पर पता चला कि वे उसके विवाह में बलि दिये जाने के लिये लाये गए हैं। वह विचलित हो गया और उसने भिक्षु बनाने का विचार किया। राजीमती को यह सुनकर बड़ा दुःख हुआ और अन्त में वह भी साधुनी बन गई। एक दिन घोर वर्षा में वह एक गुफा में, भ्रमण करते समय, घुस गई। भींग गई थी अतः कपड़े सुखाने को उसने डाल दिये। वह समझी कि वह वहां अकेली ही थी। पर वहां साधु रथनेमि बैठा था जो अरिष्टनेमि का बड़ा भाई था। वह उसे नंगी देख विचलित हो गया। और उससे तृप्ति की चेष्टा करने लगा। स्त्री ने उसे डांटा और कहा कि दूसरे का थूका उसे चाटना नहीं चाहिये। वह होश में आगया और धर्म में लग गया।

प्रथम से आठवीं सदी तक के जैन साहित्य को ठीक तिथियां निश्चित करना बड़ा कठिन रहा है, कृष्ण संप्रदाय जैनों में बहुत पहले ही अंतर्भुक्त हो गया था और तभी से उन्होंने कृष्ण कथाऐं भी बनाली थीं। गंगा और सगर की कथा भी प्राचीन है। वासुदेव की अनेक कथाएं हैं। ईसवीं सदी के आसपास ही पद्म चरित बना था जिसमें महाभारत और रामायण के समान रचना कर के कृष्ण द्रौपदी आदि सब को अपने अनुरूप अंतर्भुक्त कर लिया गया। पद्म 'राम' का नाम है। राम भी कहा गया है। वाल्मीकि को झूंठा कह कर राय की कथा का जैन पर्य्याय लिखा गया है।

महावीर के पट्ट शिष्य का नाम गोयम (गौतम) था।

पद्मपुराण या चरित की कथा में यह उल्लेख भी है— राजा श्रेणिक बिम्बिसार मगध में राजपुर में रहता था। कुण्ड ग्राम्य में राजकुमार सिद्धार्थ और त्रिसला के जिन महावीर ने जन्म लिया। ३० वर्ष पर जिन् ने गृहत्याग का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया। विपुल पर्वत पर महावीर के उपदेश को श्रेणिक ने भी एक बार सुना। उसने घर लौट कर सोचा— यह कैसे हो सकता है कि राक्षस इतने शक्तिशाली होते हुए भी वानरों से हार गये? रावण जो श्रेष्ठ वंश का था, उसने मांस कैसे खाया होगा? फिर कुम्भकर्ण, रावण का भाई, जब ६ महिने भर सोकर उठता था तब वह कई हाथी खाता था, फिर सो जाता था। यह कैसे हो सकता है? इन्द्र त्रिभुवनपति है, तो वह लंका में बन्दी कैसे हो गया? यह रामायण कथाएं झूंठ ही होंगी।

श्रेणिक गोयम के पास पद्म (राम) की असली कथा सुनने गया। जिसमें झूंठ नहीं हो। गोयम महावीर द्वारा बताई कथा सुनाने बैठता है। पुराणों की भांति पहले सृष्टिक्रम है, फिर ऋषभ का इतिहास है, जो प्रथम तीर्थङ्कर है, जो कृतयुग में था, जब कि त्रिवर्ण ही था—क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। अर्थात् ब्राह्मण नहीं था।

विद्याधर देवताओं के से लोग थे—उपदेवता। वे जादू जानते थे, मायावी थे, ब्राह्मणों, चंद्रवंश, इक्ष्वाकुवंश के जन्म की कथा बता कर दूसरे तीर्थङ्कर की कथा।

वानर जाति किष्किन्धापुर नामक नगर में एक द्वीप पर रहती थी। यह वानर विद्याधर थे। यह नाम इनका इसलिये पड़ा था कि इनके द्वार, झंडों आदि पर वानर चिन्ह अंकित था। इन्द्र, लोकपाल, सौम, वरुण, कुबेर, यम, असुर, यक्षों के उल्लेख के वर्णन है। वैश्रवण कुबेर नहीं हैं। उसके और रावण तथा रावण की भगिनी चंद्रमुखा और उसके भाई भानुकर्ण और विभीषण के जन्म का वृतान्त है। रावण तथा उसके भाई तप कर के बड़ी शक्ति प्राप्त कर लेते हैं। रावण शासित राक्षस, मांस भक्षी, मनुष्य भक्षी नहीं हैं,

पर हैं वे भी विद्याधरों में से ही। रावण की माता रावण के गले में एक ऐसा रत्न बांधती है कि उसके मुख की नौ प्रतिच्छाएं उसमें बिम्बित होती हैं, अतः वह 'दशमुख' कहलाता है। रावण वीर है, पराक्रमी है। यह रावण जैन है। जैन धर्म की धार्मिक पीठकाओं और तीर्थों का उद्धार कर के जैन मत प्रतिष्ठापित करता है।

पशु बलि का प्रारम्भ कैसे हुआ? एक ब्राह्मण के एक पुत्र था—पर्वत; एक शिष्य था नारद। पर्वत पापी था। वह राक्षस बनकर पैदा हुआ (दूसरे जन्म में) और ब्राह्मण का छद्मवेश धारण करके उसने पशुबलि प्रचलित की। नारद जैन था। उसने कहा—पशुबलि का अर्थ है— शरीरस्थ पशुओं की बलि देना, जैसे वासना, क्रोध, इत्यादि। उसका फल निर्वाण है। हिंसक नरक जाते हैं।

रावण और इन्द्र में युद्ध हुआ। इन्द्र हार गया। लंका में पकड़ कर लाया गया, पर छोड़ दिया गया। इन्द्र के हारने का कारण था कि उसने पहले अवतार में एक भिक्षु को तंग किया था। इन्द्र अपने पुत्र को सिंहासन देकर जैन साधू हो गया और निर्वाण प्राप्त कर गया। रावण मेरु पर्वत पर अनन्तवीर्य्य की स्तुति सुनाता है। इसको सुनकर हनुमन्त जैन हो गया। हनुमान कई बार रावण के लिये, मित्र बनकर, दूसरों से लड़ा है, रावण के पक्ष में है। रावण के द्वारा हनुमन्त को १००० पत्नियां मिलती हैं। बलदेव और वासुदेव, जिन हैं, लोकशासक हैं। जनक और दशरथ का वर्णन है और रामकथा प्रारंभ होती हैं। मूल कथा वाल्मीकि जैसी है, परन्तु विस्तार से देखने पर उसमें कई भेद हो जाते हैं।

इसमें ब्राह्मण धर्म नहीं, हर जगह जैन धर्म है। दशरथ का बड़ा भाई अनन्तरथ जैन साधू हो जाता है। राम और दशरथ जिनों की पूजा करते हैं।

सीता पृथ्वी पुत्री नहीं है, जनक की औरस पुत्री है। अर्द्ध बर्बरों को हराने में पद्म (राम) ने जनक की मदद की हैं अतः जनक ने सीता उसे ब्याह दी है। धनुष विद्याधर लाते हैं जो चाहते हैं कि

सीता का चंद्रगति विद्याधर राजकुमार से परिणाम कर दिया जाये। राम धनुष झुका देते हैं।

दशरथ साधू बनना चाहते हैं, राम पर भार छोड़ना चाहते हैं। भरत भी साधू होना चाहते हैं। लौकिक कैकेयी और पद्म (राम) आग्रह करते हैं कि वे राज्य संभालें। परन्तु भरत जैन श्रमण द्युति के सामने प्रतिज्ञा करते हैं कि राम के लौटने पर वे संसार भोग त्याग करेंगे। वे बड़ी पवित्रता से जैन गृहस्थ की भाँति भोगहीन जीवन बिताते हैं। सीता हरण, रावण-राम-युद्ध, सीता त्याग सब के बाद राम को निर्वाण हो जाता है।

स्वयम्भू रामायण के तुलनात्मक अध्ययन के लिये यह महत्त्व-पूर्ण है। राक्षसों को अच्छा बताने का प्रयत्न किया है। रामायण बहुत परवर्त्ती (शुंगकालीन) रचना है। हो सकता है कि जन-समाज में ब्राह्मण दृष्टिकोण के अतिरिक्त भी रामाख्यान पर अपनी अलग परम्पराएं रही होंगी, जो जैनों में प्रगट हुई हैं। ऊपर वानरों के वर्णन से प्रगट होता हैं कि वह जाति टॉटम थी। यह जैन परम्परा भी बहुत परवर्त्ती है और जैन धर्म से रंग गई हैं।

१० वीं या १२ वीं शती में श्रीचन्द्र ने अपभ्रंश में कथाकोष लिखा था। १०६२ ई० में जिनेश्वर ने कथानक कोश लिखा था। राजशेखर ने १४ वीं शदी में अंतर्कथा संग्रह लिखा था। १४४८ ई० में सोमचन्द्र ने कथा—महोदधि संग्रह किया था, जिसमें संस्कृत प्राकृत कविताएं हैं। जैनों की नाट्य साहित्य, स्तोत्र, काव्य साहित्य में अपार देन है। वे महान लेखक हुए हैं।

वर्धमान द्वात्रिंशिका में महावीर के साथ हिंदू देवताओं का भी उल्लेख हुआ है। वह तीनों लोकों का स्वामी है। वह शिव है, बुद्ध है, आदि है, हृषीकेश, विष्णु, जगन्नाथ, विष्णु उसी के नाम हैं, पर त्रिशूल, धनुष बाण, चक्र, सिंह, वृषभ, और गंगशीशत्व होना उसके साथ नहीं है, न लक्ष्मी उसके पास है। कल्याण मंदिर स्तोत्र से, कथा है, कि सिद्धसेन दिवाकर कवि ने शिव लिंग को महाकाल

मन्दिर उज्जैन में बीच में से फाड़ दिया था और उस लिंग में से पार्श्वनाथ की मूर्ति निकल पड़ी थी।

इस प्रकार के पुराण वाद की पहले ही हम व्याख्या कर चुके हैं। यह सब पुरानी परम्पराओं के लिये तुलनात्मक रूप से अध्ययन के योग्य हैं। परन्तु यह निस्संदेह ठीक है कि प्राचीनता की ओर अधिक उन्मुख ब्राह्मण पुराण हैं जो इस प्रकार के बौद्ध और जैन पुराणों से अधिक प्राचीन हैं। अनेक जातियों के विश्वासों के कारण तथा उनकी अंतर्भुक्ति से और विभिन्न संप्रदायों के होने के कारण, ब्राह्मणों का कोई विशेष संप्रदाय न होने के कारण, उनकी कथाओं में ऐतिहासिक झलक भी सहज प्राप्त होती है। प्राचीन को उनमें पुराने जमाने के दृष्टिकोण से ही लिख लिया गया है परवर्त्ती विवेचन या सुधारवाद का उन पर कम प्रभाव पड़ा है।

चमत्कारवाद युग के बंधन का पर्य्याय था जो सब ही संप्रदायों में पाया जाता है, अतः हम किसी एक को इसके लिए दोष नहीं दे सकते।

हम अपने सामाजिक विकास के इन दो रूपों को देखकर अब ब्राह्मण पुराणों की ओर दृष्टिपात करते हैं।

अथर्ववेद में ही पुराण का उल्लेख हुआ है। (७१-७-२४ अथर्व) ब्राह्मणों में भी इनका उल्लेख है (शतपथ १३-४-३-१३)।

किन्तु अब वे पुराण नहीं मिलते। यह पुराण मौर्य्यकाल से हर्ष-काल के बीच में बने हैं। परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि इनमें वे समस्त प्राचीन पुराण उतर नहीं आये हैं। विभिन्न सम्प्रदायों ने अपने पुराण बनाये हैं। पुराने हिसाब से 'सृष्टिप्रकरण' ही पुराण है। पुराण की पांच विशेषतायें हैं:—

१—सृष्टिविज्ञान

२—प्रतिसर्ग, लय और सृष्टि

३—सृष्टि वंशावली

४—मन्वंतर ज्ञान

५—वंशानुचरित-आदि।

पुराणों में प्राचीनकाल में भी दिव्य कथाएँ होती थीं। सूत-परम्परा पुराणों को सुनाया करती थी।

विभिन्न जातियों की अंतर्भुक्ति के बाद विभिन्न सम्प्रदायों ने पुराणों को बनाया है और प्राचीन परम्पराएं भी उन्हीं में आत्मसात् करली गई हैं। तत्कालीन आवश्यकताओं के अनुरूप ब्राह्मणों ने अपना प्रचार भी खूब किया है। पुराण चौराहों पर सुनाये जाते थे। ब्राह्मणधर्म की बहुत बड़ी सफलता उसके पुराणों के प्रचार के कारण ही रह सकी थी।

पुराण अठारह हैं—

१—ब्रह्म पुराण
२—पद्म ,,
३—विष्णु ,,
४—शिव ,,
५—मार्कण्डेय पुराण
६—लिंग ,,
७—वाराह ,,
८—स्कन्द ,,
९—मात्स्य ,,
१०—कौर्म्म ,,
११—वामन ,,
१२—ब्रह्माण्ड ,,
१३—भागवत ,,
१४—गारुड ,,
१५—नारदीय ,,
१६—ब्रह्मवैवर्त्त ,,
१७—अग्नि ,,
१८—भविष्य ,,

इनके अतिरिक्त वायु-पुराण और देवी-भागवत पुराण भी हैं।
इन पुराणों के अतिरिक्त निम्नलिखित उप-पुराण भी हैं—

१—सनत्कुमार
२—नरसिंह
३—ब्रह्मारदीप
४—शिवधर्म
५—दुर्वासस्
६—कपिल
७—मानव
८—उषनम्
९—वारुण
१०—कलिका
११—साम्ब
१२—नन्दकेश्वर
१३—सौर
१४—पाराशर
१५—आदित्य
१६—ब्रह्माण्ड
१७—माहेश्वर
१८—भागवत
१९—वाशिष्ठ
२०—कौर्म
२१—भार्गव
२२—आदि
२३—मुद्‌गल
२४—कल्कि
२५—देवी
२६—महाभागवत

२७—बुद्ध धर्म्म

२८—परानन्द

२९—पशुपति।

इनके अतिरिक्त महाभारत का खिलपर्व, हरिवंश पुराण कहलाता है। हरिवंश पुराण में जैन तीर्थङ्कर अरिष्टनेमि को कृष्ण के बन्धु के रूप में प्रस्तुत किया गया है। जैनों का भी एक हरिवंश-पुराण है।

इतने पुराणों के विषय में संक्षेप में क्या कहा जा सकता है क्योंकि ये एक सम्प्रदाय के नहीं है। यह ब्राह्मणधर्म के विकास और अन्तर्भुक्ति की विराट व्यापकता के प्रतीक हैं।

इनमें किसी में शिव, किसी में विष्णु और किसी में देवी को सर्वश्रेष्ठ ठहराया गया है। इनमें शैव-पुराण सब से अधिक हैं। सौर संप्रदाय का भी इनमें मिलन है।

इनमें निम्नलिखित बातें हैं—

१—अवतारवाद

२—सृष्टिक्रम

३—प्राचीन भारतीय गाथायें

४—ब्राह्मण प्रशस्ति

५—वर्णाश्रम व्यवस्था

६—राजवंशों की तालिकाएँ

७—विभिन्न देवता माहात्म्य

८—उद्दिष्ट देवताओं को महानतम बनाने का प्रयत्न, इत्यादि।

सूत्रकाल में पुराण थे, उनका उल्लेख निश्चित है।

पुराण प्राचीन थे अवश्य परन्तु उनका प्रस्तुत रूप सामन्तीय पृष्ठ-भूमि पर लिखा गया है। पुराण भी एक समय में नहीं बने हैं। वे भी धीरे-धीरे बने हैं। पुराणों के विषय में, उनके चमत्कार सब ही जानते हैं। आगम (शैव) और संहिता (वैष्णव) ग्रन्थ भी इसी युग में बने हैं। तंत्र (शाक्त) इस युग में बन चुके थे, तभी

उनका प्रभाव इतना प्रचण्ड होकर हर्ष के समय से ही पड़ना प्रारंभ हो गया था। तंत्र वाद में भी बने रहे थे और अंग्रेजों के आने तक बने हैं। पुराणों में हमें उस युग का ब्राह्मण विश्वास प्रगट होता है। पुराणों का अन्त समाज को घोर चमत्कार विश्वासी और रूढ़िवादी बनाकर समाप्त हुआ। विभिन्न जातियों के आगमन से जो ब्राह्मण लड़खड़ा उठा था, उसने उन पर प्रभाव डालने को पुराणों का प्रभाव बढ़ाया था। अपना काम धर्मशास्त्र करते थे, बाकी पुराण। समाज जड़ हो गया था।

भागवत पुराण में अवश्य ब्राह्मणवाद ने भक्ति की आड़ में जनसमाज को रियायतें दी हैं, परन्तु पुराणों में अतीत का घोर मोह है।

मौर्य्य चन्द्रगुप्त भी पहले से हर्षबर्धन तक निरंतर धर्मशास्त्र पर पुस्तकें लिखी जाती रहीं। इनका क्रम रुका नहीं, परन्तु इस युग में इनका संपादन हुआ और योरुप में ये स्मृतियाँ प्रस्तुत की गई, जिससे समाज का विनयमन उस समय हुआ। स्मृतियों ने समाज को बाँधने की चेष्टा की।

मनु, कामन्दक, कार्ष्णाजित, कायश्प, कुणिक, कुथुमि, कौण्डिन्य, गोभिल, घटकर्पर, चाक्षुष, चाणक्य, चारायण, जनमेजय जमदग्नि, जाबाल, जातूकर्ण्य, जैमिनि, देवरात, द्वैपायन, नारद, नारायण, प्रचेतस्, प्रजापति, पैङ्गय, पैतीनसि, बादरायण, बृहच्छौनक, गर्ग, गार्ग्य, याज्ञवल्क्य, हारीत, बृहद्धारीत, बृहन्मनु बृहस्पति, भागुर, भारुचि, भृगु, रैभ्य, वाधूल, वामदेव, विशालाक्ष, विष्णु, वृद्ध कात्यायन, वृद्धगर्ग, वृद्धगार्ग्य, वृद्ध गौतम, वृद्धचाणक्य, वृद्ध नारदीय, वृद्ध पाराशर, वृद्ध प्रचेतस्, वृद्ध बृहस्पति, वृद्ध बौधायन, वृद्ध मनु, वृद्ध याज्ञवल्क्य, वृद्ध वसिष्ठ, वृद्ध विष्णु, वृद्ध व्यास, वृद्ध शङ्ख- वृद्ध शातातप, वृद्धात्रि, वृद्ध हारीत, वृद्ध श्मैनक, वृद्धाङ्गिरस, वृद्धापस्तम्ब, वैखानस, वैयाघ्रपाद, व्याघ्रकण्ठ, व्यास, शालंकायन, शाट्यायन, शाकटायन, शुक्राचार्य्य, शुनःशेप, औशीनस, आंगिरस,

यम, संवर्त, शङ्ख, लिखित, दक्ष, गौतम आदि का नाम इस युग का प्रतीत होता है।

स्मृतियाँ लिखने का क्रम बुद्ध से पूर्व ही प्रारम्भ हो गया था। परन्तु जो स्मृतियाँ अब प्राप्त होती हैं, वे अपने प्रस्तुत रूप में बुद्ध के समकालीन या परवर्ती हैं। जिन नामों में वृद्ध लगा है वे प्राचीन नाम हैं, अर्थात् इन नामों के बाद में भी व्यक्ति हुए थे, जिनको प्राचीनों से अलग करके स्मृति में रखने के लिए यह वर्गीकरण किया गया था।

स्मृतियों में मुख्यतया समाज की व्यवस्था का नियमन है। किन्तु स्मृतियों के नियमन को देखने के पहले हमें सामंतीय समाज के नये जागरण को देखना आवश्यक है, जिसका प्रतीक बन कर वाल्मीकि रामायण उपस्थित है। इसका अध्ययन इसलिये अधिक आवश्यक है कि रामायण सामन्तकाल के प्रारम्भ में विकासशीलता का चिन्ह बन कर आई है और मध्ययुग के ह्रास के समय रामायण (राम चरित मानस) एक दूसरा ही रूप धारण करके उपस्थित हुई है। बाल्मीकि रामायण का यह समय शुंगकालीन माना जाता है।

रामायण एक महान् ग्रन्थ है। राम-कथा ऐतिहासिक रूप से कुछ भी रही हो, परन्तु उसका प्रस्तुत स्वरूप अपनी एक सामाजिकता लिये हुए है।

रामायण का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

नारद से वाल्मीकि, ऐसे पुरुष के बारे में पूछते हैं—जो भू लोक में गुणवान् वीर्य्यवान्, धर्मज्ञ, वृत्तोपकार स्मरण रखने वाला, साम्यवादी दृढ़व्रत, लोकाचार तत्पर, सर्वप्राणिहितकारी, विद्वान, सामर्थ्यवान्, रूपवान, अन्तःकरण वश में रखने वाला, ईर्ष्यारहित, कान्तिमान् हो। जो क्रुद्ध होने पर देवताओं के हृदय को डरादे।

नारद ने कहा :—ऐसा व्यक्ति इक्ष्वाकु श का राम है। वह मन को जीतने वाला है, जितेन्द्रिय है, आजानबाहु, वृषभस्कन्ध,

कम्बुग्रीव, महाहनु, प्रशस्तवक्ष है। उसका धनुष बहुत बड़ा है। धर्म को जानता है, स्वधर्म, स्वजन और जीव रक्षक है। वेद, वेदाङ्ग, धनुर्वेद और सर्वशास्त्र ज्ञाता है। सब उसे प्यार करते हैं। स्वभाव का वह अच्छा है, चतुर है, सज्जन सदा उसकी सेवा किया करते हैं। पराक्रम में वह विष्णु के समान है, क्षमा में भूमि, क्रोध में कालाग्नि, सौन्दर्य्य में चन्द्रमा, दान में कुबेर और सत्य में धर्म के समान है। (आदि काण्ड १ सर्ग)

राम बर्बर दास प्रथा के युग में हुए थे, जिस जगह वे हुए थे वहां कालान्तर में ब्राह्मण वाद के विरोधी क्षत्रिय गणों का अधिकार हो गया था। जहां मिथिला में उनका विवाह हुआ था, वहाँ विदेह गण था। बौद्ध परम्परा कहती है कि तब इक्ष्वाकुओं में भाई बहिन का ब्याह होता था। परन्तु सामन्तकाल के इस युग में वे आदर्श पुरुष हैं। सीता आदर्श नारी है। वाल्मीकि भगवान का पता नहीं पूछते, आदर्श पुरुष को खोजते हैं। क्यों? महाभारत, आरण्यक, उपनिषद् और वेद में आदर्श पुरुष की यह खोज क्यों नहीं हुई थी? कृष्ण और युधिष्ठिर के होते हुए सामन्तीय व्यवस्था एक नया आदर्श क्यों बनाना चाहती है? क्यों वह महाभारत के इन आदर्श पुरुषों से संतुष्ट नहीं है? नये मानव की आवश्यकता है, जो पुरुष है, वह राम है और उसे लोकनायक के रूप में प्रस्तुत किया गया है। रामचरित को ही कमवेशी से जैन साहित्य में भी रखा गया है। लोकनायकत्व उन्हें वहाँ भी दिया गया है। जैनों अर्थात् जैन पौरोहित्य ने भी अपने दृष्टिकोण से सामन्तीय व्यवस्था के लिये एक पुरुष उपस्थित करने की चेष्टा की थी। किन्तु युधिष्ठिर की सदेह स्वर्ग यात्रा, कृष्ण की राजनीतिक चतुरता, जैनराय की अहिंसात्मक त्याग पद्धति, कोई भी राम के उस महान सामंतीय रूप के सामने नहीं ठहर सकी, जो व्यवस्था ने रक्षक का पर्य्याय था। उसने दोनों पक्षों को देखा था। दलितों का उत्थान भी, और वर्ण व्यवस्था की रक्षा भी। उसमें भाग्य की विपत्तियाँ भी थीं, किंतु

थी पुरुष की अदम्य चुनौती भी। इस नये रूप में पति, पत्नी, पिता, पुत्र, माता, सेवक, गुरू सब की आदर्श व्याख्या की गई थी, जो समाज के तत्कालीन विचारों की सर्व श्रेष्ठ अभिव्यक्ति बन कर उपस्थित हुई।

वाल्मीकि रामायण का सबसे बड़ा महत्त्व है कि यह सामंतीय काल की सर्वश्रेष्ठ रचना, धर्म से प्रेरित नहीं, यह करुणा से प्रेरित है। मानों महाभारत युग के दुःख दुःख को रामायण के पौरूस ने ही बाहर फेंक दिया है।

पुस्तक के आरंभ में ही आगे की कथा को वाल्मीकि जान लेते हैं, यह पुस्तक को वंदनीय बनवाने के लिए जोड़ा गया है ताकि जनता उसे केवल काव्य कह कर न छोड़ दे।

वाल्मीकि रामायण का पुराना नाम 'पौलस्त्य वध' है। (आ० का० ४ स०) इसको गाते हुए लवकुश नामक राजपुत्र राम की सभा में पहुँचे। वाल्मीकि ने यह ग्रंथ तब बनाया था जब रामचंद्र राज्यसिंहासन पर बैठ चुके थे (आ० का० ४ स० १—२)

अयोध्या का वर्णन अभूतपूर्व है। उसके पहले ब्राह्मण साहित्य में ऐसे नगर का वर्णन नहीं मिलता। मिलता भी कहाँ से? पहले ऐसे नगर थे ही नहीं। महानगरों का विकास होने ही से नदी तटों पर व्यापार का संतुलन बदला था। और इस व्यापार के संतुलन के बदलने से समाज में दो परिवर्त्तन हुए थे। वैश्य का व्यापार बढ़ा था। उसे दिन रात खाना खिलाकर ज्यादा खर्च कर के दास पालने में फायदा नहीं था, ठेके पर मजदूरी देकर काम कराना ज्यादा लाभदायक था। तभी उसने ढील दी, दास, श्रेणियों (गिल्डों) का कम कर बना। ब्राह्मण की अवस्था आर्थिक रूप से महाभारत युग के बाद समाज में अब काफी पतली हो गई थी। दास प्रथा केवल क्षत्रिय के लिए लाभदायक थी, परन्तु वह उसे बदलते युग में नहीं रख सका। व्यापार बढ़ा। महानगर बने। समस्त महाभारत में राम की अयोध्या जैसा सुन्दर महानगर नहीं है।

तभी कवि कहता है, (पांच सर्ग)—सरयू नदी के किनारे, धन-धान्य से भरपूर, दिन दिन प्रवृद्धमान कोसल प्रदेश है। उसमें मनु की बनाई अयोध्या नगरी है। उसकी लम्बाई १२ योजन और चौड़ाई ३ योजन है। एक योजन चार कोस लम्बा होता है। अर्थात् कवि के अनुसार लम्बाई में अयोध्या ९६ मील और २४ मील चौड़ाई में फैली हुई है। उसके विशाल राजपथ और चारों ओर के विराट द्वार सुन्दरता से विनिर्मित हैं। उसमें सुन्दर उपवन है। वहाँ सड़कों पर खूब छिड़काव होता रहता है। देश को समृद्ध करने वाले दशरथ राजा ने उस नगरी को, इन्द्र की अमरावती की भांति सजाया। वह द्वारों, बंदनवारों से सुशोभित थी। उसके पण्य सुसज्जित थे। वहाँ सब प्रकार की कलें और अस्त्र शस्त्र उपस्थित रहते थे। वहाँ सब प्रकार के शिल्पकार मौजूद थे। सूत और मागध वहाँ रहते थे। वह नगरी ऊँची-नीची अटारियों और ध्वजाओं से शोभित थी। वहाँ शतघ्नियाँ। (आग फेंकने के यन्त्र) चढ़ी रहती थीं। नर्त्तकियों की कमी न थी। अगाध खाई चारों ओर घिरी रहती थी। शत्रु डरते थे। नगरी घोड़े, ऊँट आदि पशुओं से घिरी हुई थी। सामन्त और राजा कर लिये हुए उपस्थित रहते थे। वहाँ अनेक देशों के व्यापारी आते थे। उसमें सत खण्डे घर थे, रत्न-जटित पर्वताकार अटारियाँ थीं। उसके घर अत्यन्त दृढ़ और सम-भूमि पर बने हुए थे। मीठा जल, बजती ढोलकें, नगाड़े, मृदङ्ग, वीणा, उसके गुण थे। वहाँ महारथी, अग्निहोत्री, वेदसत्सङ्ग के पारंगत पण्डित, दाता, और महर्षि निवास करते थे।

नगर वर्णन के उपरान्त राजा और मंत्रियों का उल्लेख है। (६ सा० ७ स०) दशरथ रक्षक राजा थे। उनके नगर में धर्मात्मा, लोभरहित, संतोषी और सत्यवादी लोग थे। कोई निर्धन नहीं था, सब के घर ही गाय, घोड़े, धनधान्य से पूर्ण थे। कामी, कृपण, हिंसक, मूर्ख, नास्तिक कोई न था। सब स्वधर्मनिरत थे। कोई ऐसा न था जो कानों में कुण्डल, माथे पर मुकुट, गले में माला धारण न

करता हो। मलिनता नहीं थी, गंध सेवन होता था, अच्छे पदार्थ सब खाते थे। कोई ऐसा न था जिसके गले और हाथों में सोने का गहना न हो, जिसने अग्नि में यज्ञ न किया हो। ब्राह्मण बुरे दान नहीं लेते थे। वहां निन्दक, झूंठ, षडङ्ग वेद हीन, दीन, व्रत-रहित, उन्मत्त, पीड़ित कोई नहीं था। सब श्रीमान् सुन्दर थे। राजभक्त थे। और चारों वर्ण वहाँ थे, अर्थात् शूद्र भी श्रीमान् थे। देवताओं और अतिथियों का सत्कार होता था। पुत्र वाले पौत्र और पौत्र वाले प्रपौत्र वाले होते थे। क्षत्रिय वहाँ ब्राह्मणों के सेवक होते थे, वैश्य क्षत्रियों के अनुगामी थे और शूद्र तीनों वर्णों की सेवा करते थे। हाथी, घोड़ों, योद्धाओं से वह नगरी भरी थी।

यह ब्राह्मण का समाज स्वप्न था।

दशरथ के आठ मन्त्री थे— धृष्टि, जयन्त, विजय, सुराष्ट्र, राष्ट्र-वर्द्धन, अकोप, धर्मपाल, और सुमन्त। वसिष्ठ और वामदेव ऋषि विशेष याज्ञिक थे। सुयज्ञ, जाबालि, काश्यप, गौतम, मार्कण्डेय, कात्यायन, ब्रह्मर्षि वहीं राजा के मन्त्री थे। ब्राह्मण ने निरंकुश सामंत की जगह यह सुमतिमय कल्पना की थी।

झूंठ वहाँ कोई नहीं बोलता था।

दशरथ ने पुत्रेष्टि यज्ञ किया।

१४ वें सर्ग में भूखों को देने के लिए यज्ञ में अन्न की ढेरियाँ लगने लगीं। समझ में नहीं आता जब सब धनधान्य परिपूर्ण थे, तब वहाँ भूखे कहाँ से आ गये। ३०० पशुओं की बलि दी गई। गरीब ब्राह्मणों को भी राजा ने दान दिया। अथर्व वेद के मन्त्रों से यज्ञ पूर्ण हुआ।

उपर्युक्त वर्णन में एक नयी कल्पना है, एक नये समाज का रूप है?

यही राम जब पैदा हुए तो, सुख हुआ और वे ब्राह्मण के साथ राक्षस वध करने को निकले। नतीजे में परशुराम से धनुष यज्ञ में विवाद हो गया। यहाँ क्षात्रधर्म करने वाले ब्राह्मण के ऊपर क्षत्रिय

की सादर विजय दिखलाई गई है। इसमें तुलसी की भाँति परशुराम की निन्दा नहीं की गई है। वस्तुतः वाल्मीकि में क्षत्रिय ब्राह्मण मिलन है। तुलसी में गिरे हुए ब्राह्मणत्व के प्रति रोष भी है।

वाल्मीकि रामायण के विषय में बहुत लोगों को संदेह है। विटंर नित्स की राय में, क्योंकि इसमें राम को भगवान् नहीं माना गया है, और जो ऐसे भाग हैं वे क्षेपक हैं, इसलिए इसे महाभारत से पुराना माना जा सकता है। परन्तु चमत्कारों के दृष्टिकोण से महाभारत की रामकथा में चमत्कार कम है, वाल्मीकि राम कथा में वे अधिक हैं। यह रामायण को परवर्त्ती प्रमाणित करता है। रहा राम का ईश्वरत्त्व। रामायण में वह कम है। आदिकाण्ड में वाल्मीकि अपने लिये 'मैं लिखता हूँ' नहीं लिखता। 'वाल्मीकि लिखता है' ऐसा प्रयोग है, अर्थात् यह किसी और का लिखा हुआ भाग है। निश्चय परवर्त्ती है। तब राम का पुरुषार्थी रूप ही मुख्य हुआ। तो क्या वह परवर्ती हो सकता है? अवश्य हो सकता है। वेद, उपनिषद, आरण्यक के बाद महाभारत में ह्रासकालीन समाज का चित्र है, ग्राम सभ्यता का वर्णन विशेष है। दैववाद का प्रभुत्व है, धर्म व्याख्या में अस्थिरता है, स्त्री धर्म भी डाँवाडोल है, कर्मवाद ही मुख्य है। रामायण में सामन्तीय विकास का चिन्ह है। समाज ह्रासकालीन नहीं है, नगर सभ्यता का उदय है, दैवनाद पर पुरुषार्थ की जय है, धर्म की स्थिर व्याख्या है, स्त्री धर्म निश्चित है। गीता के विराट पुरुष में समाज का नाश ही नाश है। बुद्ध चिंतन में दुःख ही दुःख है। रामायण में वर्ण व्यवस्था का नया रूप है। सुदृढ़ है। हम कैसे मान लें कि विकास की दृष्टि से आगे होनी वाली चीज पीछे की मान लीजाये? पहले रामायण का नाम 'पौलस्त्यवध' था। यह प्रगट करता है कि राम कथा पहले भी थी, उसका धीरे-धीरे यह स्वरूप नियत हुआ।

महाभारत में दुख है, दैव है, अपना बस कुछ भी नहीं चलता, और मनुष्य समाज की विषमता को दूर करने में असमर्थ होकर,

सब से उदासीन होने का यत्न कर रहा है। रामायण में साहस है, पौरुष है, और समाज में रहने की प्रेरणा है।

लक्ष्मण कहता है (२३ सर्ग) हे राम! तुम क्षत्रिय श्रेष्ठ और समर्थ होने पर भी असमर्थ की तरह अशक्त और दीन होकर दैव की प्रशंसा कर रहे हो। तुम वन जाना धर्म कहते हो? जिस धर्म के द्वारा तुम्हारी बुद्धि इस प्रकार की है वह धर्म भी मुझे मान्य नहीं। ......ऐसी धर्मतत्परता भी किस काम की जो निन्दित हो।

जो पुरुष लोक में अप्रसिद्ध है और वीर्यहीन है, वही दैव का अनुसरण करता है, और जो लोग वीर हैं, जिनका शौर्य्य और पराक्रम लोक में प्रसिद्ध है, और जो स्तुति के योग्य हैं, वे दैव की उपासना कभी नहीं करते। जो अपने पौरुष से दैव के बाँधने को समर्थ है, उस पुरुष का दैव कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता, और न वह कभी दुखी होता है। लोग आज दैव और पुरुष का सामर्थ्य देखेंगे कि इनमें से कौन प्रबल है? दैवबली है कि मनुष्य? यह आज ही स्पष्ट हो जायेगा। आज मेरे पौरुष से मारे हुए दैव को वे लोग देखेंगे जिन्होंने दैव से नष्ट हुए तुम्हारे राज्याभिषेक को देखा है। जो दैव उस उद्दण्ड हाथी की तरह है जो अंकुश को नहीं मानता, जिसके मद बह रहा है और जो इतस्ततः भाग रहा है, ऐसे दैव को मैं आज पौरुष से—अपने पौरुष से निवृत्त करता हूँ।.... मेरे बल से विरोधी लोगों के लिये दैवबल वैसा दुःखदायक न होगा जैसा कि मेरा उग्र पौरूष दुःख कारक होगा।

युग ही परिस्थितियों और भावनाओं का निर्माण होता है। जिस युग में समाज गतिवद्ध होता है उसमें व्यक्तिवाद अभावात्मक हो जाता है, और उसे दैन्य तथा दैव घेर लेते हैं। हम यह भी मान लेने को तत्पर हैं कि महाभारत में ही अचानक यह दैन्य दिखलाई पड़ता है, किन्तु फिर उपनिषदों में जो दैववाद है वह किस शृंखला में रखा जा सकेगा। उपनिषद्, गीता, महाभारत,

और बुद्ध सब कर्मवाद में ऐसे फँसे हुए हैं कि उन्हें चारों ओर जाल सा दिखाई देता है। रामायण में यह बात नहीं है।

स्त्री के लिए (२४ सर्ग) कहा है : जीवित स्त्री के भर्त्ता ही देवता और प्रभु हैं। जो परम उत्तम स्त्री व्रत और उपवास में तत्पर रहती है और पति की सेवा नहीं करती वह पापियों की गति को प्राप्त होती है। जो देवों के नमस्कार और पूजन से निवृत्त है, परन्तु केवल पति सेवा ही करती है वह उत्तम गति प्राप्त करती है। यही धर्म सनातन वेद और लोक में प्रसिद्ध है।

सीता कहती है (२७ अध्याय) पिता, माता, भ्राता, पुत्र, और पुत्र वधू, ये सब अपने-अपने पुण्यों को भोग करते और अपने-अपने भाग्य का भोग करते हैं। परन्तु स्त्री तो केवल पति ही के किये हुए कर्मों के फलों को भोगती है। परलोक में भी पति के अतिरिक्त उसका कोई भी नहीं है।

राम का समस्त धन ब्राह्मण के लिये ही था। यह त्रिजट ब्राह्मण की कथा से प्रगट होता है (३२ अ०)।

(५० अ०) राम ने गुह से आलिंगन किया। तुलसीदास ने भी इसे लिखा है। ईसा से पहले ही भारत के ब्राह्मण क्षत्रियों में इतनी सहिष्णुता का उल्लेख यहाँ मिलता है। लक्ष्मण ने गुह से कहा था (५१ स०) हे धर्मात्मन ! हम सब तुम्हीं से रक्षित हैं। (५२ स) राम लक्ष्मण ने वत्स देश में पहुंच कर चार मृग मारे और खा गये।

यहाँ अराजक देश का वर्णन देखना उचित है—(६७ स०)

१—राष्ट्र नष्ट हो जाता है।

२—बादल पानी नहीं बरसाते।

३—बीज नहीं बोये जाते।

४—पुत्र पिता के वश में नहीं रहता, न स्त्री पति के वश में रहती है।

५—धन हीन हो जाते हैं।

६—असत्य व्याप जाता है।

७—वाटिका १, गृह २, यज्ञ ३, सत्र ४, (१, २,) का निर्माण नहीं होता; (३, ४,) नहीं होते।

८—ऋत्विज को दक्षिणा नहीं मिलती।

९—नट नर्त्तक सुखी नहीं रहते। उत्सव समाज नहीं होते, जिनसे देश वृद्धि को प्राप्त होते हैं।

१०—दूकानदारों को डर रहता है।

११—कथा पुराण नहीं सुने जाते।

१२—धनवान् और क्षेत्र तथा गोपाल दरवाजे खुले रख कर नहीं सो सकते, न गहने पहन कुमारियाँ वाटिकाओं में संध्या समय क्रीड़ा कर सकती हैं।

१३—कामी लोग सवारी में बैठ अपनी स्त्रियों को लेकर वन में विहार के लिये नहीं जा सकते।

१४—हाथी राज मार्ग से नहीं चल सकते।

१५—धनुर्विद्या का अभ्यास नहीं होता,

१६—व्यापारी विक्रय सामग्री लेकर कुशलपूर्वक मार्ग में नहीं चल सकते।

१७—ब्रह्मध्यानी, जितेन्द्रिय, जहाँ साँझ हो जाये वहीं ठहर जाने वाले लोग, (मुनि) चल नहीं सकते।

१८—अप्राप्य वस्तु प्राप्त नहीं होती, प्राप्त की रक्षा नहीं हो पाती।

१९—वनों में शास्त्रार्थ नहीं हो सकते।

२०—देव पूजा बन्द हो जाती है।

२१—लोग परस्पर एक दूसरे का मछलियों की भाँति भक्षण करने लगते हैं।

१२—नास्तिक बढ़ जाते हैं।

राज्य व्यवस्था की आवश्यकता इसीलिये बहुत ही आवश्यक थी। एक प्रकार से महाभारतकार का जो समाज और राज्य संबंधी स्वप्न है कि ऐसा-ऐसा हो जाना चाहिये, वही सब स्वप्न

साकार होकर रामायण में दिखाई देता है। विस्तार भय से हम यहाँ प्रत्येक पात्र की विशेषताओं को नहीं दे सके हैं । सामन्तीय व्यवस्था का प्रारंभ काल आगे बढ़ा रहा था और उसमें यह संबंध प्रगट हुए थे।

किन्तु विभिन्न जातियों के आने से यह सब चल नहीं सका। तब स्मृतियों की आवश्यकता बढ़ी। यहाँ हम धर्मशास्त्रों पर एक संक्षिप्त दृष्टि डालते हैं।

यास्क से पहले ही संपत्ति विषयक अधिकारों के विषय में बहस चल पड़ी थी कि (निरूक्त ३, ४, ५) लड़की को धन मिले या नहीं, पुत्रिका को क्या मिले क्या नहीं मिले। + गौतम, बौधायन, और आपस्तम्ब के धर्मशास्त्रों का काल ६००—३०० ई० पू० है। मनु गौतम से पहले हुआ है, बौधायन ने भी कई प्राचीन आचार्यों के नाम लिखे हैं।

कौटिल्य का अर्थशास्त्र भी धर्मशास्त्रों में ही गिना जाता है। (३, २०) कौटिल्य ने लिखा है जो देवताओं के आदर में बौद्ध (शाक्य) आजीवक, या शूद्र साधु को खाने को निमन्त्रित करता है, उस पर १०० पण जुर्माना करना चाहिए। मनु और कौटिल्य × में मतभेद है—

१—कौटिल्य ब्राह्मणों में भी नियोग की व्यवस्था देता है।

२—मनु ने इसे इस युग में ठीक नहीं माना।

३—मनु के अनुसार शूद्रों के गर्भ से उत्पन्न त्रिवर्णों की संतान को संपत्ति के अधिकार नहीं हैं, परन्तु कौटिल्य के अनुसार अन्य सन्तान के न होने पर कुछ भाग प्राप्त करने का उनको अधिकार है।

+ धर्मशास्त्र का इतिहास, (अंग्रेजी) पी. वी. काणे वॉ १ पृ० ८

× वही पृ० ६८

४—मनु माता और दादी को अधिकार दिलाता है, कौटिल्य नहीं।

यह पितृ सत्ताक व्यवस्था का सामन्तीय संस्करण है जिसमें स्त्री के संपत्ति के अधिकार बढ़ते हैं। (मनु परवर्त्ती हैं)

५—मनु विधवा विवाह के विरुद्ध है, कौटिल्य विधवा विवाह के पक्ष में है। वे स्त्रियां जिनका पति चला गया है, वे पुनर्विवाह कर सकती हैं। दुश्चरित्र स्त्री को उसे छोड़ देने का अधिकार है। ये स्त्री के कुछ बढ़ते हुए अधिकारों के प्रतीक हैं।

६—मनु ब्राह्मण के शूद्रों से विवाह का उल्लेख कर के, उसकी निन्दा करता है, कौटिल्य नहीं करता।

इन तथ्यों में गड़बड़ी न हो इसलिए स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि आजकल जो मनुस्मृति प्राप्त है वह कौटिल्य के अर्थशास्त्र के बाद का संस्करण है। अतः कौटिल्य में जो सामन्तीय व्यवस्था के उदय के समय में स्त्री के बढ़ते हुए अधिकार हैं, मनु में परवर्त्ती वर्णन है, जिसमें समाज को अधिक बाँधने की चेष्टा की गई है।

७—कौटिल्य में तीन विद्याओं को जानना चाहिये। त्रयी, वार्त्ता, दण्डनीति।

८—मनु में चार विद्याओं का उल्लेख है।

समाज विकास तो करता है किन्तु उसके शोषण के पहलू बदल जाते हैं। जब हम दास-प्रथा का नाश बताते हैं तो हमारा तात्पर्य है—दास-प्रथा उत्पादन के साधन के रूप में नहीं रही थी। घरेलू दास-प्रथा फिर भी बच रही थी, किन्तु वह भ क्रय विक्रय के सामान की तरह थी। ब्राह्मण ने प्रगति की थी कि जाने या अन-जाने या अपने स्वार्थ के हित उसने समाज की विभिन्न जातियों (races) से अन्तर्भुक्ति स्थापित करली थी। इसका मतलब यह नहीं है कि वह इसमें प्रसन्न था। उसके अपने दृष्टिकोण से तो यह सब समाज नियमन का ह्रास था। वह अपने अधिकारों की तुलना में इसे कलियुग कहता था। गणों में क्षत्रियों का आधिपत्य था, वहाँ

ब्राह्मण को वे सहूलियतें प्राप्त न थीं। अतः वह राज्यतंत्र का पक्षपाती था। वह शूद्र को अपने मन से अधिकार देना नहीं चाहता था। जो अधिकार उसे देने पड़े थे, वह युग का दबाव था। लोग क्षत्रिय वर्गों और वैश्य वर्गों के बौद्ध संप्रदाय और जैन संप्रदाय जैसे ब्राह्मण विरोधी कार्यों को देखकर आवश्यकता से अधिक प्रसन्न हो उठते हैं। वैश्य विद्रोह अवश्य दासों की मुक्ति का आर्थिक आधार प्रस्तुत कर सका था। परन्तु वह शूद्रों के लिये मुक्तिकर प्रमाणित नहीं हुआ। जैन संप्रदाय ने चातुर्वर्ण्य को सबसे पहले स्वीकार कर लिया था।

बौद्ध संप्रदाय अर्थात् क्षत्रिय पुरोहित वर्ग ने राजा का आश्रय लेकर ब्राह्मण पुरोहित वर्ग से टक्कर ली थी। किंतु क्षत्रिय पौरोहित्य गणों का पक्षपाती था जो दास प्रथा पर ही निर्मित थे। बुद्ध ने 'विचार की समता प्रचलन पद्धति' को समाज पर लागू न किया था। अतः बौद्ध चिंतन को समाज के सामंतीय ढाँचे में आजाने पर विकास करना पड़ा और महायान इसी का पर्य्याय था। भिक्षु संघ की बात जाने दें, वैसे समाज में बौद्ध गृहस्थ भी चातुर्वर्ण्य वाले समाज का ही अंग था। शूद्र को बौद्ध संप्रदाय ने भी कोई लाभ नहीं दिया।

एतिहासज्ञ महाभारत में ही शूद्रों के प्रति कुछ रियायतें देखते हैं और कौटिल्य तक वे प्राप्त होती हैं। इसमें कुछ आश्चर्य नहीं होना चाहिये। बुद्ध के पहले और महाभारत युद्ध के बीच का विशाल समय-भाग ही इसका कारण है। क्योंकि उस समय में धीरे-धीरे समाज का विकास हुआ है। और अचानक क्रान्ति से नहीं हुआ, इसलिये कहीं-कहीं ऐसी रियायतें मिल जाना नितांत स्वाभाविक हैं। क्योंकि जब काम धीरे-धीरे होता है तो न जाने कितनी उलझनें पैदा होती रहती हैं।

भारतीय इतिहास के पूर्व मध्यकाल (३०० ई० पू०-६०० ई०) की पृष्ठभूमि में ब्राह्मण ने भारत की असंख्य जातियों को चातुर्वर्ण्य

के आधार पर अपने साथ मिलाया था। क्षत्रिय और वैश्य यद्यपि इस चातुर्वर्ण्य में थे, परन्तु अपने पौरोहित्य स्वतन्त्र बनाने में लगे हुए थे। ब्राह्मण ने इसीलिए जनमेजय के बाद से ही कलि का आगमन कहा है। कलि का आगमन जब जनमेजय के बाद कहा है तो इसका अर्थ यह नहीं कि जनमेजय की मृत्यु के बाद ब्राह्मणों ने जान लिया कि अब कलि प्रारंभ हो गया है। कलि का अर्थ है धर्म नाश। धर्मनाश का ब्राह्मण के अनुसार अथ है कि उसके अधिकारों की विशेष सत्ताओं का नाश। वह तो समाज में अपने विरुद्ध उठते हुए तूफानों को देखकर हाहाकार करता हुआ, चतुराई से उन उनको अधिकार दे देकर अपनी रक्षा के लिये नियुक्त करता गया, या कहें उन उनसे गठ बंधन करता गया, उनसे अपनी शर्त्तें देकर उनकी शर्तों को कबूल करता गया, जो गणों, क्षत्रियों, वैश्यों के विद्रोह के विरुद्ध थे। तभी उसने कलि कहा था।

हम देख चुके हैं कि मगध का विशाल साम्राज्य उच्चवर्णों की फूट पर शूद्रों ने बनाया था (नन्द वंश)।

अब भारतीय इतिहास के पूर्व मध्यकाल में उसके कलि की भावना और भी फूट पड़ी थी। एक ओर क्षत्रिय और वैश्य पौरोहित्य था, दूसरी ओर विदेशी आक्रान्ता नये-नये समाजों के विश्वास लेकर आ गये थे। अपनी रक्षा के लिये ब्राह्मण ने उन सब को स्वीकार तो कर लिया परन्तु समाज का नियमन वह पहले से भिन्न रूप से करना चाहता था। अपनी रक्षा के लिये उसने इस युग में, शुंग और काण्वायन बनकर शस्त्र तक फिर से उठाये थे जो उपनिषद् काल में नीचे धर दिये थे। इस युग में उसने कलि वर्ज्य कह कर कई पुरानी बातों को छोड़ दिया। याद रखना चाहिये कि इस युग के अन्त में उत्तर में विभिन्न नई जातियों ने अधिकार कर लिया था। दक्षिण का व्यापार दूसरे ही हाथों में समुद्र में चला गया था। वे सब विभिन्न धर्मी थे। अतः व्यापार हाथ से निकल जाने पर ब्राह्मण ने समुद्र यात्रा, लंबी यात्रा भी

त्याग देने की आज्ञा दी थी। ब्राह्मण ने यदि इस युग से पहले अंतर्भुक्ति के बल पर अपने को जीवित रखा था, तो इस युग में राष्ट्रीयता के नाम पर, विदेशी आक्रांताओं से युद्ध करने के नाम पर वह बचा रहा था। परन्तु इस युग के बाद जब आक्रांता नहीं रहे, तब निम्न जातियां सिर उठाने लगीं। उस समय के लिए ही उसने समाज में कलिवर्ज्य कह कर कठोर नियम अपनी रक्षार्थ बनाये।

जब हम कहते हैं कि इतिहास में ब्राह्मण के हाथ से प्रगति हुई और बौद्ध वह नहीं कर सके तो हमारा तात्पर्य्य यह नहीं समझ लेना चाहिये कि समाज में शोषण नहीं रहा। वह तो आज तक तक है, हाँ शोषण के रूप बदल गये। पहले की तुलना में वह कम हो गया। यदि हम आज की अवस्था से उस युग की तुलना करेंगे तब तो हमें लगेगा कि तब कुछ भी नहीं हुआ। परन्तु इतिहास में हमें एक युग की प्रगति के जाँचने को, उसके पहले का युग देखना होगा, न कि आज के युग से उसकी तुलना की जा सकेगी। इसी दृष्टिकोण से समाज आगे बढ़ता हुआ दिखाई देता है।

लोगों को यह भ्रम होता है कि बौद्ध ही वज्रयानी और सहजयानी बने, और जैन ही ब्राह्मण विरोधी थे, तो क्यों न इन्हें वर्णाश्रम विरोधी माना जाये, क्योंकि चातुर्वर्ण्य तो प्रतिक्रियावादी था। यह सोचना भूल है कि चातुर्वर्ण्य सदैव ही बुरा था। बुद्ध ने केवल ब्राह्मण का विरोध किया था। यह विरोध उनके व्यवहार में भी था। बाकी विरोध जो अन्य जातियों के विभेदीकरण के प्रति बुद्ध में प्रगट होता है वह व्यवहार का नहीं, चिन्तन मात्र का था। यहाँ असली वर्ण विरोधी का पता बताने के पूर्व यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि वर्ण व्यवस्था ने रूप बदला था। महाभारत तक ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र एक आर्य्य समूह थे। पहले तीन आर्य्य थे, बाकी पराजित और वर्णसंकर आर्य्येतर या आर्य्य-अनार्य्य थे। परन्तु बुद्ध के समय में समस्त नाग आदि विभिन्न जातियां भी वर्ण व्यवस्था में अंतर्भुक्त हो चुकी थीं। अतः समाज का

यह नया रूप था, जिसे इतिहासज्ञ नहीं समझते। अब यहां वर्णाश्रम के मूल विरोधी शैवों का उल्लेख आवश्यक है। जहां कि बौद्ध और जैन संप्रदाय आर्य्यों के उच्च वर्णों के पारस्परिक संघर्ष की सत्ता के लिये होड़ की, कहानी है, शैव संप्रदायों का विद्रोह मूल रूप से रहा है। ब्राह्मण वर्ण सदा से ही शैवों से अंतर्भुक्ति करता चला आया है, और जो ब्राह्मण के साथ जातियां मिलती गई हैं वे चातुर्वर्ण्य को स्वीकार करती गई हैं, परन्तु वे अवैदिक शैव जिन्होंने कभी भी ब्राह्मण वर्ण के सामने सिर नहीं झुकाया वे अपना संघर्ष निरन्तर चलाते ही रहे। उनका उदय सदैव ऐसी उथल-पुथल के समय होता था जब देश में शान्ति हो अर्थात् कोई आक्रांता विशेष नहीं हो। आक्रांता के समय ब्राह्मण आगे आता था क्योंकि उसका दृष्टिकोण एक तो राष्ट्रीय था, दूसरे क्षत्रिय से वह ही संबंध स्थापित करने में समर्थ था, जिससे दोनों मिलकर बाहरी शत्रु से लड़ते थे। परन्तु जब ऐसी अवस्था नहीं रहती थी तब अवैदिक शैव संप्रदाय उठ खड़े होते थे।

इस युग के अन्त में वे भी उठे और ब्राह्मण को उनके भय से समाज को और भी कठिन बंधनों में बांधना पड़ा। इस समय तक अर्थात् ३०० ई० पू० से ६०० ई० तक, याने ९०० बरस में सामन्तवाद अब जर्जर हो चला था। वह अब स्वयं बोझ हो गया था। व्यापार के जो रूप उसके हाथ में थे, वे अब विदेशियों के हाथ में चले गये थे। भारत अब फिर खेती और स्थानीय कारीगरी पर ही जीवित रह गया था। कलिवर्ज्य इसलिये भी अधिक आवश्यक थे।

इस कलिवर्ण्य भावना ने समाज की गतिशीलता को छीन लिया। ब्राह्मणकृत जातिव्यवस्था के इन बंधनों, छूआछूत, और खानपान को तुरंत शूद्रों ने स्वीकार नहीं किया। उन्होंने ऐसा काफ़ी दिन बाद किया जब इस्लाम आया था। इसे हम यहां नहीं देखेंगे।

ब्राह्मणवाद भले ही इतिहास के हाथ में खेलता रहा हो, किंतु

उसने बर्बर दास प्रथा वाले समाज पर सामंतीय विजय के प्रगतिशील रूप को स्वयं नहीं पहँचाना था, क्योंकि उसने अपने वर्ण या वर्ग स्वार्थ को ही समझने की दृष्टि पाई थी। समाज की व्यवस्था के रूप को समझने में असमर्थता का ही नाम दैव था। उसे अपने प्राचीन अधिकार ही याद थे और हृदय अतीत को अधिक से अधिक सुनहला समझ कर उसी में रमता था। पूंजीवाद का उदय जिस प्रकार ब्राह्मणवाद पर जबर्दस्त प्रहार था और ब्राह्मणों में दयानन्द के रूप में जैसे उसके अनुसार अपना रूप बदला था, परन्तु अपने उस स्वरूप परिवर्त्तन को उसने अपने अधिकारों का सर्वनाश समझा था, वैसे ही सामंतकाल के प्रारंभ में भी हुआ साम्यवाद का वह इसी से विरोधी है कि उसमें उसके समस्त अधिकार निर्मूल नष्ट हो जायेंगे, जो मनुष्य को मनुष्य से अलग रखते हैं। आत्मा की समानता की भावना सामन्तीय उदय के समय की नयी भावना थी जिसे ब्राह्मण ने स्वीकार किया था। पूंजीवाद के उदय के समय उसने लोक व्यवहार की बहुत सी समानताओं को स्वीकार कर लिया और अब वह उसी के अनुरूप अपना विकास कर सका है।

यहां प्रगति और प्रतिक्रिया का यह द्वन्द्व स्पष्ट हो जाता है। धर्मशास्त्रों के नियम उसकी प्रति-क्रिया के प्रतीक बन कर दिन पर दिन रूढ़ि ग्रस्त होते गये। कलिवर्ज्य यह कहे गये +—

१—ज्येष्ठांश वर्जित हो गया।
२—देवर से नियोग।
३—औरस और दत्तक के अतिरिक्त सन्तान को गोद लेना।
४—विधवाओं का पुनर्विवाह।
५—अन्तर्जातीय विवाह।

+ धर्मशास्त्र का इतिहास (अंगरेजी) पी० वी० काणे, वॉ ३, पृ० ६३० से।

६—सगोत्र और सपिण्ड विवाह।

७—आततायी रूप में युद्धरत ब्राह्मण का वध वर्जित हो गया।

८—तीन दिन के भूखे ब्राह्मण को भी शूद्रान्न लेना।

९—समुद्र यात्री ब्राह्मण का प्रायश्चित कर लेने पर भी समाज में स्वीकार कर लेना। वायु पुराण के अनुसार भारतवर्ष में नौ द्वीप हैं। प्रत्येक समुद्र से एक दूसरे से अलग किया हुआ है। जम्बू द्वीप (भारत) नवां द्वीप है। अन्य आठ हैं— इन्द्र, कसेरु, ताम्रपर्णी, गभस्तिमत्, नाग, सौम्य, गंधर्व, वारुण (बोर्नियो ?)। पौराणिक भूगोल में भारतवर्ष में आधुनिक कहलाने वाला भारत और बृहत्तर भारत भी माना गया है। शूद्रों को समुद्र यात्रा करने में कोई बाधा नहीं है। परन्तु शूद्रों ने भी कालान्तर में इसे अपने लिये स्वीकार कर लिया। अपने को ऊँचा उठाने को शूद्र सदा उच्च-वर्णों के व्यवहारों की नकल करते रहे हैं। जैसे आज भी वे बढ़ई जो ब्राह्मण बनते हैं, जनेऊ पहन कर प्रसन्न होते हैं और ब्राह्मण से भी अधिक जनेऊ के प्रति भक्ति रखते हैं।

१०—लम्बे सत्र (यज्ञ) वर्जित हैं। प्रगट होता है कि वैदिक कर्मकाण्ड का विरोध बहुत हो गया था।

११—पानी का पात्र ले जाना। पहले लकड़ी या मिट्टी का पात्र पानी भर कर प्रत्येक स्नातक शौच के लिये लेकर जाता था, या किसी से उठवा कर ले जाता था, चाहे दूसरे के घर जाये, या ग्राम बाहर। यह प्रथा भी छूट गई।

१२—महायात्रा पर जाना निषिद्ध हो गया। यह यात्रा थी अन्त में मनुष्य को आत्महत्या करने का अधिकार—इतना चले कि गिर कर मर जाये। बुढ़ापे में ही प्रचलित थी। अब वर्जित हो गई।

१३—गोसव यज्ञ में गाय की बलि।

१४—सौत्रामणि में मदिरा पान

१५—अग्निहोत्रावणी में एक ही पात्र और चमस को सब ब्राह्मणों का बार-बार चाटना।

१६—वानप्रस्थाश्रम निषिद्ध।

१७—ब्राह्मणों के लिये मृत्यु प्रायश्चित वर्जित।

१८—वर, अतिथि, और पितरों के लिये वैदिक मन्त्रोच्चार करके पशुबलि। भवभूति ने उत्तर रामचरित् में स्वागत में कटे वत्स की बात लेकर ऋषियों का मज़ाक भी बनाया है।

१९—असमान वर्ण की स्त्री से संभोग करने वाले से संबंध रखने को वर्जित माना गया।

२०—निम्न जाति के व्यक्ति से संभोग करने वाली माता को छोड़ना ठीक बताया गया। याज्ञवल्क्य के अनुसार यदि ऐसी माता मासिक धर्म को प्राप्त हो जाये तो उसका पाप निकल जाता है। पर यदि वह गर्भवती हो जाये तो यह त्याज्य है। ऐसी स्त्री फिर उच्च-वर्ग के संभोग के योग्य नहीं रह जाती। इस विषय पर विभिन्न मत हैं।

२१—गो, ब्राह्मण, आबाल स्त्री वृद्ध के लिये वह आत्म बलिदान निषिद्ध है, जो स्वर्ग की आशा में किया जाता है।

२२—झूंठन खाना। पहले मधुपर्क में झूंठन खाना चलता था। अब रुक गया।

२३—ब्राह्मणों द्वारा सोम विक्रय।

२४—अत्यन्त दूरस्थित पवित्र तीर्थ स्थानों की यात्रा।

२५—कलि में ब्राह्मणों को निर्धन रहने का नियम आवश्यक नहीं है। अर्थात् वे धन भी जोड़ सकते हैं।

यह राज व्यवस्था पर प्रकाश डालता है, जो पहले की भांति ब्राह्मण का पालन आवश्यक नहीं समझती थी।

२६—ब्राह्मणों का निरंतर यात्रा करना निषिद्ध।

२७—बलात्कार से पतिता स्त्रियों से संबंध वर्जित है, चाहे स्त्री का अपराध हो या नहीं। किंतु यदि वह रजस्वला हो जाये तो कोई बात नहीं। ऐसी स्त्री प्रायश्चित से भी पवित्र हो सकती है।

बाद के रूप में प्रायश्चित्त इत्यादि कुछ भी उसे पवित्र नहीं कर सकता।

२८—ब्राह्मणादि के घर में शूद्र रसोइया रखना वर्जित है। यदि शूद्र पर कोई त्रिवर्ण का आदमी देख रेख करने को हो तो आर्य्य के घर वह रसोइया भी रखा जा सकता है, यदि वह जब बाल छुए तो आचमन करे, नाखून काटे इत्यादि। पर बाद में यह सब वर्जित है।

२९—अग्निहोत्र वर्जित है।

३०—सन्यास वर्जित है।

३१—अश्वमेध, राजसूय, निरन्तर स्नातक रहना, बहुत दिन तक ब्रह्मचर्य्य वर्जित है।

३२—पशुबलि निषिद्ध है।

३३—मद्यपान निषिद्ध है।

यह कलि वर्ज्यों की सूची ११ वीं शती में संभवतः पूर्ण हो गई थी। इसका प्रारम्भ छठी शती के लगभग हुआ होगा या उससे भी पहले से ही आरम्भ होगया होगा। यह समय मुसलमानों के आने के पहले का है। भीतरी झगड़ों, निम्न जातियों के संघर्षों से कलि-वर्ज्य बने हैं। यह मध्यकाल के संधिकाल (६०० ई० ११०० ई०) में दृढ़ हुए हैं। इस्लाम के आने के पहले ही भारत रूढ़िबद्ध हो गया था। किंतु ब्राह्मणवाद का यही एक रूप नहीं था। दक्षिण में जो भागवत संप्रदाय उठ खड़ा हुआ था जिसने भक्ति का स्वर गुंजाया था उसका मूल इसी युग में है। यह ब्राह्मणवाद का वह रूप है जो सामंतीय व्यवस्था में बदलती परिस्थितियों के अनुसार फिर अपना रूप बदल रहा था।

इतिहास राजवंशों में ही समाप्त नहीं हो जाता। यह सब भी इतिहास ही है।

बुद्ध के समकालीन युग में विभिन्न जातियां भारत में उपस्थित

थीं। विभिन्न जातियों की उत्पत्ति का कारण वर्णों का पारस्परिक विवाह माना जाता है।

वर्ण और जाति वस्तुतः इसी समय एक मान ली गईं। पहले वर्ण के अनुसार समाज के मोटे विभेद हुए। फिर कर्मानुसार (पेशे के मुताबिक) भेद बढ़ा। अंतर्जातीय विवाह हुए। और विभिन्न जातियों (races) की अंतर्भुक्ति से बने भेद जाति (Caste) के के रूप में समाज में प्रगट हो गये। मूर्धावसिक्त, अम्बष्ठ, निषाद, माहिष्य, उग्र, और करण जो पहले वर्णसंकर थे, उनका अलग पता नहीं चलता। वे सब विभिन्न जातियों के रूप में परिवर्त्तित हो गये हैं। ×कौटिल्य के अनुसार सिवाय चाण्डाल के सब प्रतिलोम शूद्र हैं (३. ७.) विष्णु के अनुसार वे आर्य्यों द्वारा निंद्य समझे जाते हैं। देवता के मतानुसार प्रतिलोम वर्णों के बाहर हैं। स्मृत्यार्थ सार पृ० १३ के अनुसार अनुलोम पुत्र और मूर्धावसिक्त से उत्पन्न संतान द्विजाति ही है। गौतम (४. २०) सब प्रतिलोमों को धर्म हीन मानता है।

कृष्ण वर्ण नामक भी शूद्र होते थे। उनकी स्त्रियां कृष्ण जातीया या कृष्णवर्णा कहलाती थीं। मेधातिथि मनु (पृ० ३१) पर लिखते हुए कहता है कि चातुवर्ण्य के साथ ६० जातियां हैं, और जाने कितनी उपजातियां हैं। विश्वरूप एक ही उपजाति के नामों के विभेद उनके भिन्न स्थानों में रहने के कारण मानता है।

यह स्पष्ट करता है कि विभिन्न स्थानों में एक सा ही वर्गीकरण चल पड़ा था। यह अंतर्भुक्ति को स्पष्ट करता है।

शूद्र यदि सेवा से पेट पालने में असमर्थ हो तो वह बढ़ई हो सकता था, चित्रकार बन सकता था। संकट में वह क्षत्रिय और वैश्य कर्म कर सकता था। शूद्र की स्थिति में उन्नति हुई थी। शूद्रों में अनेक उपजातियाँ थीं। बढ़ई, लुहार आदि अनिर्वासित शूद्र थे।

× वही पृ० ५३ वाँ

चांडाल आदि निर्वासित शूद्र कहलाते थे।+शूद्रों का दूसरा विभेद था, भोज्यान्न और अभोज्यान्न। पहले से ब्राह्मण खा सकता था, दूसरे से नहीं।

किन्तु यह उत्तर भारत में रहा, दक्षिण की परिस्थिति में भेद होने के कारण वहां सब शूद्र अभोज्यान्न रहे। शूद्रों से जितनी अंत-भुक्ति उत्तर भारत में हुई उतनी दक्षिण में नहीं हुई। भोज्यान्न में यह माने गये—

१—स्वदास
२—गोपाल
३—नाई
४—परिवार मित्र
५—खेती का हिस्सेदार— काम करने वाला।
६—कहीं-कहीं कुम्हार भी गिनाया गया है।

शूद्रों का एक और वर्गीकरण था— सत् शूद्र, और असत् शूद्र।

मनु ने ब्राह्मणों को भी कलि में शस्त्र उठाकर अपनी रक्षा करने की आज्ञा दी है।∴ ब्राह्मण को खेती वर्जित थी। पर अब उसमें भी ढील पड़ने लगी।

किन्तु पुराणों ने और धर्म शास्त्रों ने ब्राह्मण को पृथ्वी का देवता बनाकर उनकी स्थिति को, उनके सामाजिक स्थान को बहुत ऊँचा उठाने की चेष्टा की है। जितना उसका विरोध होता था, उतना ही वह अपनी स्थिति के लिये लड़ता था। शूद्र को वेदाधिकार नहीं था, परन्तु इतिहास, पुराण सुनने का था। यह भागवत संप्रदाय की सहिष्णुता थी। शूद्र पूर्त्त धर्म का अधिकारी था। अर्थात् कुआँ इत्यादि बनवाने का। शूद्र के हाथ से ब्राह्मण का खाना नहीं खाना भी एक दम नहीं छूटा। वह धीरे-धीरे ही बन्द हुआ था। किन्तु शूद्र

+ भाग १ वही पृ० १२१

∴ वही पृ० १२५

का सम्मान पहले से बढ़ गया था। पहले वह जब चाहे मारा जा सकता था। अब उसे मारने पर १ साल का ब्रह्मचर्य्य रखना पड़ता था, १० गायें और एक बैल दान देना पड़ता है। (मनु ६६) यह शूद्र के बढ़ते अधिकार थे।

कौटिल्य (अर्थशास्त्र ६, २) के समय में शूद्रों की सेना रखी जाती थी। आयुध का अधिकार मिला था। वह खान पान में स्वतन्त्र था।

पहले छुआछूत इतनी नहीं थी। अपरार्क ने हारीत का उद्धरण दिया है—❀ कि, द्विजाति के अंग यदि (सिर नहीं) रंगरेज, नर्त्तक, जूते गांठने वाले, शिकारी, मछेरे, धोबी, कसाई, नट, अभिनेता जाति, तेली, फांसी देने वाले, कलार, ग्रामश्वान या मुर्गे से छू जायें तो नहाने की आवश्यकता नहीं, आचमन से ही पवित्रता प्राप्त हो जाती है। सात अंत्यजों का उल्लेख है, पर आचमन से ही काम चल जाता है। विष्णु मन्दिर में मिलने वाले चाण्डाल और पुक्कस का स्पर्श भी अपवित्र नहीं करता।

इसका अर्थ है कि विष्णु मन्दिर में सब जा सकते थे। बाण की कादम्बरी में चाण्डाल कन्या राजसभा में आ जाती है। प्रचलित रहा होगा। बाद में यह छुआछूत बढ़ी है। अत्रि के अनुसार × धार्मिक जुलूस, शादी, यज्ञ, उत्सव और मंदिर में कोई छुआछूत नहीं है। वृहस्पति का मत भी यही है। स्मृत्यार्थसार के अनुसार अछूत मन्दिर में जा सकते हैं। बड़े तालाब से सब जातियां पानी लेकर पी सकती हैं, कोई रुकावट नहीं है। चाण्डाल सब धर्मों के बाहर था किंतु विष्णु की पूजा कर सकता था। अंत्यज भी देवी की और भैरव की पूजा कर सकते थे।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि अछूत जातियों का रूढ़ि-

❀ वही पृ० १७१

× वही पृ० १७५-१७६

बद्ध होना भारतीय मध्यकाल के पूर्वभाग में प्रारम्भ अवश्य हुआ था किन्तु इन नियमों का कठोर हो जाना संधियुग की बात थी। इस संधियुग में हिन्दी साहित्य प्रारम्भ होता है। हिंदी साहित्य का प्रारंभ ही विद्रोह के स्वर में हुआ है। जैन और वज्रयान के परवर्त्ती लोग तथा ब्राह्मणानुयायी नये राजपुत्र जो राजपूताने में बसे थे, तथा अवैदिक शैवसंप्रदायानुयायी ही हिन्दी के आदिकाल के लेखक हैं। ब्राह्मणवाद पूर्णतया उसमें नहीं उतरा है तभी पहले रूप में हिन्दी तद्भव प्रधान है। जब वह उतरा है तो भाषा तत्सम प्रधान होती चली गई है। ब्राह्मणवाद की नये रूपों में जब तुलसी के समय पूर्ण प्रतिष्ठा हुई है तब विभिन्न बोलियों में उसने तत्सम् प्रधानता को भरने का प्रयास किया है जो पहले इतनी जागरूकता से तत्सम प्रधान नहीं थीं।

इस्लाम को यह भारत मिला था, जहां उच्च और निम्न वर्गों में पारस्परिक संघर्ष चल रहा था।

भारतीय मध्ययुग के पूर्वकाल के विषय में जो कुछ बातें कहनी रह गई हैं उन्हें हम यहां प्रस्तुत करते हैं।

भारतीय मध्ययुग का पूर्वकाल अपने आरंभ और अन्त में काफी भेद रखता है और यह बिल्कुल स्वाभाविक है।

यूनानी विदेशियों का ब्राह्मणों ने बड़ा विरोध किया था और जनता को उनसे युद्ध करने को उकसाते थे ÷ यूनानी जब आये थे तब यहाँ नागरिक सभ्यता थी।

क्षत्रियों का बौद्ध संप्रदाय में बड़ा स्थान था। तित्तिर जातक में

÷ एरियन ५। २१, २५

मैक्क्रिंडल-अलैक्जन्डर्स इन्वेजन आफ़ इण्डिया पृ० ११३-१२४

,, इण्डिया एज़ डिस्क्राइब्ड इन क्लैसिकल लिटरेचर पृ० १०८, १५१।

डायोडोरस- १७। ६१

जब भिक्खुओं ने बुद्ध से पूछा कि सब से अच्छे स्थान, पानी, और भोजन का अधिकारी कौन है तो कुछ भिक्खुओं ने कहा—जो भिक्षु होने के पहले क्षत्रिय था उसे ही।

यद्यपि बुद्ध ने इसका विरोध किया किन्तु वह अधिक प्रभावित नहीं कर सका। बौद्ध साहित्य में वर्णों की गिनती में सदा क्षत्रियों का नाम ही पहिले आया है, उसके बाद ब्राह्मणों का। उनकी राय में ब्राह्मण से क्षत्रिय ऊँचे हैं। दीघनिकाय ३। १ २४ ॥ २६ ॥ तथा निदान कथा १। ४६ ॥ में स्पष्ट कहा है कि क्षत्रियों का पद ब्राह्मण से ऊँचा है। ललित विस्तार (३) में कहा है कि बोधिस्वत्व सदा ऊँचे कुल में जन्म लेता है। वह हीन कुल जैसे रथकार, चंडाल, पुक्कस, आदि के यहाँ जन्म नहीं लेता। जब ब्राह्मणों का विशेष आदर होता है तब वह ब्राह्मण शरीर धारण करता है, जब क्षत्रियों का विशेष आदर होता है तब वह क्षत्रिय शरीर धारण करता है। जैन ग्रन्थों में भद्रबाहु स्वामी के कल्पसूत्र में ब्राह्मण नीच कुल हैं। तीर्थङ्कर कभी ब्राह्मण कुल में जन्म नहीं लेते। २४ वां तीर्थङ्कर महावीर क्षत्रिय था। जैनों के वसुदेव, बलदेव भी ब्राह्मण नहीं है। महावीर स्वामी एक ब्राह्मणी के गर्भ में आ गया। इन्द्र घबरा गया। कभी किसी शलाका पुरुष ने ब्राह्मण कुल में जन्म नहीं लिया था। २४ वाँ तीर्थङ्कर क्षत्रिय न होकर ब्राह्मण हो, यह कैसे हो सकता था? अतएव इन्द्र ने महावीर को ब्राह्मणी के गर्भ से क्षत्रिया त्रिशला के गर्भ में पहुँचा दिया। सम्भव जातक ५। २७॥ जुण्ह जातक ४। ९६॥ जातक १। ४२५॥ ४। ४८४॥ में बौद्धों ने ब्राह्मणों को ही चुना है जब किसी मूर्ख या पाजी का वर्णन करने की जरूरत पड़ गई है। बौद्ध ग्रंथ तेविज्जयसुत्त के अनुसार ब्राह्मण बड़े आलसी, स्वार्थी, घमण्डी, द्वेषी और कामी होते हैं। (हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता, बेनीप्रसाद)।

इससे साफ हो जाता है कि जैन और बौद्ध पौरोहित्य ब्राह्मण

पौरोहित्य की टक्कर पर उठे थे। वर्ण व्यवस्था को दोनों ने नहीं छुआ, बस क्षत्रिय लोग पौरोहित्य को तो लेना चाहते थे।

इस प्रारंभिककाल में ब्राह्मण भी छुआछूत नहीं मानते थे। यह परिवर्त्तन प्रायः समस्त संप्रदायों में एक साथ आया था।

गणों में खान पान की छूत ज्यादा थी। जब कि ब्राह्मण राज्यतन्त्रों में शूद्रों के हाथ से खाते थे, गणों के क्षत्रिय नहीं खाते थे। पसेनदि ने जब अपने लिये शाक्य कन्या मांगी थी, (जो विडूडभ की माता बनी) तो उन शाक्यों ने आपस में सभा की। कहा कि यह कैसे हो सकता है कि अपनी कुलीन कन्या बाहर दे दें ? तब महानाम ने कहा कि मेरी एक वासभखत्तिया नामक बड़ी सुन्दर दासी पुत्री है। उसी को ब्याह देंगे। चुनांचे पसेनदि के आदमी आये। क्षत्रिय महानाम ने लड़की पेश की और जब सब खाने बैठे तो बड़ी चतुराई से लड़की के उस भोजन को छूने के पहले ही, एक कौर खा लिया और फिर उसके साथ न खाया, यद्यपि वह उसी की लड़की थी, परन्तु दासी पुत्री जो थी। बुद्ध की समकालीन कथा है। बुद्ध इन्हीं कुलीन क्षत्रियों में उठते-बैठते थे और संभवतः इन्हीं की इस कुल जड़ता का उन्होंने दबी जबान से विरोध भी किया था। स्पष्ट हो जाता है कि क्षत्रियों की वास्तविक स्थिति क्या थी। जातक (४ । ३१६–२०) में सवाल उठा है, क्षत्रिय की वह संतान जो नीच वर्ण से जन्मी है वह क्षत्रिय मानी जाय या नहीं ? पितृ सत्ताक व्यवस्था के अनुसार तो है, परन्तु व्यवहार के लिये महानाम की कथा देखनी चाहिये। दीघनिकाय ३ अम्बसुत्त में जाति से निकाले हुए क्षत्रिय भी इतने ऊँचे बताए गये हैं कि वे भी ब्राह्मण कन्या से विवाह करने योग्य हैं। बुद्ध घोष (धम्मपद टीका १४।१।।) के अनुसार एक ब्राह्मण गौतम बुद्ध से अपनी लड़की ब्याह देना चाहता था।

इस समय जब कि भारत में षडदर्शनों का पूर्ण विकास हुआ था। ब्राह्मण समाज के अनेक मतस्थिर हुए थे। इसमें ईश्वर क

मानने वाले भी थे और न मानने वाले भी थे। वैशेषिक और पूर्वमीमांसा में ईश्वर को स्थान नहीं था। सांख्य, वेदांत, योग में ईश्वर का स्थान था। आस्तिक का अर्थ था, वेद में विश्वास करना। यहाँ हम दार्शनिक रूपों पर विवेचन नहीं करेंगे। यहाँ हम राजनैतिक रूपों को ही देखेंगे।

सर्बांकिर जातक में क्षत्रिय ब्राह्मण तथा अन्य लोग मिल कर एक राजा को निकाल कर एक ब्राह्मण का राज्याभिषेक करते हैं। (३। ५१३।।) ब्राह्मण भूस्वामी थे, सौदागर थे (१। ३२६।। तथा ३। २६२ ।। ४ । २७६ ।।) ब्राह्मण मछुए थे, तीरंदाज भी थे। खेती करते थे। (२ । २०० ।। ५ । १२७ ।। २ । १६५ ।।) बौद्धों के अनुसार क्षत्रिय राजा ब्राह्मण पुरोहित के पुत्र को नीच कहता है। (जातक ५ ।। २५७ ।।)

सन्यास और संसार त्याग का पथ सामंतीय ब्राह्मण छोड़ रहा था किन्तु बौद्ध और जैन उसे अपना रहे थे। हमने देखा है कि वानप्रस्थ और सन्यास दोनों को ही धर्मशास्त्रों में त्यागने की सलाह या आज्ञा दी गई है। वानप्रस्थ और अन्य आश्रमों में बौद्ध और जैन सन्यासियों ने काफी गड़बड़ डालदी थी।

स्त्री की निंदा का मूल आर्येतर जातियों के चिंतन में है परंतु वह बौद्धों और जैनों ने बहुत बढ़ायी। शतपथ ब्राह्मण ५, २, १, १० में स्त्री को पुरुष का आधा माना गया है। वह मनुष्य ही पूर्ण नहीं है जिसका विवाह नहीं हुआ है। विवाह से ही वह स्वर्ग जाने का अधिकारी होता है।

महाभारत में योग संप्रदाय के प्रभाव से स्त्री निंदा प्रारंभ होती है। किन्तु जैनों और बौद्धों में वह अति को पहुँच जाती है। सामंतीय व्यवस्था स्त्री को नये अधिकार देती है। पातिव्रत तो आवश्यक है, परन्तु उसका समाज में गौरव बढ़ता है। उसके साथ हुए अन्याय के ही लिये तो परवर्त्ती कालिदास महाभारत की शकुन्तला से अपनी शकुन्तला का यह भेद प्रस्तुत करता है कि पहली राज्य

के लिये दुष्यन्त से ब्याह करती है, दूसरी प्रेम के लिये। कालिदास की सामंतीय स्त्री शकुन्तला अपने लिये 'अबला' शब्द नहीं सुनना चाहती। भवभूति की करुणा शताब्दियों से सीता के अधिकारों के लिये पुकार रही है। स्वयं वाल्मीकि की सीता कण्टकाकीर्ण मार्ग पर चलने के लिये दुर्दमनीय चरणों को उठाती है और साहस की प्रतिमा बनकर खड़ी होती है। ब्राह्मण साहित्य में ही स्त्रियों का जो भी गौरव है वह प्राप्त होता है, बाकी साहित्यों में स्त्री को 'योनि' ही समझा गया है, यह भी इन संम्प्रदायों की असामजिकता थी।

कालांतर में जब गोरख ने स्त्री का विरोध किया था तब वह 'योनिवाद' के अत्यंत प्रचलित स्वरूप के विरुद्ध विद्रोह था, अतः उसकी तुलना इन लोगों से नहीं की जा सकती। स्वयं बुद्ध स्त्रियों को भिक्षुणी बनाने को उद्यत नहीं थे। आनंद के कहने से ही तैयार हुए थे। कहा जाता है कि जब भिक्षुणियाँ संघ में आने लगीं तब बुद्ध ने कहा था—अब भिक्षुसंघ की आयु पहले से कम हो गई है।

उस समय नागों का बसाया (संभवतः) तक्षशिला था जहाँ विश्वविद्यालय था। वहाँ ब्राह्मण, बौद्ध और जैन सब पढ़ते थे। वहाँ शुल्क देकर पढ़ने वाले 'आचरिय भाग' देने वाले और धम्मन्तेवासिक (मुफ्त पढ़ने वाले) होते थे।

उद्योग और व्यापार की बहुत उन्नति हो गई थी। सूती, रेशमी ऊनी, कपड़े, जूते, छाते, सुगंधियाँ, सोना चाँदी मणियों के आभूषण तरह-तरह के तेल, गाड़ी, रथ, तीर, कमान, तलवार इत्यादि खूब बनते थे। अनाज फल, फूल, वनस्पति, मांस मदिरा का खूब व्यापार होता था। नदियों और सड़कों से व्यापार बढ़ रहा था। तक्षशिला होकर एक मार्ग मध्य और पश्चिम एशिया को जाता था। दक्षिण के बन्दगाह पूर्व में बर्मा, स्याम, और चीन से और पश्चिम में मिस्र और पश्चिम एशिया से व्यापार करते थे।

ईसा से ४०० ई० पू० के लगभग एक भारतीय जहाज तूफान में जर्मनी और इङ्गलैंड के बीच व्यापार करते समय फँस गया था। (हिंदुस्तान की पुरानी सभ्यता, पृ० ८८५)

शासन क्षत्रियों के हाथ में था। जनता अत्याचारी राजा को पलटने की ताकत रखती थी। दक्षिण में मलयागिर के कवि तिरू, वल्लुवर ने अपना मुप्पाल या कुरल रचा को बहुत मान्य हुआ। वह ग्रंथ अपने राज प्रबन्ध में कौटिल्य से बहुत मिलता है। (वही पृ० ३३२) इससे प्रगट होता है कि दक्षिण में भी यह व्यवस्था उसी समय पहुँच चुकी थी। दक्षिण के आलवार आन्दोलन ने, भागवत संप्रदाय के पुनरुज्जीवन ने, ब्राह्मणवाद के पुनरुत्थान से बने हिंदी साहित्य पर सीधा प्रभाव डाला है। दक्षिण का व्यापार से गहरा संबंध था। पहली ईसवी शताब्दी में अफ्रीका के किनारे एक टापू में भारतियों ने अपना उपनिवेश बसाया था। पश्चिमी देशों में हिंद के मसाले, गंध, सूती कपड़े, रेशम, मलमल, हाथी-दाँत, कछुए की पीठ, मिट्टी के बर्त्तन, मोती, हीरा, जवाहिर, चमड़ा, दवा वगैहरा जाते थे।

चोल प्रदेश में कावेरी पटनम् तोंडी और पुहार बड़े केन्द्र थे। बंगाल की खड़ी के बंदरगाहों में चीन और पूर्वीद्वीप समूह से व्यापार होता था।

रस संप्रदाय का भरत से उदय माना जाता है। भरत ईसा से पुराना है। रस संप्रदाय साधारणीकरण पर निर्भर है। यह साधारणीकरण कला और साहित्य को जनता के पास ले आता है। यह सामंतीय समाज के प्रारंभ के विकास का परिणाम था। किन्तु जब सामंतीय व्यवस्था ह्रासकालीन हो गई, तब कला भी दरबारी होती चली गई। और रस संप्रदाय के विरोधी तत्त्व उठ खड़े होने लगे। इसी युग में यह कार्य हुआ। अलंकारादि, ध्वनि-शास्त्र, इसी युग में प्रारंभ हो गये। सामंतीय युग के उत्तर काल में

जगन्नाथ तक तो यह जटिलता पूर्ण हो चुकी थी। दण्डी के समय से ही साहित्य को जनता से दूर करने का यत्न किया जाने लगा साहित्य को उच्च वर्गों ने ज्यों-ज्यों जटिल किया, त्यों-त्यों जनता की भाषा, हिंदी का आदि रूप आगे बढ़ता गया और उसमें साहित्य बनने लगा और बढ़ता गया। हिंदी के विकास को जानने के लिये, संस्कृत साहित्य के इन दरबारी स्कूलों को जानना आवश्यक है, क्योंकि इन्हीं के विरुद्ध वस्तुतः हिंदी का विकास हुआ है। कालांतर में अवश्य यह दरबारी साहित्य हिन्दी पर भी छागया है और सफलता से अपना प्रभुत्व जमा सका है।

विदेशियों के आक्रमण से बचाने वाला सामंत ही होता था। उसकी आवश्यकता इसीलिये थी। इसलिये उसे धीरे-धीरे देवत्व दिया गया है। अधिकांश स्मृतियों और पुराणों में केवल राजा और देवताओं के कार्यों की समता का ही उल्लेख और वर्णन किया गया है। महाभारत (१२, ६७, ४०) नारद स्मति (१७, २६) शुक्र नीति (पृष्ठ ७३) और मत्स्य (अ० २२, ६) मार्कण्डेय (२७, २१०) अग्नि (२२५, १६) पद्म (सृष्टि ३०, ४५) और बृहद्धर्म (उत्तरखंड ३, ८) पुराणों में बताया गया है कि राजा अपने तेज से दुष्टों को भस्म कर देता है अतः वह अग्नि के समान है, वह अपने चरों द्वारा सब कुछ देख लेता है अतः सूर्य के तुल्य है, वह अपराधियों को उचित दण्ड देता हैं अतः यम के समान है, और योग्य व्यक्तियों को प्रचुर पुरस्कार देता है अतः वह कुबेर के तुल्य है। अस्तु; अधिकाँश ग्रन्थ कार राजा और देवताओं के विभिन्न कार्यों की समता पर ही जोर देते हैं। वे अनेक बार राजा के कार्यों की देवताओं के कार्यों से तुलना करते हैं पर यह नहीं कहते कि राजा स्वयं देवता है। इस प्रकार हिन्दू ग्रन्थकारों ने राजपद को दैवी बताया है, न कि किसी राजव्यक्ति को। (प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, अल्तेकर, संवत् २००४, प्रयाग, पृ० ५८, ५६)

हम ऊपर कह आये हैं कि सेठ समूह के लिये जैन संप्रदाय अधिक हितकर हुआ था। बौद्ध संप्रदाय में क्षत्रियस्वार्थ ही अधिक था। जैन संप्रदायानुयायी सेठों ने ही दास प्रथा को ढीला कर दिया था। जैनों ने सामंतीय ढाँचे को बहुत जल्दी अपनाया था जिसमें राजा का शासन हो, क्योंकि गणों के पारस्परिक रक्तगर्व और युद्धों से व्यापार को हानि होती है। आचारंग सूत्र (२, ३, १, १०१) कहता है—

अरायणि वा गणरायणि वा जुवरायणि वा,
दोरज्जणि वा वेरज्जणि वा विरुद्धरज्जणि वा।

अर्थात् जैन साधु ऐसे देश में न जायें जहाँ राजा न हो, या जहाँ युवराज का राज्य हो, या जहाँ द्वैराज्य हों, या जहाँ गण-राज्य हो।

प्रस्तुत उद्धारण अल्तेकर के पृ० ६८ से हमने लिया है। यह हमारे तथ्य को बिल्कुल ही साफ कर देता है और सामंतीय व्यवस्था से जैनों की इस अनुकूलता में ही उनके भारत में जीवित रहने का रहस्य भी प्रगट हो जाता है। क्षत्रिय पौरोहित्य अर्थात् बौद्ध चिन्तन को इसे स्वीकार करने में बड़ा कष्ट हुआ था। जब वे महायान बनकर बदले थे तब ही उन्होंने ब्राह्मण व्यवस्था की नकल प्रारंभ की थी।

यूनानी लेखकों ने लिखा है कि न्यासा के नगर राज्य में उच्च वर्ग तंत्र प्रचलित था।' (वही पृ० ६६)

वस्तुतः यह उच्च वर्गीय गण तंत्र थे, जिनमें जनता की शक्ति का प्रश्न ही नहीं उठता था। इनके चुनाव भी उच्च वर्ग ही करते थे। राज्य तंत्र में इसकी तुलना में अधिक स्वतंत्रता थी। जनता सीधे ही राज्य से संबंधित हुआ करती थी। यौधयों में शासन सूत्र ५००० व्यक्तियों की परिषद् के हाथ में था, जिनमें से प्रत्येक के लिये राज्य को एक हाथी देना जरूरी था। (वही पृ० ७१) अर्थात्

केवल धनी ही परिषद् के सदस्य हो सकते थे। जनसाधारण का राज्य के शासन में कोई हाथ नहीं था।' शाक्यों और कोलियों के राज्य में भी यही स्थिति थी। समस्त जनता के जीवन से घनिष्ट सम्बन्ध रखने वाले संधिविग्रह जैसे महत्वपूर्ण प्रश्न का निर्णय भी थोड़े से शाक्य और कोलिय राजाओं अर्थात् सरदारों के हाथ में था। साधारण किसान और मजदूरों का काम केवल अधिकारी वर्ग के निश्चय को मानना और पूरा करना था। (पृ० ७१, वही)

'वैशाली का लिच्छविगण था। उसमें शासन वर्ग में ७७०७ आदमी थे। पर वे सब क्षत्रिय थे। वे 'राजा' कहलाते थे। शबर स्पष्ट लिखा है कि 'क्षत्रिय' और 'राजा' पर्य्यायवाची शब्द हैं। उत्तरी पूर्वी भारत के प्रायः सभी गणराज्यों में शासन मण्डल के सभासदों को राजा की पदवी देने की प्रथा थी।' (वही पृ० ७२) मेगास्थनीज के समय तक इन गणों में भी दास प्रथा प्रायः समाप्त हो चुकी थी। उसके समाप्त होने का समय महाभारत युद्ध से बुद्धकाल तक है। चन्द्रगुप्त मौर्य तक दास उत्पादन के साधन नहीं, वरन् घरेलू दास के रूप में रह गये थे। इन गणों में रक्तगर्व के सहारे क्षत्रिय किसी प्रकार अपने को संभाले हुए थे।

'ऐतिहासिक काल में भारत के उत्तरी पश्चिमी और उत्तरी पूर्वी भूभागों में गणतंत्र राज्य कायम थे। पर दक्षिण में किसी गणतंत्र राज्य का पता नहीं चलता, यद्यपि उत्तर भारत की अपेक्षा वहाँ (दक्षिण में) स्थानीय शासन में जनता का हाथ कहीं अधिक था।' (वही पृ० ७४)

'वैदिककाल में नृपतंत्र ही सर्वत्र प्रचलित था। इस काल में आर्य नये-नये प्रदेश पदाक्रांत कर रहे थे, इसलिये उनको एकमुखी नेतृत्व की बड़ी आवश्यकता थी। मेगास्थनीज ने भी लिखा है कि ४ थी शताब्दी ई० पू० में भारत में एक परंपरा प्रचलित थी जिसके

अनुसार प्रजातंत्र का विकास राजतंत्र के बाद माना जाता था। पुराणों में बुद्ध के पूर्व की जो राजवंशावली हैं उनसे प्रगट होता है कि ६ ठी शताब्दी के मद्र, कुरू पांचाल, शिवि और विदेह गणतंत्र पहले नृपतन्त्र ही थे। (वही० पृ० ७३)

यह स्पष्ट कर देता है कि गणव्यवस्था क्षत्रियों की ब्राह्मणों के विरुद्ध उठती हुई प्रतिक्रिया थी।

५०० ई० पू० से ४०० ई० तक पंजाब और सिंध में गण रहे। समुद्रगुप्त ने इन्हें समाप्त ही कर दिया था। हमारा यह तात्पर्य नहीं कि गणराज्य वीर नहीं थे, परन्तु उनका नृपतंत्र का सा राष्ट्रीय दृष्टिकोण नहीं था। वे बर्बर व्यवस्था के प्रतीक थे और जातियों की अन्तर्भुक्ति के विरुद्ध थे। लिच्छवि आदि गणों में 'शासक वर्ग के अतिरिक्त साधारण प्रजा में कृषक, भृतक, दास, कारीगर आदि सम्मिलित थे जो बहुसंख्यक होने पर भी सत्ता हीन रहते थे (वही पृ० ७६) संभवतः ग्रामपंचायतों में सब को शासनाधिकार मिलता था। नृपतंत्रों में नगर परिषद् में साधारण वर्ग के व्यापारियों, कारीगरों और किसानों का भी प्रतिनिधित्व रहता होगा, ऐसा लगता है। परवर्त्ती यौधेयों में सेनापतिपद आनुवंशिक हो गया था (पृ० ८२ वही) यह नृपतन्त्र का प्रभाव है। यह चौथीसदी गुप्तकाल की बात है। बौद्ध ग्रंथों, अर्थशास्त्र और महाभात में गणतंत्रों में आपस का ईर्ष्याद्वेष और दलबंदी की प्रबलता ही उनकी सबसे बड़ी कमजोरी बताई गई है। बुद्ध और नारद जो गणतंत्र व्यवस्था के समर्थक थे इन्हें आपस के झगड़ों से बचने का उपदेश देते हैं और उसका उपाय भी बताते हैं। कौटिल्य इस व्यवस्था के विरोधी थे अतः उन्होंने बहुत से ऐसे अनुचित उपाय बताये हैं जिनसे गणतन्त्रों में फूट डाल कर उनका विनाश किया जा सके। (वही पृ० १३)

गणों का पारस्परिक और आंतरिक संघर्ष, बुद्ध का गण व्यव-

स्था का हामी होना, ब्राह्मणवाद का सामंतीय समाज के लिये गण को तोड़ना तथा गणों में जनता का अधिकारहीन होना, हम पहले ही बता चुके हैं। "गणतंत्रों की स्थापना या विकास में वंशैक्य की भावना का बड़ा हाथ था। इसके बिना गण राज्य नहीं बन पाता था। उनकी दृष्टि अपने निवास प्रदेश से परे न जाती थी।" (पृ० ८६ वही)

जब हम सामन्तीय उत्थान के साथ राष्ट्रीयता की बात करते हैं तो ध्यान रखना आवश्यक है कि उसके पीछे व्यापार की भी आवश्यकता थी। इन दोनों के मिलन से ही वह सामन्तीय उदय विदेशी आक्रांतों से लड़ कर अपनी प्रगति दिखा सका था। और जब तक व्यापार रहा तब तक सामंतीय शक्ति ने राष्ट्रीयता का ही प्रतिनिधित्व किया। किन्तु व्यापार के अभाव में मुस्लिम शासन के प्रारम्भ में आक्रमणों के समय सामन्तकाल वह राष्ट्रीय रूप नहीं निवाह सका क्योंकि उसके पीछे आर्थिक आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि अब सामन्तीय समाज ह्रासकालीन था, जाति प्रथा में बँध गया था और अन्दरूनी संघर्ष बढ़ गया था, निम्न जातियों से उच्च जातियां डर रही थीं, और पुराने युग में उल्टी बात थी क्योंकि सामन्तकाल ने उदय में पहले की दास प्रथा के बाद शूद्रों को पहले से कहीं अधिक अधिकार दिये। गण व्यवस्था में यह बात नहीं थी।

"विदेशी (यूनानी) आक्रमण के निवारण के लिए पंजाब, राजपूताना, और सिंध के ग राज्यों को मिलाकर एक विशाल उत्तर पश्चिमी राज्यसंघ बनाने की कल्पना उनके (गणों के) मन में न आसकी। कुलाभिमान, आपसी झगड़े और अत्यधिक स्वातंत्र्य प्रेम के कारण गणतन्त्रों में सुदृढ़ केन्द्रीय शासन का विकास भी न हो सका, क्योंकि इसके लिये विशेषाधिकारी वर्ग और स्थानीय संस्थाओं के बहुत से अधिकार केन्द्रीय सरकार को सौंपने पड़ते हैं।

(वही पृ० ८६) यहां हम अत्यधिक स्वतन्त्र्य प्रेम की जगह क्षत्रिय स्वार्थ कहना अधिक उचित समझते हैं। और एक बात और जोड़ देनी चाहिए। वह है जनता के बहुमत का अधिकारहीन होना, जो भी इसका कारण था। तथा व्यापार के लिये बढ़ते क्षेत्रों की व्यापक आवश्यकता में यह गण रुकावट डालते थे, यह क्षत्रिय शासक वैश्यों को सिर नहीं उठाने देते थे।

बीच बीच में यह क्षत्रिय सामन्तीय व्यवस्था की ढिलाइयों के समय सिर उठाते रहे, पर अन्ततोगत्वा आर्थिक परिवर्त्तनों ने, ब्राह्मणों और वैश्यों और शूद्रों की चोटों ने इन कुलगर्व के अड्डे, अंतर्भुक्तियों के विरोधी, क्षत्रिय गणों को नष्ट कर डाला।

'तीसरी शताब्दी में मालवगण राज्य की सत्ता पैतृक परम्परागत होकर ऐसे कुलों के हाथ में जा रही थी जो अपना उद्भव इक्ष्वाकु राजर्षियों से बताते थे। चौथी शताब्दी में यौधेय और सनकानिक गणों के नेता महाराज और महासेनापति जैसी राजसी उपाधियां धारण कर रहे थे।' (वही पृ० ६०) धीरे-धीरे गणराज्य इसी प्रकार नृपतन्त्र में बदल गये, और समाज ने नयी स्वतन्त्रता की सांस ली।

सामन्तवाद का विकास गण तन्त्रों के नाश, विभिन्न जातियों की अंतर्भुक्ति और विदेशी आक्रान्ताओं से रक्षा करने के बाद, व्यापार के बाहरी रास्तों के बन्द हो जाने से रुक गया और अब भीतरी संघर्ष प्रारम्भ हो गया। समाज गति रुद्ध हो गया।

इस युग में हमारी हिन्दी ने जन्म लिया है। और इसी के बाद का युग हमारी हिंदी का आदिकाल है।

सामन्तों में इस समय भी परस्पर युद्ध होते थे। परन्तु मेगास्थनीज कहता है कि युद्धकाल में भी कृषिकार्य्य चलता था। वह लिखता है कि दोनों पक्ष एक दूसरे के संहार में लीन रहते हैं पर किसानों को कोई हानि नहीं पहुँचाता। (पृ० २१६ वही) आगे

कहा है (पृ० २१६ वही) कि—"हर्षकालीन युआन च्वांग ने भी यही कहा है कि बारम्बार युद्ध होते रहने पर भी देश को बहुत ही कम हानि पहुँचती थी।"

धीरे-धीरे सामन्तों का खेती पर बुरा असर पड़ा। इस युग के बाद ब्राह्मणों की जमीनों पर भी कर लगाना प्रारम्भ हो गया था। बेगार प्रथा को बन्द करने की राज्यश्री ने चेष्टा की थी। राज्यश्री के समय में सामन्तवाद जनता पर बोझ बनता ही चला जा रहा था। था तो वह पहले भी परन्तु तब उसका प्रगतिशील कार्य्य भी था। अब केवल बोझा ही रह गया था। शुक्र ने उस समय के बजट का ब्यौरा दिया है, हम अल्तेकर से उसे उद्धृत करते हैं (वही पृ० २१२) व्यय : राज्य बजट :

१—सेना (बलम्) .... ५० प्रतिशत
२—दान धर्म (दानम्) .... ८$\frac{1}{3}$,,
३—जनता (प्रकृतयः) .... ८$\frac{1}{3}$,,
४—शासन खर्च (अधिकारिणः) .... ८$\frac{1}{3}$,,
५—राजपरिवार खच (आत्मभोग) ८$\frac{1}{3}$,,
६—कोश। (सुरक्षित या स्थायीधन) १६$\frac{2}{3}$,,

इस से स्पष्ट होता है कि आधा धन सेना पर समाप्त होता है। जितना जनता पर खर्च है, उतना ही आत्मभोग है। सेना तब ठीक है जब विदेशी का आक्रमण हो। अन्यथा वह भी बोझ है। आपस के युद्धों से जनता को क्या लाभ ?

यह है सामन्तीय ढांचे का बोझ बन जाना। जनता निरंतर व्यर्थ के कर लगाये जाने का विरोध करती थी। परन्तु याद रखना चाहिये कि वे सब कर बीसवीं सदी के हमारी जनता पर लगे हुए करों से कम थे। अतः गाड़ी खिंचती रही थी। ग्राम अपना खाना तैयार कर लेते थे, खा लेते थे। आजकल की भांति अन्न की कमी तब ही पड़ती थी जब गाँवों या प्रदेशों में अकाल पड़ते थे। रेलें

नहीं थीं। अतः राजसत्ता भी उस अकाल को अधिक संभाल नहीं पाती थी।

यह है हमारे हिंदी साहित्य की राजनैतिक और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, जिसमें हमने समाज की मूलभूत धाराओं को देखने का प्रयत्न किया है। हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं—

१—हिन्दी के उदय के समय में भारत में नई जातियों (races) की अंतर्भुक्ति हो चुकी थी।

२—ब्राह्मण वर्ण ने समाज को जटिल अर्थात् रूढ़िबद्ध कर दिया था, और वह शोषण कर रहा था।

३—सामन्तवाद अब बोझ था, ह्रासकालीन था।

४—बौद्ध पौरोहित्य और जैन पौरोहित्य ब्राह्मण पौरोहित्य की भांति ही जनता का धन खींचते थे। मठ विहारों, मंदिरों में अपार संपत्ति थी।

५—अवैदिक शैव संप्रदाय उठ रहा था।

६—व्यापार हाथ से चला गया था, भारत खण्ड खण्ड हो गया था।

७—संस्कृत ही ब्राह्मण, जैन, बौद्धों की विशेष भाषा थी। जनता उसे नहीं समझ पाती थी।

८—बौद्धों में सहजयान, ब्राह्मणों में भागवत धर्म बढ़ रहा था, जिसमें जनता के लिये नये मार्ग थे। उच्च पौरोहित्य के नये बनते हुए परिवर्त्तन थे। हमारी हिंदी के आदिकाल में इन धाराओं का ही विकास हुआ था। इस युग से जहां से हिन्दी का प्रारम्भ है, भारतीय इतिहास में उसे मध्ययुग का संधिकाल कह सकते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से मध्यकाल की परिस्थितियों पर स्पष्ट आलोक गिरता है। आदिकाल की उलझनें अपने आप दूर हो जाती हैं।

हमारा विवेचन प्रगट करता है कि अभी तक हिंदी में, तथा

अन्य भारतीय भाषाओं में भी बौद्ध, जैन तथा ब्राह्मण संप्रदायों के विकास को आचार्यों ने ठीक से नहीं समझा है।

मध्यकाल की संत परंपरा इसी विद्रोह के स्वर से अनुप्राणित रही है, जो बाद में अपना अधिक विकास कर सकी है।

कुत्सित समाज शास्त्री इन परम्पराओं को पाण्डित्य दिखाने के लिये छुटपुट रूप से देखे जाते हैं।

पण्डित हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस ओर कुछ अवश्य प्रयत्न किया है, किंतु वे भी सामाजिक दृष्टिकोण को इतना स्पष्ट नहीं कर सके हैं।

आचार्य्य शुक्ल का मत भारतीय इतिहास के ब्राह्मणवादी दृष्टिकोण पर आश्रित था। वह ब्राह्मणवाद पुरानी लचकीलेपन वाला नहीं, परन्तु दयानन्दकाल के बाद का था। उसमें यथार्थवाद और लोक कल्याण की भावना ब्राह्मणवादी थी। यह सत्य है कि उनके मतानुसार प्राचीन साहित्य और मतों का विवेचन काफी हद तक स्पष्ट हुआ है, परन्तु वह सब मूलतः ब्राह्मणवादी है। इसीलिये उन्होंने तुलसी की इतनी प्रशंसा की है। फिर भी उनका मत संपादन श्रेष्ठ है, और वह इतिहास को एक विशेष दृष्टिकोण से देखता है, उसमें हम कुत्सितसमाजशास्त्रीय पक्ष नहीं पाते।

आचार्य्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहीं भारतीयता के नाम पर समन्वय की नमनीति को नहीं अपनाया। अपने मत से खरी बात लिखी है। समन्वय करने की प्रवृत्ति इतिहास के वर्ग संघर्षों की धारा को खंडित करती है। शुक्ल जी ने यथार्थ को पकड़ा था। वे बड़े गंभीर आलोचक थे। उन्होंने अपने मत को प्रतिपादित करने के लिये अन्यमतों को खण्डित किया था। किन्तु वैज्ञानिक विश्लेषण कर के इतिहास की गहराइयों में वे अपनी सीमाओं के कारण नहीं पहुँच सके, और इसीलिये उन्हें भक्तिकाल निराशाकाल दिखाई दिया था जब कि वह जन समाज का मूलतः ब्राह्मण विरोधी आंदो-

लन था। उन्होंने आदिकाल के संबंध में जो तथ्य दिये हैं वे भी अपूर्ण हैं और पं० हजारीप्रसाद ने उसे दूर करने का यत्न किया है।

आधुनिक काव्य के विषय में शुक्ल जी पहले काफी असंतुष्ट थे। बाद में कुछ नर्मी से उन्होंने काम लिया था।

५—संत परंपरा और गांधीवाद का विवेचन

आधुनिक कालीन समाज शास्त्री मध्यकाल का विवेचन करते समय कभी कबीर को प्रगतिशील कहते हैं, कभी तुलसी को। वे यह देखने की जरूरत नहीं समझते कि दोनों में प्रगति के तत्त्व हो सकते हैं, दोनों पर युग की सीमाएँ हो सकती है, परन्तु एक की प्रगति दूसरे के लिये प्रतिक्रिया नहीं हो सकती। यदि कबीर एक बात कह कर प्रगतिशील है, तो तुलसी उसकी बिल्कुल उल्टी बात कह कर प्रगतिशील नहीं हो सकता। यदि युग की सीमाओं को देखा जाये, तो हमें यह देखना होगा कि कबीर और तुलसी से पहले क्या-क्या हो चुका था। इन दोनों की प्रगतिशीलता देखने का अर्थ है कि वे कौन-कौन से तत्त्व इनकी रचनाओं में हैं जिन्होंने शोषक वर्गों का तत्कालीन समाज में विरोध किया। कबीर और तुलसी को इतनी ही बात देख कर नहीं छोड़ना होगा। इसके बाद उनमें काव्य चित्रण, और जीवन सौन्दर्य चित्रण भी देखना होगा। सौन्दर्य और सत्य का जो निर्माण कवि करता है, वह समाज के लिये उतनी ही ठोस चीज होती है, जैसी समाज की कोई अन्य पैदावार। कवि की यह उत्पादन वस्तु सर्वश्रेष्ठ रचनाओं में होती है। प्रगतिशील तत्त्व देखने के लिये कवि की रचनाओं का प्रभाव भी देखना चाहिये। वर्ग संघर्ष की भावना के आधार से हम कवियों का वास्तविक एतिहासिक मूल्यांकन कर सकते हैं, किंतु जीवन केवल वर्ग संघर्ष नहीं है, वह और भी बड़ा है। अतः हमें कवि के अन्य रूपों को भी देखना चाहिये।

यहाँ हम मध्यकालीन संतों और भक्तों के आन्दोलनों का

विवेचन करते हैं। पहले यह बात स्पष्ट करना आवश्यक है कि मध्यकाल में भी पारस्परिक संघर्ष था। निर्गुण वास्तव में उस प्रयत्न का प्रतीक है जो वर्णाश्रम को नहीं मानता। सगुण वह प्रयत्न है जो उच्च वर्गों से निम्नवर्ग को सहूलियतें दिलाने की चेष्टा करता है। दोनों में भेद है। सन्त और भक्त एक ही नहीं है।

मध्यकालीन भक्तों का मूलतः सन्तों से जहाँ एक ओर सगुण और निर्गुण उपासना का भेद था, वहाँ उनके सामाजिक जीवन का आचार व्यवहार भी एक नहीं था। निर्गुण सन्तों की साधना का आधार मानवतावाद था, किन्तु उसे समस्यात्मक रूप में उलझा दिया गया था। वे जाति भेद नहीं मानते थे, श्रुति को भी स्वीकृत नहीं करते थे किन्तु शून्य की साधना करते थे। शून्य वस्तुतः उस अवस्था की वर्णनातीत कल्पना थी जिसे समझा जा सकता था, किन्तु समझाना असंभव था। ऐसी अवस्था की हम व्याख्या नहीं कर सकते, क्योंकि उसका सामाजिक आधार नहीं मिल सकता, वह अनुभूतिगम्य है, और प्रत्येक व्यक्ति का अपना एक भिन्न अनुभव है। इस शून्य का कभी साधारणीकरण नहीं हो सकता। बौद्धों का शून्य इसका प्रारम्भ नहीं है। उपनिषदों का ब्रह्म ही इसका मूल है। वह मूल इसलिए है कि उसका इतिहास में सबसे पहले उल्लेख प्राप्त होता है। किन्तु उसको निराकार कह कर भी ब्रह्म की सत्ता के रूप में स्वीकृत किया गया है। उसका कर्तृत्व छीन लिया गया है। ब्रह्म के इसी दुरूह स्वरूप ने परवर्ती चिन्तन को बल दिया है कि ब्रह्म है ही नहीं। ब्रह्म की सत्ता की अस्वीकृत ही शून्य को जन्म देती है। शून्य की अवस्था में 'खसम' शब्द का प्रयोग हुआ है। यहाँ 'ख' आकाश का पर्याय है और 'सम' का अर्थ उसके समान हो जाता है। इस विरक्त आदर्श की प्राप्ति में अपने अहं को मिटाने का संकल्प है। अहं को सांख्य से भी पहले भारत में पहचान लिया गया था और शाक्त और शैव चिन्तन में उसे अधिक महत्व मिला है, चाहे वह आर्य चिन्तन हो

या आर्येतर। इतने दिन बाद पूर्ण प्रमाणों के अभाव में यह कहना भी कठिन है कि कौन सा चिन्तन किससे कितने अंशों तक प्रभावित हुआ था। अहंका यह प्रभाव भारतीय चिन्तन में द्वैतरूपक रहा है। एक सत्ता का अहं है, दूसरा उस संकुचित व्यवस्था से बढ़ कर आत्मानुभूति के रूप में है। इस द्वैत का प्रथम स्वरूप भक्तों में है, जिसके निराकरण के लिए उन्होंने अपने हृदय का समस्त दैन्य उँडेल दिया है। दूसरा सन्तों में है, जिसका मनन करने में उन्होंने अधिक से अधिक अभावात्मकता को जीवन में स्थान दिया है। भारतीय आदर्शवादी चिन्तन इसीलिए अपने अन्तर्विरोधों में ग्रस्त है। आधुनिक समन्वयवादी आलोचक अपने असामर्थ्य में और नवीनतावादी समालोचक अपने अज्ञान के कारण इसे देख नहीं पाते और हिंदी साहित्य के मध्यकाल को जटिल बनाने में अपना श्रेय समझते हैं।

ऐसी क्या परेशानी है कि समस्त मध्यकाल को दो ही भागों में विभाजित करके देखा जाता है कि एक सामन्तीय समाज था दूसरा शोषित समाज! क्या समाज में दो ही आर्थिक मूल्य समस्त मूल्यों का अंकन करने में समर्थ हो सकते हैं? क्या केवल नींव को देख कर ही ऊपर की इमारत का अन्दाज किया जा सकता है? नहीं। समाज केवल आर्थिक आधारों से निर्मित नहीं होता, उसके और भी अनेक आधार होते हैं। जिन्हें सांस्कृतिक, दार्शनिक परम्परा इत्यादि के रूप में देखा जा सकता है। वर्णभेद की परम्पराएँ भी इसमें उल्लेखनीय हो जाती हैं। समस्त मध्यकाल में जहाँ राजवंशों की व्यवस्था का हल खड्ग ने किया है सामाजिक आर्थिक व्यवस्था और आचार व्यवहार पर तलवार के भी ऊपर बुद्धि ने काम किया है। मध्यकाल ने सहिष्णुता का प्रधान गुण धारण किया है। सामंतीय व्यवस्था ने भारत में अपने बहुत लम्बे समय के कारण, आर्थिक उत्पादन के साधनों में परिवर्तन न आने के कारण, अनेक बार अनेक प्रकार से समाज को सुखी बनाने का

प्रयत्न किया है। इसको निम्नलिखित विचारधाराओं में देखा जा सकता है—

(१) दक्षिण का वेदान्तवाद, जिसका प्रचार शंकराचार्य ने किया। इसमें माया के रूप में सब असत्य कहा गया है। यह निश्चय ही प्राचीन दर्शनों का पुनरुत्थान था, जिसमें बौद्ध चिन्तन के पहले के उपनिषद् चिन्तन का आधार लिया गया। किन्तु बौद्ध प्रभाव के कारण ब्रह्म शून्य प्रायः बन कर ही उपस्थित हुआ।

(२) कालान्तर में रामानुजाचार्य ने उस ब्रह्म को मानवीय स्वरूप दिया और माया को लीला बना कर मनुष्य के समाज में होने वाले अत्याचारों का, श्री वैष्णव सम्प्रदाय को जन्म देकर, विरोध किया।

(३) दक्षिण में एक शैवों का भक्त सम्प्रदाय था जो आलवारों से भी प्राचीन माना जाता है। इसका ही परवर्त्ती काल में वीर शैव, और पाशुपत संप्रदायों पर भी प्रभाव पड़ा था। शून्य की उपासना के रूप में जब त्रिपुर सुन्दरी, भैरव, और महादेव की उपासना का महत्व बढ़ा तब उस सबको एक ओर 'शक्ति' कहा गया, और दूसरी ओर उसी चबूतरे पर बौद्ध शून्यवादी वज्रयानी भी चढ़ गये।

(४) लिंगायत संप्रदाय बसव के समय से हुआ और उसने समता का पल्ला पकड़ा। वह संप्रदाय ब्राह्मण द्वेषी था। इसमें भक्ति अखण्ड रूप से समाविष्ट हुई।

(५) बंगाल की तरफ सहजयानी, बाउल और जोगी बने। चैतन्य की भक्तिधारा घूमफिर कर सहजयान की ही एक परिवर्तित शाक्त धारा थी, जिसका प्रारम्भ विद्यापति और जयदेव में ही हो चुका था।

(६) बौद्धों के अतिरिक्त त्रिकसंप्रदाय तथा अन्य आर्येतर योगसंप्रदाय उत्तर में थे, जिनमें बामारग और शून्यवादी प्रभाव थे, वे आपसी उथल पुथल के उपरान्त नाथसंप्रदाय के रूप में अन्तर्भुक्त

होकर उपस्थित हुए और ज्ञान पर जो अधिकाधिक जोर देने लगे, उसका आधार श्रद्धा हुआ, और तर्क का आधार होने पर भी भक्ति की मानवीयता उन पर प्रभाव डालने लगी।

(७) दक्षिण का भक्ति संप्रदाय उत्तर के सन्तसंप्रदाय के संसर्ग से रामानन्द की सहिष्णुता के रूप में प्रकट हुआ।

(८) कबीर इसी के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुए। उनमें योग, हठ, बुद्धि, शून्य, भक्ति, लीला, माया, ब्राह्मणविरोध, ब्रह्मचर्य, सबका गहरा समन्वय हुआ। ऐसा लगने लगा जैसे सैकड़ों वर्षों की सामाजिक हलचल ने कबीर को यह जो चिन्तन दिया, वह भारतीय आदर्शवादी चिन्तन का एक मानवीयता धारण करने वाला स्वरूप था, जो बुद्धि का भक्ति से समन्वय करके नवीन समाज को जन्म देना चाहता था। अभावात्मकता ही इसका प्राण थी। अपनी चरमावस्था में यह चिंतन समाज को कुछ नहीं देता था, क्योंकि उसकी अन्तिम सीमा व्यक्तिपरक थी। उससे नीचे की अवस्थाओं में समाज पर दृष्टिपात था, और जहाँ व्यक्तिपरक चरमबिन्दु आकाश में स्थिर था, वहाँ समाज में विद्रोह की भावना थी।

(९) इसके विपरीत भक्तों की साधना का चरमविन्दु शाश्वत समाधान के रूप में अपने ईश्वर को लिये था, अपने सामाजिक रूप में ही अपने को सीमित कर चुका था। परन्तु व्यक्तिपरक अवस्था में वह दीन था, दयनीय था, उसका जीवन भी माया था, नश्वर था भाग्यवादी था, और यह अपने लौकिक आधार पर ही स्थित था।

सन्तों और भक्तों का यह भेद स्पष्ट समझ लेना आवश्यक है। पहला शाश्वत सत्यों को, मर्यादाओं को बदलने में तत्पर था, क्योंकि उसका मानवतावाद उसे इसके लिए प्रेरित करता था। अपने दर्शन की उच्च अथवा दुरूह सीमा में वह अभावात्मकता का राग था। इसका कारण था सृष्टि के रहस्य को समझने में असमर्थता, सामाजिक आधारों को उत्पादन के साधन के साथ-साथ बदल

देने में अशक्ति। इसकी दूसरी ओर भक्तों में व्यक्तिपरक अभावात्मकता थी, परन्तु सामाजिक रूप में वे ठोस आधार देते थे। परंतु क्या वह ठोस आधार वही था जिसे सन्त चाहते थे ? नहीं। दोनों में भेद था। भेद था सामाजिक व्यवस्था की स्वीकृति में। भक्त का आधार परम्परा में था, सन्त का आधार अपनी सत्ता का अधिकार माँगने में फलित हुआ था। किन्तु अब इतिहास इतना सरल नहीं होता कि केवल दो भागों में ही विभाजन किया जा सके। कुछ प्रभाव ऐसे भी होते हैं जो एक दूसरे पर अपना भीतरी प्रभाव छोड़ते हैं और वाह्य परिस्थितियों में, परिस्थितियों के परिवर्तनों के रूप में जाकर प्रकट होते हैं। यदि समाज शतरंज का खेल नहीं है, क्योंकि यहाँ मोहरे उस पूर्वचिंतन से नहीं बढ़ते, फिर भी एक बात में दोनों में समता अवश्य है। मोहरे अपनी चाल से एक दूसरे पर प्रभाव अवश्य डालते हैं। जहाँ पहले ऊँट सीधी पट्टी के बजाय तिरछी पट्टी को दाबता है, वहाँ वजीर दोनों को दाब कर सामने के प्यादों की चाल में दूसरा फर्क डालता है। इसी प्रकार एक की कोई भी गति प्रभाव डाले बिना नहीं जाती। सन्तों के प्रभाव से मानवीयता का प्रचार बढ़ा और मनुष्य के रूप में उच्च वर्गों ने उसे स्वीकार किया, न केवल इसलिये कि वह उन्हें अच्छा लगता था, वरन् इसलिये कि निम्न वर्णों में जागरण पहले से अधिक था। उसे सहूलियत देने की जरूरत थी, वह इतिहास की आवश्यकता थी।

अतः निर्गुण सन्त समाज में मुक्ति चाहते थे, परन्तु उनके पास समाज में उस व्यवस्था का विरोध करने के अतिरिक्त कोई उपाय न था जो उन्हें दबाती थी। व्यक्तिरूप में वे जैसे-जैसे अभावात्मक होते जाते थे शून्यवाद उनका संबल बनता था और वे पराजित होने से बचते थे।

सगुण भक्त समाज में पुरानी परम्पराएँ चाहते थे, परन्तु सहूलियतें देने के लिये बाध्य थे, स्वयं भी देने में ही सन्तोष पाते

थे, क्योंकि अब वे उसे न्याय कह सकने में असमर्थ हो गये थे। उनके हाथ में समाज था, और इसीलिये वे समाज को रूप देते थे। शून्यवाद उनके पास व्यक्ति रूप में था, व्यक्तिपरक रूप में दैन्य भी था, अपने को व्यक्तिरूप में वे निर्बल भी अनुभव करते थे।

यह है दोनों का मूलभेद। सगुण भक्त का विश्वास आराध्य था, निर्गुण का आराध्य विश्वास के साथ तर्क भी था। किन्तु दोनों का आदर्शवादी चिंतन था। खेतिहर समाज का भाग्यवाद दोनों की सीमाएँ थीं, दोनों ही अपनी सीमाओं को लांघ जाने में असमर्थ थे। यह असमर्थता व्यक्ति की नहीं, सामाजिक थी, ऐतिहासिक थी; वह ऐसा बन्धन था, जिसे लांघ जाना व्यक्ति के लिये असंभव था। उसे तब ही पार किया जा सका जब मशीन की उन्नति हुई और समाज के उत्पादन वितरण को ही एक नई परिस्थिति का सामना करना पड़ा।

कायदे से देखा जाय तो निर्गुण और सगुण का एक और भी भेद था। निर्गुण के उपासक अधिक बिखरे हुए थे, क्योंकि उनकी शक्ति का, चिंतन का स्रोत एक नहीं था, विभिन्न थे, और वे पारस्परिक रूप में उस एक्य का अनुभव नहीं करते थे, जो भक्तों को अपने आराध्य के एक्य के कारण सुगम था। निर्गुण संत समाज के उन क्षेत्रों से आये थे, जिन्हें शताब्दियों से कुचला गया था। उन्हें पूर्ण शिक्षा नहीं मिली थी। उन्हें दब कर रहना पड़ता था। उनकी आत्मा को विकास करने का पूरा अवसर नहीं मिलता था। और वे अपनी सामाजिक व्यवस्था में अपने ही छोटे-छोटे भेदों में ग्रस्त समुदाय थे, जिन पर अंधविश्वास और अशिक्षा का अधिक प्रभाव था। निम्न जातियों के इस समुदाय में यह आत्म विश्वास अन्ततोगत्वा जागा, वह शताब्दियों के नकारात्मक स्वर से था कि ओ विजेता तू कुछ नहीं, तू मुझे हरा नहीं सकता, मैं अमर हूँ और रहूँगा। इसका मूल था आभ्यंतर चिंतन में।

सगुण भक्तों को इतनी कठिनाई नहीं थी। देवताओं के रूप में यद्यपि अन्तर्भुक्ति के प्रभाव से आर्य्येतर देवता स्वीकृत कर लिये गये थे, तथापि उनका परिष्कार वेदत्रयी ने किया था, और वहीं से समस्त चिंतन के मूल्यांकन की स्फुरणा ग्रहण की गई थी। इस वर्ग को अधिक शिक्षा प्राप्त थी। किन्तु समाज नये रूप चाहता था। और यह बदलने की प्रवृत्ति ही इसका प्राणाधार थी।

संक्षेप में यह था वह भक्ति समूह, यह था वह निर्गुण समाज जो तुलसी के पहले भारत में विद्यमान था। इसकी राजनीतिक पृष्ठभूमि भी देखनी आवश्यक है। उच्चवर्ग अर्थात् सवर्ण भी इस समय इस्लाम के आक्रमण के कारण अपने को खतरे में अनुभव कर रहे थे। वे भी एक प्रकार से अपनी रक्षा में उद्यत थे। राजनैतिक शक्ति के डाँवाडोल हो जाने के कारण वे भी चिंतित थे। सामंत ही इसका अधार था, इसलिये सहूलियतें दी जा रही थीं।

यहाँ हम केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि सामंत का अपना स्वरूप जब तक हम नहीं देख लेते, उसका सवर्ण जाति से अन्योन्याश्रित सम्बन्ध जब तक नहीं समझ लेते, तब तक उस पर राय बनाना अनुचित होगा। सामंतीय समाज क्षत्रिय ही नहीं, अनेक विजातीय योद्धा समुदायों को लेकर बना था। ब्राह्मण ने उसे स्वीकृति दी थी और उन समुदायों ने अपनी भीतरी व्यवस्थाओं में कई अधिकार प्राप्त कर लिये थे, जिनको ब्राह्मणों ने अपनी पुरानी मर्यादाओं के बावजूद मान लिया था। इस समाज में इस्लाम के आने के कारण खलभली मच गई थी। निम्न जातियाँ, बौद्ध, शैव, इस्लाम में जा रही थीं अवश्य, परन्तु सब नहीं, क्योंकि यहाँ के निम्न वर्णों की सामाजिक व्यवस्था ब्राह्मणकृत नहीं थी, उससे पुरानी थी। वह व्यवस्था निम्नवर्णों द्वारा सहज नहीं तोड़ी जा सकती थी। इस उथल-पुथल के समय तुलसी का उदय हुआ, उस समाज में तुलसी उठे, जिसे दुतरफा खतरा था। एक इस्लाम का,

एक भीतरी निम्न वर्णों का। यहाँ आकर संतों और भक्तों का भेद बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है।

निम्न वर्णों में जहाँ अंधविश्वास, समाज की खेतिहर उत्पादन प्रणाली, प्राचीन परम्पराओं के बन्धन थे, और वे एकदम अपने धर्म को, अर्थात् समाज के आचार व्यवहार को बदलने को तत्पर न थे, वहाँ उनमें सवर्णों से मिलने की इच्छा थी, बल्कि इच्छा सवर्णों को विद्रोह सी लगती थी। परन्तु उधर सवर्णों को इस्लाम के कारण अपनी सत्ता का भय हो गया था, अतः सहूलियतें देकर वे इन्हें अपनी ओर मिला कर अपने वेदत्रयी स्फुरित आदर्श को स्थापित रखना चाहते थे। तुलसी ने यही करने में सफलता प्राप्त करली थी।

यहाँ से सन्त और भक्त का दृष्टिकोण अपना पुराना भेद स्थिर नहीं रख सका। अन्तर्भुक्ति में, व्यक्तित्व के महत्त्व में, कुछ लोगों को महान् तो स्वीकार कर लिया गया किन्तु उनके सम्प्रदायान्तर्गत विचारों के कोने घिस दिये गये। उनके मूल भेदों को एक दूसरे ने आत्मसात कर लिया। पुराने भारतवासी हिन्दुओं ने नये भारतवासी मुसलमानों से राजनीतिक युद्ध छेड़ने के लिये भावनात्मक, सांस्कृतिक और दार्शनिक आधार तैय्यार कर लिया, और फिर प्रादेशिक जातीय उत्थान हुए जिनमें वर्णभेद कायम तो रहा किन्तु वह विभिन्न समुदायों की इकाइयों में परिणित हो चुका था। यही मराठा, सिख और जाट आदि जातियों के उत्थान में प्रकट हो गया था।

निर्गुणवादी जानबूझ कर सगुणवादी बनने से बचते थे। सगुणवादी बनने का अर्थ था, उस भगवान के रूप को मानना, जो उच्चवर्गों के स्वार्थ को पालता था। इसी से कबीर ने कहा था कि वे जब राम (योगियों के रमण करने की जगह) कहते हैं, तो उनका तात्पर्य्य दशरथ के पुत्र से नहीं है। अपने उच्चतर स्तरों में भक्त भी अपने सगुण भगवान को निर्गुण बनाते हैं, परन्तु लोक-

रंजन के लिये सगुण ही उनकी देन है। इस सगुण की आड़ में ब्राह्मणवाद था। निर्गुणवादी इसे मानते, तो जिस वर्णहीन समाज की रचना वे चाहते थे, वह नहीं हो सकती थी। अतः वे निर्गुणिये रहे। उन्होंने ब्रह्म की व्याख्या करने का यत्न किया। ब्रह्म की अलग से व्याख्या करना वेद को चुनौती थी। परन्तु भक्त और संत दोनों ही सृष्टि के रहस्य का वैज्ञानिक विश्लेषण नहीं जानते थे। इसी से सन्तों ने अधिकतर सृष्टि के रहस्य अर्थात् ब्रह्म का वह रूप बताया जो वेद में नहीं था, उनका जीवन यह कहते ही निकला कि हे सगुणवादियो तुम जिसे सत्य कहते हो, वह सीमित है, उससे भी परे कुछ है। किन्तु वे स्वयं उसे समझा नहीं सकते थे, और उसीसे परमात्मा संबंधी उनके उद्‌गार अभावात्मक, नकारात्मक और पलायनवादी लगते हैं। भक्तों के उद्‌गार जो इस विषय में हैं वे समाज को अंधभक्त बनाते हैं। भाग्यवाद दोनों पर है। व्यक्तिगत दैन्य दोनों में है। युग का बंधन यही है। यहाँ हम संक्षेप में कह सकते हैं—

१—सिद्ध कवियों में सामाजिक तत्त्व है ब्राह्मणवाद की जाति प्रथा का विरोध। उनके युग का बंधन है उनका रहस्यवादी दृष्टिकोण। वे शून्यवादी हैं, परन्तु काफी हद तक इसीलिये कि ब्रह्म के साकार रूप को मानते ही ब्राह्मणवाद को मानना पड़ता है। उनके अपने देवी देवता हैं जो बहुत सी जातियों के मिलन के कारण आ गये हैं, और उनका अपना सामाजिक पौरोहित्य दूसरे प्रकार का ब्राह्मण पौरोहित्य है।

२—जैन कविगण तथा दरबारी कविगण (स्वयंभू आदि) में सामाजिक तत्व हैं, उच्च कुलों और वर्गों की प्रशंसा। छुटपुट भले ही ऐसे तत्त्व मिलें जो शोषित वर्गों के हिमायती हों। परंतु जीवन के विभिन्न क्षेत्रों के सुन्दर चित्रण उनकी देन है।

३—नाथ योगियों ने व्यक्तिवाद को बढ़ाया है। रहस्यवाद को बढ़ाया है। परन्तु उनकी देन रसायन शास्त्र और औषधिशास्त्र को

है। उन्होंने जनता पर यह प्रमाणित किया है कि जातिप्रथा व्यर्थ है, वेद में सब कुछ नहीं है। ब्राह्मण जन्म से श्रेष्ठ नहीं है।

४—निर्गुण संतों ने योगियों की रूढ़ियों का विरोध किया है। सामाजिक तत्त्व में वे निम्नवर्गों के लिये पुकार उठाते हैं। परंतु वे समाज को ठोस भगवान नहीं दे सकते। वे व्यक्तिवादी और भाग्यवादी हैं।

५—पूर्व (बंगाल और बिहार) से आया भक्तिवाद (विद्यापति) शाक्त परम्पराओं से भींगा हुआ है। उसमें प्रेम का स्वतन्त्र चित्रण है और समाज में वह स्त्री-पुरुष को प्रेम का सन्देश देता है। चित्रण सौंदर्य्य श्रेष्ठतम है।

६—तुलसी इस्लामी साम्राज्य का विरोध कर के यहां के सामंतों और जनता को जगाता है। आदर्श सामन्तवादी कल्पना (उत्तर-काण्ड मानस और उसका ठीक विश्लेषण देखने के लिये पढ़िये निराला का तुलसीदास) को सामने रखता है। उदात्त चरित्रों की सृष्टि करता है। रूढ़िवादी ब्राह्मण से कहता है कि निम्न वर्गों को सहूलियत दो। निम्नवर्गों से कहता है वर्ण व्यवस्था को मानो। तर्क न करो। शंकराचार्य्य ने जिस प्रकार अपने ब्रह्म को बौद्धों को पराजित करने के समय 'शून्य' ही जैसा माना था, तुलसी भी ऊंचे स्तरों में अपने ब्रह्म को, निर्गुणवादियों की परम्परा को आत्मसात करते हुए, निर्गुण कहता है, परन्तु समाज को आदर्श सामन्तराम जैसा सगुण भगवान देता है। गुह से उसे वैसे ही मानवीय ढंग से मिलाता है जैसे वाल्मीकि ने राम के गले से लगवाया था। वह विनय पत्रिका में भक्ति को दरबारी रूप देता है, सीधे राम से नहीं कहता क्योंकि वे तो राजा हैं, सिफारिश और अमलों के द्वारा काम चलाता है। राम की आड़ में वह सामन्तों को भी उपदेश देता है कि विदेशी के सामने दबे मत रहो। सूर ने निर्गुण का विरोध किया। प्रेम का चित्रण किया। वात्सल्य का उत्कृष्ट चित्र दिया। आलोचकों का मत है कि सूर का शृंगार वर्णन अंत-

तोगत्वा रीतिकाल के शृंगार वर्णन के लिये जिम्मेदार है, अतः घातक है। बंगाल और दक्षिण की शाक्त परंपरा राधाकृष्ण प्रेम के रूप में बदल गई थी। उसका प्रभाव सूर में भी था। सूर का शृङ्गार वर्णन और तुलसी का धर्म संस्थापन दोनों ने हिंदी में रीतिकाल को अर्थात् दरबारी कविता को जन्म दिया। तुलसी और सूर के इस काम के बाद उच्च वर्गों ने निम्नवर्णों को दबा लिया। परन्तु इसका एक और रूप भी है कि उच्च वर्णों और निम्न वर्णों ने पारस्परिक संघर्ष कम कर के, साम्राज्य (मुस्लिम सम्राट) का विरोध किया। सिक्ख, मराठा, आदि उठे। इनके उत्थान में निर्गुणधारा इस्लाम धर्म की समानान्तर आकृति धारण कर गई। सगुण और निर्गुण दोनों मिल गये और संघर्ष ने नया रूप पकड़ा।

७—रीतिकाल में कविता दरबारों में चली गई। फिर भी कुछ कवि गण स्वकीया का गुण गाते रहे। रीतिकाल में उच्चवर्गीय कवियों में दो दल थे। एक वे जो शृंगार परक थे। दूसरे वे जो साम्राज्य से संघर्ष करने वाले हिंदुओं को प्रेरणा देते थे, उनकी प्रशंसा करते थे। यह कहना गलत है कि काव्य तब केवल शृंगार परक था। रीतिकाल में भी राष्ट्रीय परम्परा थी। भूषण इसका उदाहरण है। भूषण के अतिरिक्त भी रीतिबद्ध कई वीर काव्य लिखे गये हैं।

८—हम कह आये हैं कि हिन्दी का उत्थान उस समय हुआ जब सामन्तकालीन व्यवस्था का ह्रास हो रहा था। उत्पादन के साधन सामन्तीय थे। वे सरहपा से १८५७ ई० तक बने रहे। तभी हिंदी में प्रारंभ से अब तक यह बातें रहीं—

१—दरबारी काव्य।

२—संत काव्य।

३—भक्ति काव्य।

४—वीर काव्य।

एक ही सामाजिक उत्पादन प्रणाली, आर्थिक व्यवस्था रहने से समाज में घूम फिर कर वही समस्याएं रहीं और उनके हल मूलतः बहुत विभिन्न नहीं थे। एक प्रकार से हिंदी से पुराने साहित्य में बहुत विषय नहीं हैं, बल्कि विषयों की बहुलता का अभाव है।

९—पुनर्जागरण काल भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से देखा जाता है। उर्दू शैली में नजीर भारतेन्दु से पहले ही काव्य को जनता के पास ला रहा था। उस समय उर्दू के दरबारी कवि जब इस्लाम की रक्षा के नाम पर अपनी ईरानी सभ्यता को बचा रहे थे, फारसी के शब्द हिन्दी में लाकर, भारतीय भाषा हिन्दी को इस योग्य बना रहे थे, कि वह ईरानी सभ्यता को अपने में भर ले, नजीर जनता के पास था और संकीर्णतावाद का विरोधी था। भारतेन्दु भी ऐसे ही विरोधी थे। मध्यवर्गीय विकास के समय काव्य दरबारों से मुक्त होकर फिर जनता में आ रहा था।

१०—पुनर्जागरण में पुनरुत्थानवाद भी था। मध्यवर्ग और यूरोपीय चिंतन का मिलन हुआ। भाषा ने संस्कृत का आश्रय लिया प्रसाद, पन्त, निराला, महादेवी आदि हुए। यह मानवतावादी कवि हुए, जिनमें वर्ग संघर्ष का वैज्ञानिक विश्लेषण नहीं, परन्तु सामन्तवाद का स्पष्ट विरोध प्राप्त होता है।

११—इसी युग में गांधी हुआ जिसका भारतीय चिंतन पर गहरा प्रभाव पड़ा।

गाँधी प्रगतिशील भी था, प्रतिक्रियावादी भी। सामंतीय ढांचे के समाज में वह विधवा विवाह, छुआछूत विरोध, जाति प्रथा विरोध आदि करता था। देश की स्वतन्त्रता चाहता था। समाज में मशीन विरोधी था। पूंजीवादी समाज के ढांचे में वह वर्गों में समन्वय-वाद चाहता था। किन्तु गांधी के समय में न केवल रियासतों में सामन्तवाद जीवित था, वरन् जमीदारी प्रथा के कारण वह ब्रिटिश प्रान्तों में भी था और वर्ण व्यवस्था के आधार पर पलता था। गांधी ने उस वर्ण व्यवस्था अर्थात् सामन्तीय वर्गभेद पर गहरा

प्रहार किया था। यह उसका प्रगतिशील कार्य्य था। पूंजीवाद वर्ग संघर्ष के क्षेत्र में वह पूंजीपतियों का संरक्षक था, समन्वयवादी था, परन्तु सामन्तीय समाज की मानवतावाद की उसकी अपनी धारणा कभी भी पूंजीवादी व्यवस्था की हृदय-हीनता से पराजित नहीं हुई थी। यह हम आगे देखेंगे।

गांधी के पास अहिंसा थी। अहिंसा का आन्दोलन बुद्ध और महावीर के समय में भी जोरों से चला था।

यह एक आश्चर्य्य का विषय है कि दोनों आन्दोलनों में बड़ा साम्य है। भेद तो हैं ही, क्योंकि इतिहास बिल्कुल ज्यों का त्यों पुनरावृत्ति नहीं करता।

देखिये।

१—बुद्ध और महावीर के समय में गण व्यवस्था थी और राजा के राज्यों की व्यवस्था थी। क्षत्रियों ने गणों में ब्राह्मण और वैश्यों को दबा रखा था। गणों में क्षत्रिय कुलों का राज्य था, वहाँ जनता को अधिकार नहीं थे। उस समय वैश्यों का व्यापार नदियों के सहारे बढ़ रहा था। वैश्यों का व्यापार चाहता था एक बड़ा साम्राज्य, जिससे जगह-जगह कर नहीं लगें। शांति व्यवस्था हो। क्षत्रियों का अधिकार कुछ कम हो। देश में शांति रहे। व्यापार की इस आड़ ने अहिंसा को बढ़ाया। हम पहले अशोक के विषय में बात करते समय इस विषय को देख आये हैं। बुद्ध और महावीर के आंदोलनों से व्यापार बढ़ा। वैश्य वर्ग बढ़ा। भारत का व्यापार बढ़ा, साम्राज्य बने।

२—गांधी के समय में विदेशी पूंजीवाद ने सब को दबा रखा था। भारतीय पूंजीवाद व्यापार का हक चाहता था। उसने फिर अहिंसा की आड़ ली। और भीतरी वर्ग भेद को कायम रख कर, सामन्तीय ढांचे को तोड़ने का यत्न किया। भारतीय सामंतवाद ने अपने स्वार्थ के लिये विदेशी पूंजीवाद से संधि करली थी। विदेशी पूंजीवाद इतनी ही लूट में खुश था। जो भी मिल जाये वही क्या

बुरा है। परन्तु भारतीय पूंजीवाद के विकास में, इतिहास के विकास की आवश्यकता में, सामन्तवाद रोड़ा था, और रोड़े के अतिरिक्त वह विदेशी पूंजीवाद का भी सहायक था। अतः देशी पूंजीवाद ने सामंतवाद का विरोध किया, विरोधी विदेशी पूंजीवाद का विरोध किया। सामन्तीय समाज के ढाँचे को तोड़ना चाहा, पर अपने वर्ग स्वार्थों और पूंजीवादी ढाँचे को स्थिर रखने के लिये अहिंसा का आन्दोलन मान लिया। वह विदेशी पूंजीवाद से संघर्ष भी था, और यह भी कि जैसे झगड़ा आपसी न्याय के लिये है, व्यापार का क्षेत्र बढ़ाने के लिए है।

३—प्राचीन सामंतीय समाज में संत परंपरा होती आई थी। उसने—

अ—वर्ण व्यवस्था का विरोध किया था।

आ—समन्वयवाद का रास्ता पकड़ा था।

इ—भाग्यवाद, जीवन के प्रति त्यागवाद उसका मूल था। गाँधी में यह सब था। परन्तु जब तक केवल सामंतीय ढाँचा रहा वह संघर्ष धार्मिक रूप लिये रहता था। गांधी के समय में यह बात नहीं रही। पूंजीवाद सामंतवाद के साथ था। अतः धर्म संघर्ष और राजनैतिक सघर्ष परस्पर मिल गया। यह इतिहास का बंधन था। भारत इतने के लिये ही प्रस्तुत था। यदि भारत में इससे अधिक चेतना जनता में उतर जाती, तो हम कहीं के कहीं पहुँच गये होते।

ई—भारत में यूरोपीय देशों के विकास से एक भेद था। वे देश स्वतन्त्र थे। भारत उपनिवेश था। यहाँ दोहरा युद्ध करना पड़ा था। जातीयता ने भी युद्ध करवाया था।

उ—गाँधी के समय में वर्णव्यवस्था जीवित थी। आज भी चुनाव जातीयता के आधार पर लड़े जाते हैं। यह खेतिहर उत्पादन प्रणाली के कारण है। जातियों में अभी तक सामंतवाद के अवशेष हैं।

इन सब बातों को देखकर ही गाँधी का विवेचन किया जा

सकता है। भारत की जनता मूर्ख नहीं थी कि पच्चीस बरस तक प्रतिक्रियावादी गाँधी के पीछे चलती रहती। यदि गांधी उनके जीवन की समस्याओं का कहीं भी हल नहीं था, तो उसका नेतृत्व ही क्यों यह जनता मान लेती? क्यों कर प्रतिक्रियावादी 'पुनुरुत्थानवादी उच्च वर्णीय स्वार्थ रक्षक हिंदू महासभा का नेतृत्व गांधी को नहीं दबा सका? यह प्रश्न विचारणीय हैं।

पूँजीवाद के इस युग में मार्क्सवाद के दृष्टिकोण से प्रत्येक उलझन सुलझ जाती है। किन्तु मार्क्सवाद एक जड दर्शन नहीं है। उसको ठीक से समझने का आधार उसका इतिहास—सत्य विश्लेषण है।

मार्क्सवाद यह नहीं कहता कि प्रत्येक देश में एक सा ही विकास होता है। वह यही बतलाता है कि अनेक विभिन्नताओं के बीच एक समता होती है। पर इसका अर्थ यह नहीं होता कि इंगलड में जो कुछ हुआ वही सब जर्मनी में भी होना चाहिए, या चीन में भी उसी की पुनरावृत्ति होनी चाहिए।

यह समझने पर अनेक भ्रान्तियाँ दूर हो जाती हैं। जिस देश पर हम विचार करें, पहले उस पर मार्क्सवाद लागू न करें, वरन् पहले उस भूमि को समझें, जिस पर मार्क्सवाद लागू करना है। अर्थात् जिस देश के विषय में सोचें उसका इतिहास जान लें। मार्क्स के महान् सिद्धान्त हवा में पैदा नहीं हुए, इतिहास के मनन के परिणाम थे।

इस दृष्टि से भारत में अभी बहुत कम काम हुआ है। इसका कारण मुख्यतः लेखकों की नाजानकारी और गलत समझी ही रही है। ऐसे ही विषयों में से एक गांधी भीं है।

मार्क्सवाद इतिहास के गम्भीर अध्ययन का परिणाम है वह सत्य इसलिए है कि उसने इतिहास के उतार-चढ़ावों के आधारों को ढूँढ़ निकाला है। चीन, रूस और पूर्वी योरप में उसका फैलना इस बात का सबूत है।

मार्क्सवाद रोटी, रोजी तथा सर्वश्रेष्ठ कला और संस्कृति की बात करता है। यदि किसी देश की जनता उस संदेश को नहीं सुनती तो यह उन सिद्धान्तों का दोष नहीं है जो मार्क्स ने प्रतिपादित किए थे, वरन् यह उस देश के उन क्रान्तिकारी विचारकों का दोष है, जो अपने देश की जनता तक उस महान् संदेश को ठीक तरह से पहुंचा नहीं सकते। इसका कारण वस्तुतः होती है क्रान्तिकारी विचारकों की हठधर्मी और जड़ता, जिसके फलस्वरूप वे वास्तविकता के स्थान पर रटे हुए सिद्धान्त-जालों को दुहरा कर दूसरों को गाली देकर, अपनी मनस्तुष्टि कर लिया करते हैं।

जब हमारा देश अंगरेजों की दासता में था, उस समय क्या कारण था कि यहां के मार्क्सवादियों का स्वर कभी गांधी के स्वर दबा नहीं सका? गाँधी के बारे में कहा जाता है कि वह पूँजीवाद का सहायक था। ठीक है। वह सहायक ही था। परन्तु मार्क्सवादी जनता के सुख-दुख की बात करते थे। फिर भी जनता उस पूँजीवाद के समर्थक ही की बात सुनती थी? कम्युनिस्ट पार्टी और सोशलिस्ट पार्टी चाहे आपस में एक दूसरे को मार्क्सवादी न मानें पर गांधी जी के सामने दोनों ही प्रगतिशील थे। गम्भीर प्रश्न है कि हमने गांधी के बराबर इनमें से किसी का भी प्रभाव नहीं देखा।

इसके दो जवाब दिये जाते हैं। एक तो यह कि भारत की जनता अर्धसामन्ती व्यवस्था में पली है, उसे धर्म के नाम पर जल्दी उल्लू बनाया जा सकता है, यही महात्मा बन कर गाँधी ने कर रखा है। दूसरे गांधी को बिरला आदि पूँजीपतियों का धन प्रचार के लिए प्राप्त है, और प्रगतिशील विचारकों के पास वह है नहीं। इसी कारण से लोग गांधी की बात सुनते हैं।

दोनों ही बातें सही हैं। परन्तु प्रश्न उठता है कि किस देश का पूँजीवाद यह काम नहीं करता? क्या रूस और चीन की जनता

कम धर्मान्ध थी ? क्या रूस और चीन में पूँजीवाद ने अपना प्रचार बन्द कर दिया था ?

आखिर कोई तो कारण होगा कि संसार के कुछ क्षेत्रों में पूँजीवाद जनता को बरगला कर अपना उल्लू सीधा करता है। यही इस बात का उत्तर है कि जहाँ पूँजीवाद जनता को बरगलाने की शक्ति रखता है, वहां क्रान्तिकारी विचारक इतनी अक्ल नहीं रखते कि ऐसा प्रचार करें जो जनता को एक दम तैयार कर दे। वहां क्रान्तिकारी आपस की फूट और मार्क्सवाद के गलत अध्ययन, देश की जनता और इतिहास से दूरी के कारण अपना उत्तरदायित्व नहीं निभा पाते, किसान-मजदूरों का संगठन नहीं कर पाते और इस प्रकार पूँजीवाद को बल देते हैं।

ध्यान से सोचने की बात है। लेनिन का न तो कोई पूँजीवादी प्रचार करता था, न वे धर्म के छद्म में थे। परन्तु उनकी बात को जनता ने सुना। क्यों सुना ? यहाँ पर एक बात और कही जायेगी कि गांधी के साथ मुख्यतः मध्यवर्ग था। पर ईमानदारी से सोच कर देखना होगा कि क्या गांधी भारत के हजारों-लाखों किसानों के बल पर अंगरेज शासकों से बात करते थे या केवल मुट्ठीभर मध्यवर्ग के बल पर ? स्पष्ट है कि उसके साथ जनता थी ! जनता का किसी नेता के साथ होना यह प्रगट नहीं करता कि नेता जनता के पक्ष में ही खड़ा है। हिटलर भी दिखावट में चुनावों से ही जीता था। पर क्या हम कह सकते हैं कि हिटलर और गांधी की जनप्रियता का एक ही आधार था ?

नहीं ! गांधी के प्रभाव में जोर-दबाव नहीं था। हिटलर के साथ संगठित फौज थी। पूँजीवाद ने अपनी फौज हिटलर को दी हिटलर ने राष्ट्रवाद का नारा लगाकर विजय हासिल की। गांधी को पूँजीवाद ने सहारा दिया पर फौज नहीं दी। प्रचार मात्र दिया। यह प्रचार और लोग भी कर सकते थे !

हिटलर की जीत इसलिए नहीं हुई कि पूँजीवाद जर्मनी में

ऐसा सर्वशक्तिमान था वरन् इसलिए हुई कि जनशक्तियाँ खंडित थीं। नाजीवाद राष्ट्रवाद की आड़ में उठा। एक युद्ध के खंडहरों पर उसने एक नया भूत खड़ा किया, जैसे राष्ट्रीय स्वयंसेवकसंघ के लोग भावना में लोगों को बहा ले जाना चाहते हैं। परन्तु गांधी में यह उग्रता निश्चय हीं नहीं थी।

तब फिर गांधी का इतना प्रभाव क्यों था? कारण तो हम दोनों ही ऊपर गिना चुके हैं। यहाँ पर एक बात समझने से गांधी का युग और चरित्र दोनों स्पष्ट हो जायेंगे। हो सकता है मार्क्सवाद के रूढ़िगत अनुयायी इसे समझना नहीं चाहेंगे क्योंकि उनके दकियानूसी दिमाग पर एक कील ठुकेगी।

गाधी पूँजीवाद का समर्थक तो था पर क्या वह केवल समर्थक ही था? हिन्दुस्तान पाकिस्तान का विभाजन हुआ था उस समय को देखना चाहिए।

विभाजन साम्राज्यवादी अंग्रेजों की एक चाल थी। हिन्दू और मुसलिम पूँजीपतियों ने धर्म की आड़ में लूट के अलग-अलग बाजारों के लिए लड़ाई की। दोनों ही ओर के पूँजीपतियों का स्वार्थ साम्प्रदायिक दंगों में ही प्रतिफलित था, पनप रहा था। कौन नहीं जानता कि इस दंगे के जमाने में राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ का जो जोर था वह अब नहीं दिखलाई देता। उस समय गांधी ने उसका इतना विरोध क्यों किया? नेहरू ने उसका विरोध क्यों किया? गांधी और नेहरू के इस विरोध के पीछे उनकी अहिंसक और मानवता पूर्ण दृष्टि थी और था इसमें भरत की सन्त परम्परा का प्रभाव। गांधी ने पूँजीपतियों के उग्रवाद के विरुद्ध अपनी जान देदी। यह इसलिए कि गांधी में संतों का दृष्टिकोण था। जो लोग इतिहास की इस परम्परा को बिना देखे-समझे गांधी की आलोचना करते हैं जनता उनकी बात नहीं सुनती।

बिरला विलायत चले विदेशी पूँजीपतियों से समझौता करने, गांधी ने उनका विरोध किया, किन्तु उसी गांधी ने ही चौरीचौरा,

बम्बई की नाविक क्रान्ति भी रोकी, मजदूरों के सत्याग्रह की बात को हिंसा कहा। हाथी को मन और चींटी को कन कहा। फिर हरिजन उद्धार की आवाज उठाई और फिर यह भी कहा कि अन्याय के सामने सिर न झुकाओ और अन्ततोगत्वा उसकी समस्त शक्ति ऐसी दिशा में चली कि उग्र पूँजीवाद इसको सहन नहीं कर सका और उसे मरवा दिया।

तो गांधी पूँजीवाद का समर्थक था या नहीं? वर्ग विश्लेषण तो यही कहेगा कि पूँजीवाद का समर्थक था। किन्तु फिर उसके चरित्र में यह विरोधाभास क्यों था? और फिर उसकी मृत्यु ऐसी हुई कि वह प्रगतिशीलों की पंक्ति में शहीद होकर गिरा।

बात जरा सोचने की है। इसे साफ करने के पहले जरा गांधी की अहिंसा को और देख लिया जावे।

भारत में दो बार अहिंसा के आन्दोलन चले, एक महात्मा बुद्ध के समय, एक गांधी के समय। कुछ लोग कहते हैं कि दोनों ने देश को नुक्सान पहुंचाया। पहले भारत वाल्हीक और गांधार तक था। अहिंसा के प्रचार के कारण सीमा प्रांत तक रह गया और अब तो दोनों ओर से छोटा होगया।

बुद्ध के समय में गण थे। गणों में उच्च कुलों का राज्य था, जिनमें रक्तशुद्धि का बड़ा गर्व था। उनके पास बड़ी-बड़ी जागीरें थीं। उनके पास दासप्रथा थी। बुद्ध ने अपना आदर्श गण संस्थाओं से लिया। गणों में बरावरी नहीं थी, रक्त गर्व था, दासप्रथा थी, गरीब-अमीर का भेद था, स्त्री को स्वतन्त्रता नहीं थी। बुद्ध ने अपने संघ में इन चीजों को मिटाकर बराबरी की। जातिभेद को तोड़ा स्त्री को स्वतन्त्र किया। दास, अमीर, गरीब के भेद को मिटाया। परन्तु क्या वह मिटा? एक-एक करके बुद्ध ने सेठों और राजाओं के दबाव में पड़कर सैद्धान्तिक रूप में तो सब स्वीकार किया पर व्यवहार में सब छोड़ दिया। उस समय दास-प्रथा टूट रही थी।

अर्द्ध गुलामी प्रथा उठ रही थी।* वह कहीं-कहीं अभी तक थी। मुख्यतः बुद्ध के बात सामंतकाल का उदय हुआ। चाणक्य के द्वारा उसकी स्थापना हुई। उदयन और अजातशत्रु इन्हीं सामंतों के आदि रूप थे, जिनके यहाँ दास-प्रथा टूट रही थी। उस समय उच्च कुल और राजा लोग भूमि और स्त्रियों के लिये लड़ते थे, अपनी शक्ति का क्षय करते थे उनको बुद्ध ने रोका। अहिंसा का प्रचार किया किन्तु समाज में अर्थनीतिक दृष्टि से अहिंसा के उपकरण नहीं जुट सके। समाज का ढाँचा वर्गवैषम्य के आधार पर था। व्यवहार में वर्ण-व्यवस्था थी। अतः अहिंसा भी उच्च कुलों के स्वार्थ को स्थापित रखने का शस्त्र होगई।

पाटलिपुत्र के उत्थान से व्यापार का संतुलन बदल चुका था (Balance of trade) किन्तु ध्यान रहे उत्पादन के साधन (Means of production) नहीं बदले थे। इस संतुलन-भेद से दास-प्रथा का टूटना अवश्यंभावी था, अर्थात् गण व्यवस्था का टूटना जरूरी था। दास अर्द्ध-दास हुआ तब सामंतप्रथा प्रारंभ हुई। ब्राह्मण धर्म इसका सहायक था अपने स्वार्थ के कारण। बौद्ध और जैन, गणों और साहूकारों के धर्म थे, उनमें अहिंसा थी दो मुखी। उच्चकुल परस्पर लड़कर स्वार्थ में खोये ताकि दास न उठें, दूसरी ओर क्षत्रिय और वैश्य ब्राह्मणों से शक्ति छीन लें। ब्राह्मणों ने क्षत्रियों को मिलाया और दास-प्रथा की टूटती अवस्था में भी विरोध नहीं किया। ब्राह्मण ने अपनी अवस्था ठीक करली।

ब्राह्मणों ने यवन आक्रमणकारियों के समय कृष्ण का वह स्वप्न पूरा किया कि गणों के ऊपर राज्य है। कृष्ण ने Theory of State का प्रारंभ किया। चाणक्य ने वह स्वप्न इतने दिनों बाद पूरा किया।

बौद्धमत की अहिंसा वर्ग के आन्तरिक विरोधों में परास्त हो

---

* सामंतवाद के किसान का रूप—सर्फ़ प्रथा।

गई। सीमान्त की जातियों को इससे शक्ति मिली। आत्म अधिकार (Self determination) का जो प्रभाव पड़ा, तो उसमें गान्धार चला गया।

गांधी की अहिंसा अंग्रेजों के विरुद्ध थी। स्वार्थवश पूँजीपति अहिंसावादी बन गये। जब तक अँग्रेजों से लड़ने का प्रश्न था पूँजीपतियों ने भी जनता का साथ दिया, क्योंकि विदेशी पूँजीपतियों की प्रतियोगिता में उनके बचाव का और कोई उपाय नहीं था। १६२१ से भारतीय पूँजीपतियों ने भी मजदूर आन्दोलन का किसी रूप में साथ दिया। किन्तु १६२६ के बाद नकशा बदल जाता है। १६२६ के बाद भारतीय पूँजीपतियों के हाथ में राज्य की शक्ति आने लगी और तब मिलों और कारखानों की हड़तालों में फौजों को बुलाकर मजदूरों को दबाया जाने लगा। इस प्रकार वह अहिंसा भी दो मुखी हो गई।

गांधी ने तो द्वितीय महायुद्ध के समय चर्चिल से हिटलर के विरुद्ध अहिंसात्मक युद्ध करने की प्रार्थना की थी। उनके अनुयायी हमारे देश में फौजें रखते हैं।

गांधी की दो मुखी अहिंसा के समय में एक बात हुई जो बुद्ध से लेकर अब तक के सन्तों के समय में नहीं हुई थी। गांधी के समय में उत्पादन के साधन बदल गये। अब तक के संतों के समय में उत्पादन के साधन नहीं बदले थे।

दक्षिण के लिंगायतों को लीजिए। १२ वीं सदी में यह संप्रदाय चला। शिव की पूजा करते थे। जाति-प्रथा के विरोधी थे और कायक पर जोर देते थे। कायक—शरीर के श्रम से पैदा हुई जीविका पर बहुत जोर दिया जाता था। कबीर, चैतन्य, कितने हुए जिन्होंने जाति प्रथा को तोड़ा। जाति-प्रथा थी उस समय का वर्ग-विभाजन। पर चूँकि उत्पादन के साधन नहीं बदले, वे केवल दलितों को कुछ सहूलियत दिला सके। वर्गभेद में उसके विभाजन के रूप में मूलरूप से अन्तर नहीं कर सके। अन्ततोगत्वा उन सब

का विचारधारा को ब्राह्मणवर्ग और शासक वर्ग स्वीकार करते गये। दयानंद भी ब्राह्मणवाद का नया रूप था, जिसने दलितों को और सहूलियतें दीं, गांधी इस परम्परा की अन्तिम कड़ी था। हरिजन, स्त्री, इन सब का उसने पक्ष लिया, पर उसका विचार और व्यवहार वर्ग-विभाजन के वैज्ञानिक दृष्टिकोण पर आधारित नहीं था। वह मानवता का ही (humanitarian) था।

गांधी के चरित्र का द्वन्द्व यों स्पष्ट हो जाता है। वह पूँजीवाद का परोक्ष रूप से वैसा ही समर्थक बना जैसे दलित की दुर्व्यवस्था से द्रवित संत अंततोगत्वा उच्च वर्गों के समर्थक बने। उनके अनुयायियों ने उनके क्रान्तिकारी रूप को नष्ट कर दिया। यही गांधी के साथ हुआ। परन्तु अब वह युग नहीं था। उत्पादन के साधन बदलने से वर्गविभाजन का आधार बदल गया था। गांधी का मानवतावाद इस युग में कैसे पनप सकता था? पूँजीवाद ने उसे मार दिया।

उसकी अहिंसा के दोमुँहे रूप के फलस्वरूप आत्म-अधिकार में भारत और छोटा हो गया। आत्मनिर्णय का अधिकार पूँजीपतियों के हाथ में आने के कारण दो दल विरोधी हुए। यदि जनता के हाथ में ताकत आती तो दोनों देश मित्र होते जैसे सोवियत संघ में है।

इस प्रकार हमने गांधी को देखा कि वह मूलतः संत परंपरा की अन्तिम कड़ी था, मानवतावादी था, और वर्गसंतुलन में वह उसी परंपरा में उच्च वर्गों का हामी था। परन्तु अब उस मानवतावाद की भारत के उच्चवर्गों को तभी तक आवश्यकता थी जब तक वह एक विदेशी के विरुद्ध उसका प्रयोग कर सकते थे। वे उस मानवतावाद को दलित वर्ग के किसी भी पक्ष का सहायक नहीं देख सकते थे।

गाँधी ने इस देश को जगाया। भारत में स्वतन्त्रता की लहर, जो गाँव-गाँव में दौड़ी वह मार्क्सवादी, कम्युनिस्ट और सोशलिस्टों

ने उतनी नहीं जगाई जितनी कि गांधी ने जगाई थी, गांधी ने दलित व्यवस्था के प्रति सबको जागरूक किया। पर साथ ही दलितों से कहा, 'विरोध मत करो।'

टाल्सटाय गांधी के गुरु थे। लेनिन ने रूढ़िगत मार्क्सवादियों से कहा था कि जहाँ टाल्सटाय गलत है वहाँ आलोचना करो जरूर, पर यह न भूलो कि उसने क्या किया? टाल्सटाय वास्तव में क्रान्ति का दर्पण था।

लेनिन प्रकाण्ड मेधावी था। उसके सामने मार्क्सवाद एक कसौटी थी। जिस पर ज्ञान की वह परख करता था। वह कसौटी को सोना कहने वाले मूर्खों में न था।

यही बात ठीक लागू होती है गांधी पर। गांधी क्रान्ति का यह आधुनिक रूप नहीं समझ पाया था। वह भारत में आने वाली महान् क्रांति का दर्पण था। जो इसे नहीं समझता वह इतिहास को नहीं समझता।

भारतीय जनता जिस संत परम्परा से परिचित थी वह उसकी अन्तिम कड़ी थी इसलिए उसका जनता पर इतना प्रभाव था। तभी वह धर्म-विरोध की इतनी बड़ी बात कह कर भी इस धर्म-प्राण जनता का नेता था। उसके सामने अन्य कोई भी नेता टिक नहीं सका। अभावात्मक जीवन को मान्यता देना संतों का ही काम था, जो गांधी में पूर्ण रूप से पाया जाता है।

गांधी की मृत्यु के समय मनीषी जार्ज बर्नार्ड शॉ ने कहा था :—
"यह प्रकट करता है कि आदमी का बहुत अच्छा होना कितनी बुरी बात है।'

गांधी को भारतीय इतिहास की महान्‌गति को समझकर ही समझा जा सकता है अन्यथा असंभव है।

अंगरेज जब भारत आये तो उस समय यहां के सामंतों ने उनका विरोध किया। कायदे से यदि रूढ़िगत मार्क्सवादी से पूछा जाये तो उत्तर मिलेगा—"यह क्रान्ति हुई क्यों क्रान्तिकारी बुर्जु-

आजी ने सामंतवाद की जगह ली।" परन्तु वास्तव में यहां भी विरोध रह गया। ब्रिटिश बुर्जुआजी का ध्येय मार्क्स की बातों को सिद्ध नहीं करना था, अपना स्वार्थ साधना था। उसने सामंतवाद को नष्ट नहीं, किया, वरन् उसमें समझौता कर के जनता पर दुगुना भार डाल दिया। इस प्रकार क्रान्ति का विरोधाभास प्रस्तुत किया।

गांधी सामंतवादी विचारधारा लेकर उतरा। इसमें बुर्जुआजी की स्वतन्त्र भावना भी थी। पर जनता के दुखों का दर्पण मात्र था, उनका हल नहीं था। गांधी क्रान्ति का दर्पण था।

आज भी सामंतवाद के अवशेष भारत में जीवित है। सर्वोदय समाज आज भी वर्ग संघर्ष को वैज्ञानिक ढंग से आर्थिक विश्लेषण कर के नहीं लेता, वह मानवता का समन्वयवादी दृष्टिकोण लेकर चलता है। वह पूँजीपतियों की हृदयहीनता का विरोधी है, परन्तु वह वर्गों का समन्वय चाहता हैं। बिनोबा भावे का आन्दोलन ऐसा ही है। वर्ग संघर्ष के वैज्ञानिक विश्लेषण की बात को भारत में यह लोग रूसी परंपरा कहते हैं। इस कथन का प्रभाव जनता में इसीलिये है कि कुत्सित समाजशास्त्री रूसी क्रान्ति को ही मार्क्सवादी क्रान्ति का पर्य्याय मानते हैं। रूसी क्रान्ति रूस की आवश्यकताओं के अनुसार हुई थी, भारत की परिस्थिति रूस से भिन्न है।

१९४७ ई० से पहले का भारत उपनिवेश था, १९१७ के पहले के रूस में जार भी रूसी था। रूस में वर्ण व्यवस्था नहीं थी, भारत में थी। रूस की केन्द्रीय सरकार शिथिल थी, भारत में अंगरेजी सरकार मजबूत थी। रूस में पूँजीवाद अविकसित था और सामंतवाद का विरोधी था। भारतीय पँजीवाद राष्ट्रीय रूप में विदेशी पूँजीवाद से दबा हुआ था, और विदेशी पूँजीवाद ने ह्रासकालीन सामंतवाद से गठबंधन कर लिया था।

१९४७ ई० के बाद के भारत में भारतीय पूँजीवाद में से बड़े

पूँजीपति विदेशी पूँजीपतियों से मिल गये, और राष्ट्रीय पंजीवाद अपना पूरा विकास नहीं कर सकने के कारण अभी तक प्रगतिशील तत्त्वों को अपने भीतर रखता है, क्योंकि वह साम्राज्यवाद का विरोधी है। यद्यपि आर्थिक ढांचा बदल रहा है, परन्तु वर्ण व्यवस्था अभी तक भारत में जीवित है जो प्रगति में एक रोड़ा है। छुआछूत, मन्दिर में हरिजन प्रवेशनिषेध, जातीयता के बंधन, विधवा विवाह-स्त्री स्वातन्त्र्य विरोध, आदि आज भी हैं और यह समस्याएं सामंतीय ढांचे की विरासत बन कर आज भी जीवित हैं। केन्द्रीय सरकार दृढ़ है।

पूँजीवाद का राष्ट्रीय रूप आज भी प्रगतिशील तत्त्वों का हामी है। जनता उठ रही है। और जातीय बंधनों को तोड़ देने का प्रयत्न हो रहा है। सामंतवाद धीरे-धीरे मर रहा है। किंतु खेतिहर जनता अभी तक उन्हीं पुराने उत्पादन के साधनों पर आश्रित है। ×

× हेगेल अपने द्वन्द्वात्मक आदर्शवाद के सिद्धांत से यह मानता था कि सारा संसार बदल रहा है। इस प्रकार जो कुछ जिस युग में होता है, वही उस युग में श्रेष्ठ है और उचित है। हमारा इस दृष्टिकोण से मतभेद है। हम यह मानते हैं कि जो हो रहा है, वह अपने कार्य्यकारणों से हो रहा है। परन्तु वह उचित ही है यह आवश्यक नहीं है। उसे श्रेष्ठ मान लेना भी ठीक नहीं है। वस्तुतः जो हो रहा है वह धीरे-धीरे हो रहा है। वह विकासवाद है। क्रांति को जल्दी भी लाया जा सकता है। परन्तु उसके लिये जनता में चेतना फूंकनी पड़ती है।

जनता में चेतना फूँकने का काम ही क्रान्तिकारी आंदोलन है। यह काम तभी हो सकता है जब क्रान्तिकारी दल का नेतृत्व जनता के तत्कालीन स्तर से बातें करे।

किसी का भी ऐतिहासिक मूल्यांकन करते समय हमें उसके

बहुधा रजनी पामदत्त जैसे विचारक कहते हैं कि गांधी यदि चौरी-चौरा काण्ड, नाविक विद्रोह आदि के बाद जनता को न रोकता तो जनता शीघ्र क्रान्ति कर लेती। परन्तु यह भूल है। संसार का इतिहास बताता है। कि प्रतिक्रियावादी नेता कभी जनता की बाढ़ को रोक नहीं सके हैं। लिबरलों के प्रभाव के बावजूद तिलक ने उग्रवाद की जय कराई थी। नेता के रोकने पर जनता कब रुकी है? जाग्रत जनता ने केरेन्स्की को रूस में कैसा उखाड़ फेंका था? समय और सामर्थ्य से पूर्व जो विद्रोह होता है वह सफल नहीं होता। १८५७ ई० में जो विद्रोह सशस्त्र रूप से हुआ था, वह इसीलिये सफल नही हो सका था कि देश में ही शक्तियां विदेशी की मदद कर रही थीं और देश में राष्ट्रीय चेतना का अभाव था। नये जमाने में नये तरीके की लड़ाई की जरूरत थी और वह बंगाल के मध्यवर्गीय आन्दोलन से राजा राममोहनराय के नेतृत्व में प्रारंभ

विषय में देखना चाहिये कि यह व्यक्ति किसका स्वार्थ सुरक्षित करता है।

गांधी ने पूँजीपतियों का स्वार्थ रक्षित किया था, परन्तु उसने उनका विरोध भी किया था। इस द्वन्द्व का मूल उसके समन्वयवाद और मानवतावादी त्यागवाद में था।

गाधी ने जो गलती की थी वह गलती ही रहेगी, पर जो उसने प्रगतिशील कार्य्य किया है, वह भी ध्यान देने योग्य है। उसे नहीं समझने के कारण और यूरोपीय इतिहास वाले दृष्टिकोण को ही देखने के कारण बहुधा यह लगता है कि यहां इतिहास की आवश्यकता के कारण प्रगतिशील चिंतन नहीं जन्मा है, वरन् बाहर से आया है, प्रगतिशील चिंतन हमारी राष्ट्रीय परम्परा में से ही उद्-भूत हुआ है। विज्ञान के सिद्धान्त किसी देश विशेष के नहीं होते, वे अन्तर्राष्ट्रीय होते हैं।

हुई, जो दयानन्द से होकर गांधी तक आई। अगर जनता १६२१ और १६४६ में क्रान्ति को समझ गई होती तो गांधी को उखाड़कर फेंक देती। वस्तुतः जनता उस समय तैयार नहीं थी। पूंजीवाद उस समय जनता के खेमे में था, साम्राज्यवाद का विरोधी था। आज भी जनता का कांग्रेस को जीवित रखना, यही प्रगट करता है कि जनता अभी तैयार नहीं है। जनता को १६३५ में अंगरेज किसी प्रकार भी दबा नहीं सके थे। कांग्रेस चुनाव में विजयिनी हुई थी। यद्यपि सम्प्रदायवाद के बल पर पाकिस्तान जन्मा था, परन्तु मुस्लिम राष्ट्रीयता को कोई नहीं दबा सका। हिन्दुओं ने उन्हें अपने समाज में स्थान नहीं दिया, उन्होंने राष्ट्रद्वेष का पथ पकड़ कर नया राष्ट्र बना लिया।

क्रान्ति जनता की परिस्थितियों को देखकर हो सकती है। समय से पहले या बाद में हमला करना अतिक्रान्तिवाद या शिथिलक्रान्तिवाद कहलाता है। अतः जननेतृत्व वही ठीक है जो जनता की परिस्थिति को समझता है, अपने दिमाग के चित्र की जनता का काल्पनिक स्वप्न नहीं देखता युग के बंधन देख कर ही नेता का एतिहासिक महत्त्व आँकना चाहिए।

यह गांधी का एतिहासिक मूल्यांकन है। आज गांधीवाद व्यर्थ है। नये समय में नये आदर्शों की मांग है। अब समन्वयवाद का युग नहीं है। परन्तु आज केवल मजदूर क्रान्ति का भी समय नहीं आ गया है। अभी संयुक्त मोर्चे का युग है, जो साम्राज्यवाद, सामंतवाद और बड़े पूंजीपतियों का विरोध करता है।

यह वर्त्तमान प्रगतिशील साहित्य का राजनीतिक स्वरूप है। सामाजिक कुरीतियों को मिटाना उसका सांस्कृतिक पक्ष है। मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठापना उसका कर्त्तव्य है। साहित्य को दुरूहता से बचाकर जनता के पास करना उसका काम है। जिस प्रकार अपने युग के बंधनों के रहते हुए भी संत लोग साहित्य को

जनता के पास लाकर अपने समय में सामंत वाद का विरोध करते थे, नये युग में नये युग की परिस्थितियों के अनुसार आज के लेखक को मानवता को मुक्त करने के लिये संघर्ष में जुटना आवश्यक है। और मनुष्य जीवन के सर्वांगीण रूप को प्रस्तुत कर के, अतीत की कल्याणकारी वस्तुओं को लेकर नये समाज का निर्माण करने में लगना अ

६—भाषा की समस्या का हल

भारत में विभिन्न जातीयता हैं। उनकी विभिन्न भाषाएं हैं। उनकी विभिन्न भाषाओं के अनुसार विभिन्न प्रान्तों का बनना वैज्ञानिक दृष्टिकोण है, और उचित है। जो समझते हैं कि इसमें भारत की एकता खंडित हो जायेगी, वे ठीक नहीं समझते। पूंजी-वादी नेतृत्व युद्ध की ओर प्रेरित करता है। जन नेतृत्व अपनी अपनी स्वतन्त्रता के लिये, दूसरों की स्वतंत्रता की मर्यादा का सम्मान करता है। जातियों का वैमनस्य दूर होता है, विकास का रास्ता बढ़ता है। यदि भाषावार प्रांत बनने पर समस्त जातियां एक संघ बनाकर रहना चाहती हैं तो भारतीय जातियों के लिये हिंदी की पारस्परिक विचार विनिमय की भाषा बन सकती है। हिंदी बोलने वालों की व्यापकता ही इस कथन का प्रमाण है। बिना एक भाषा के, छोटे छोटे संघ उन्नति नहीं कर सकते। रूसी भाषा को ही समस्त सोवियत् संघ के राष्ट्र आवश्यक विषय बना कर पढ़ते हैं।

हिंदी और उर्दू का प्रश्न इस समय भी बहुत ही जटिल सा दिखाई देता है क्योंकि आजतक इस प्रश्न की वैज्ञानिक ढंग से विवेचना नहीं की गई। उर्दू को भारतीय संस्कृति के विशाल उदर में एक विकार के रूप में स्वीकार करने वाले लोग उसे अब शरीर के बाहर फेंक देना चाहते हैं ताकि वह किसी भी प्रकार का विष भीतर फैला नहीं सके। उर्दू को दूर फेंकने का एक सहज कारण है, पाकिस्तान का निर्माण। परन्तु वस्तुतः यह एक भ्रम है क्योंकि जिन प्रदेशों में पाकिस्तान का निर्माण हुआ है, वहाँ कहीं भी उर्दू का प्रादेशिक क्षेत्र नहीं है। पंजाब, सिंध, तथा बंगाल ऐसे प्रान्त हैं

जिनकी अपनी विभिन्न भाषाएं हैं और उनकी अपनी एक एक संस्कृति भी है। केवल धर्म का एकत्व होने से यह चारों प्रांत वास्तव में ऐसे नहीं हो जाते कि उनकी भाषा भी एक ही हो जाये और वह भी ऐसी, जो इन चारों प्रदेशों में से एक की भी मूल भाषा नहीं है। उर्दू पाकिस्तान पर लादी जारही है। उसे लादने वाले कौन हैं? यदि इसी प्रश्न को हम ध्यान से देखें तो हमें यह नितांत स्पष्ट हो जायेगा कि उर्दू का प्रारंभ और विकास किस प्रकार हुआ। इस देश के नब्वे फीसदी मुसलमान मूलतः यहीं के निवासी हैं और मुसलमान हो जाने वाली जनता अधिकांश शैव या शाक्त तथा बौद्ध प्रभाव में रहने वाली थी, जो ब्राह्मणवाद अर्थात् जातिप्रथा को स्वीकार नहीं करती थी। यह जनता भारत के विभिन्न स्थानों में विभाजित थी, कुछ लोग सिंध में थे, तो कुछ लोग बंगाल में। कालांतर में इस्लाम को स्वीकार कर लेने के कारण इनमें दो तीन कारणों से एकत्व की भावना का उदय हुआ। एक कारण था कि मूलतः ब्राह्मण विद्वेष इनमें से गया नहीं। यहाँ ब्राह्मणवाद को ही ब्राह्मण का पर्य्याय समझना चाहिये। जातिप्रथा का विरोध करने वाली मनोवृत्ति उनमें जागरूक रही। इस विरोध के एकत्व ने इनमें एकता का सूत्र पिरोया। इससे भी बड़ा कारण था हिंदू समाज की इनके प्रति सामाजिक जीवन में घृणा, जिसमें यद्यपि यह लोग शासक थे फिर भी अछूत की भांति खान पान से दूर समझे जाते थे। तीसरा और सबसे बड़ा कारण था राजनीति की आवश्यकता। मुसलमान कम थे। हिंदू अधिक थे। बहुमत पर प्रभाव डालने का यत्न तो किया गया किंतु बहुमत स्वयं अपनी कुछ विशेषताएं लिये हुए था। वह विशेषताएं ऐसी विचित्र थीं कि उनके कारण अल्पमत को सहज ही अपनी रक्षा के लिये उद्यत होना पड़ा। वह विशेषता थी हिंदू समाज की विशाल ग्राह्यशक्ति। ऐसा संसार में कम देखा गया कि पारस्परिक मत भेदों के होते भी, इतने विभिन्न होते हुए भी, सब एक ही नाम से पुकारे जाया करें। हिंदू समाज की यह

विचित्रता ऐसी थी जिससे इस्लाम के अनुयायियों का डरना बहुत ही स्वाभाविक था। हिंदू समाज में इतनी सामर्थ्य थी कि वह समस्त मुस्लिम संप्रदाय को अपने भीतर मिला लेता, परन्तु उसे बराबरी का दर्जा नहीं देता। मुस्लिम इसके लिये तैयार नहीं थे। यह खेल या वर्ग संघर्ष अपने वाह्य पक्ष में जहाँ धार्मिक सा दिखाई देता है, भीतरी पक्षों में राजनीतिक और आर्थिक था। वस्तुतः यह उच्चवर्गीय हिंदुओं और उच्च वर्गीय मुस्लिमों का आंतरिक विरोध था। दोनों किसी प्रकार अपना अपना अधिकार रखना चाहते थे। जब मुसलमान उच्चवर्ग की राजनीतिक शक्ति का ह्रास हो गया तब अपने विशेष अधिकारों को सुरक्षित रखने की समस्या मुस्लिम पुजारी वर्ग और उच्चवर्ग के सामने आ उपस्थित हुई। और यह रक्षा उन्हें अपनी भाषा को सुरक्षित रखने में दिखाई दी। परंतु उस उच्चवर्ग ने अरबी फ़ारसी से प्रेरणा ली थी। और भारतीय मुस्लिम जन समाज उन भाषाओं को जानता नहीं था। अतः उन उच्चवर्गों ने यहीं की देशभाषा को अरबी फ़ारसी से रँग कर पेश किया और वह ही उर्दू बनी।

भाषा का प्रश्न क्या संस्कृति का रक्षक है? संस्कृति का मूल है मनुष्य को सुसंस्कृत बनाना। किंतु प्रत्येक देश का एक अपना रहन सहन होता है। उसकी अपनी भाषा होती है। और समाज यद्यपि बदलता रहता है, तथापि प्राचीन की स्मृति को ही बनाये रखने का प्रयत्न होता है। पुरानी वस्तुओं के प्रति अधिकांश मनुष्य को स्नेह होता है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण के अभाव में वह स्नेह श्रद्धा तक का रूप धारण कर लेता है। यह श्रद्धा ही पुजारी वर्गों द्वारा धर्म दृढ़तर करने के काम में लाई जातो रही है। अतीत का ऐसा भव्य वर्णन किया गया है, कि सब उसके प्रति बिना चिंतन किये ही श्रद्धावनत होते रहे हैं। जिन्होंने उसके प्रति विद्रोह किया है, वे भी वैज्ञानिक विवेचन के अभाव में, निष्पक्षता को धारण न कर सकने के कारण और समानांतर व्यवस्था न दे सकने के कारण

पराजित प्रायः ही होते रहे हैं। इसी श्रद्धा का वाह्य रूप भाषा है। भाषा स्वयं बदलती रहती है। परंतु यदि एक भाषा मूल है और उससे कई भाषाएं निकली हैं, तो अधिकांश यही देखा गया है कि वे नई भाषाएं अपने मूलोद्गम से अपने भण्डार को भरने का प्रयत्न करती हैं। वे अपने को उस भाषा से अलग करने का यत्न नहीं करती। संस्कृत के प्रति भारतीय भाषाओं के आर्य्य परिवार में यही मोह है। द्राविड परिवार की भाषाओं में भी संस्कृत शब्द है। परंतु यह जो दूसरे प्रकार का सम्बन्ध है, इसका कारण जातियों की एक दूसरी में अंतर्भुक्ति है।

भाषा वैज्ञानिकों का कथन है कि बहुत प्राचीन काल में वैदिक संस्कृत और फारसी का उद्गम एक ही भाषा से है। हो सकता है कि आज लोग यह कहने लगें कि दोनों में विशेष प्रीति नहीं हैं। परन्तु यह तो अब का लक्षण है। दोनों की समान शब्दावली, यही द्योतन करती है कि प्राचीन काल में दोनों में काफी समानता होगी और दोनों ने ही अपने मूलोद्गम से प्रेरणा ली होगी, लैटिन, संस्कृत और फारसी में जो समान गाथाएँ प्राचीन साहित्यों में प्राप्त हैं, वे उसी मूलोद्गम युग की देन हैं। यूरोप की भाषाओं में इसी प्रकार लैटिन के प्रति श्रद्धा रही है।

भाषा का मूल शब्द है। शब्द तभी सार्थक है जब उसका कोई अर्थ हो। अर्थ एक किसी वस्तु अथवा भाव का चित्रीकरण है। अर्थ और उसकी व्यञ्जना करने की शक्ति रखने वाली ध्वनि शब्द है। शब्द भाव जगत की चीज नहीं, वह वस्तुजगत की चीज है। अपने आप में उसका महत्व नहीं है। वह सापेक्ष है, मनुष्य के प्रयोजन में ही उसकी सत्ता का महत्व है। यदि कोई ध्वनि और उसमें व्यंजित अर्थ को जोड़ नहीं पाता, तो वह ध्वनि समूह मात्र है, शब्द नहीं है। शब्द का शरीर अक्षरों से बनता है। अक्षर वह है जो कभी नष्ट नहीं होता। यह नितांत सत्य है। अक्षर सब

जगह प्रायः एक हैं, उनका सम्मिलन विभिन्न प्रकारों का है और उनसे ही भिन्न भाषाएँ बनती हैं। स्वरों और व्यंजनों के प्रतीकों में अक्षर हैं। अक्षर कभी नष्ट नहीं होता का कथन भी तभी तक सत्य है जब तक मनुष्य के प्रयोजन का उससे सापेक्ष महत्व है अन्यथा वह ध्वनि मात्र है। अर्थात् अगर मनुष्य स्वर और व्यंजन को अपने प्रयोग में न लाये, और उनसे अर्थ ग्रहण करना बन्द करदे तो वह सब केवल ध्वनियाँ हैं। इन ध्वनियों को सार्थक रूप देने से ही अक्षर ने जन्म लिया है। अक्षर समूह से शब्द बना है, जिनके संघट्ट से अंततोगत्वा बनती है भाषा। वह भाषा किसी एक मनुष्य समाज की विचार धारा को व्यक्ति करती है। मनुष्य के वस्तु जगत का गुणात्मक परिवर्तन भावजगत में चित्रीकरण उपस्थित करता है और उसकी अभिव्यक्ति भाषा के द्वारा होती है।

भाषा अपने आप नहीं बनती। मनुष्य की सामाजिक क्रिया प्रक्रियाओं के फलस्वरूप उसका जन्म होता है। पारस्परिक मिलन के कारण भाषा बढ़ती है। और इसी प्रकार उसका विकास होता है। इस निरन्तर विकास शीलता के कारण ही भाषा भी निरन्तर बदलती रहती है।

यह भाषा की विकसित होने की क्रिया बड़ी धीमी होती है। इतनी धीमी गति होती है कि सहज ही मनुष्य उसे पकड़ नहीं सकता, क्योंकि भाषा एक व्यक्ति द्वारा नहीं बनाई जाती। वह अनेकों व्यक्तियों द्वारा एक ही समय में बनाई जाती है। इस विकास में जब नियंत्रण किया जाता है तो भाषा जहाँ की तहाँ रह जाती है, आगे नहीं बढ़ती। नियन्त्रण अधिक से अधिक साहित्य के क्षेत्र में हो सकता है, किंतु भाषा को किसी भी रूप में आगे बढ़ने से रोका नहीं जा सकता। कोई नहीं कह सकता कि भाषा का विकास कैसा होगा। वह निरन्तर बढ़ती ही जाती

है। अपना रूप बदलती हुई अपने को अधिकाधिक रूप में भावों का वहन करने योग्य बनती जाती है।

भाषा अपने भीतर मनुष्य के समस्त व्यक्त विचार को धारण करती है। वह पुरानी पीढ़ियों का ज्ञानसागर अपने एक एक शब्द और अक्षर के माध्यम से हमारे सामने उँडेलती है। यदि हमारे सामने भाषा नहीं होती तो हम अपने पूर्वजों के विषय में कुछ भी नहीं जान पाते। भाषा परम्परा से मुँहज़ुबानी भी चल सकती है और समझी जा सकती है, परन्तु उसको जीवित रखने का सहज तरीका एक लिपि बना लेने में है। परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि एक भाषा एक ही लिपि में लिखी जाये। पहले संस्कृत ब्राह्मी लिपि में लिखी जाती थी। अब वह नागरी लिपि में लिखी जाती है। लिपि के बदलने से भाषा नहीं बदलती। भाषा अपने व्याकरण के कारण अलग कहलाती है। एक भाषा विभिन्न भाषाओं से शब्द उधार लेती है, हजम कर लेती है, परन्तु अपनी धातु, क्रिया तथा प्रत्ययों के कारण ही वह भिन्न बनी रहती है। अस्तुः उर्दू और हिंदी के झगड़े में दो मूल तथ्य कहे जाते हैं। एक लिपि का भेद, दूसरा भाषा का भेद। हम देखते हैं कि दो लिपियों के होने से भाषा भिन्न नहीं बनती। दूसरे हिंदी उर्दू की क्रियाओं में भेद नहीं, शब्दावली में कुछ भेद हैं। वह भेद फारसी और संस्कृत से लिये गये शब्दों के कारण है। यदि विनयपत्रिका की तथा अनूपशर्मा के सिद्धार्थ की संस्कृतमयी भाषा हिंदी है, तो फारसी के शब्दों से भरी हिंदी व्याकरण वाली भाषा भी हिंदी ही है। मेरे एक मित्र ने कहा था कि यदि हम कहें कि 'मैं अपनी स्वीटहार्ट की ब्रेस्ट पर पिलो मान कर स्लीप में था।' तो क्या यह हिंदी होगी। निश्चय यह भी हिंदी है। दिलरुबा, प्रेयसी की भाँति स्वीटहार्ट भी एक पर्य्याय बन जायेगा। कुच, वक्ष, आदि की भाँति ब्रेस्ट एक और शब्द होगा। वही बात पिलो, अर्थात् तकिया के साथ भी होगी। इसे हम तब हिंदी मानलेंगे जब ब्रेस्ट, पिलो,

खोटहाट शब्दों का जनता में प्रचलन हो जावेगा। फारसी के जो शब्द उर्दू शैली में आते हैं वे जनता द्वारा काफी हद तक समझे जाते हैं। जो नितांत दुरूह हैं, वे कुछ ही हैं, और हमारे साहित्य के इतिहास में अजायब घर में रहने लायक वस्तु हैं।

उर्दू में कुछ प्रयोग ऐसे हैं जैसे तीरे नज़र। हिन्दी में नज़र का तीर कहा जाता है। यह प्रयोग उर्दू में केवल काव्य में संक्षिप्तता लाने के लिये हुए हैं। बहु वचन बनाने की पद्धाति भी फारसी व्याकरण से ली गई है, पर वह छूट रही है। हमारे ही व्याकरण को जब उर्दू वालों ने इस लायक पाया है कि उसके व्याकरण में यह परिवर्त्तन या लचकीलापन ला सके हैं, तो वह तो अब हिंदी व्याकरण का नियम है, क्योंकि न हिंदी का कोई रूढ़िवादी व्याकरण है जो परिवर्त्तन नहीं झेल सकता, न हिंदी ऐसी मृत भाषा है कि उसका व्याकरण एक नया प्रयोग नहीं ग्रहण कर सकता। Possessivcs संबंधकारक का यह प्रयोग नया है, पर अपनी एक विशेष शैली का अंग है। आगे भी इसका प्रयोग किया जा सकता है क्योंकि यह अच्छा है। हिन्दी में भी येनकेन प्रकारेण, किं बहुना आदि संस्कृत व्याकरण के प्रयोग हैं और ग्राह्य तथा अच्छे लगने के कारण वे मान लिये गये हैं। फारसी शब्द उर्दू में १००० के लगभग बताये जाते हैं। अधिकांश साहित्य बहुत कठिन नहीं है। श्रीगोयलीय की 'शेर ओ सुख़न' और 'शेर ओ शायरी' में इसका प्रमाण मिलता है। उर्दू शैली में जो नये छन्द हैं, वे हमारे साहित्य को भरते हैं। मसनवी को तो हम सूफियों के साथ ही हिंदी शैली में मान चुके हैं। पंडित हरिशंकर शर्मा ने इस विषय में अच्छा काम किया है और उन्होंने बताया है कि मूलतः छन्द एक ही हैं, पर उनके पढ़ने के तरीके अलग-अलग हैं। अब सानेट भी लिखे जाते हैं, क्या सानेट लिखने से भाषा हिंदी नहीं रह जाती ? मेरे एक मित्र ने कहा था कि यदि आप आज से पचास वर्ष पहले के किसी उर्दू वाले को समझाते कि तुम उर्दू नहीं, वस्तुतः हिंदी ही

लिख रहे हो, तो क्या वह समझ पाता? आप उसे कैसे समझाते? इसका उत्तर स्पष्ट है। मीर अपनी भाषा को हिन्दी या हिंदवी कहता था।

इस प्रकार लिपि के अतिरिक्त हिन्दी उर्दू अलग नहीं हैं। वे एक ही भाषा हैं। हिन्दी संस्कृत प्रधान है, उर्दू शैली फारसी प्रधान।

हिन्दी वाले कहते हैं कि उर्दू की परम्परा भिन्न है। विदेशी है, अतः उसे हिन्दी में नहीं लाना चाहिये। गालिब और तुलसी एक ही भाषा और संस्कृति के कवि नहीं लगते। किन्तु यह भी खंडसत्य है। भाषा एक संस्कृति से अधिक भी रख सकती है। जितने संप्रदाय होंगे, उनकी अलग सभ्यता या संस्कृति या आचरण होंगे। ये सब हमारे हैं। हम हिंदी को ब्राह्मणवादी दृष्टिकोण से ही क्यों देखें? हमारे यहाँ बौद्ध, जैन, ब्राह्मण और अन्य परम्पराएँ भी हैं। ईरानी सभ्यता से प्रभावित एक शैली भी है। उर्दू की प्रेरणा विदेशी स्रोतों से आई है, पर वे विदेशी स्रोत भी भारत के ही अंग हैं।

इस विवेचन का अर्थ है कि समस्त उर्दू साहित्य को, अधिक सरल होने के कारण नागरी लिपि में लेकर, हिंदी साहित्य में जोड़ लेना चाहिए और हिन्दी साहित्य के इतिहास को फिर से लिखना चाहिये। यह कोई 'चतुराई' की बात नहीं है, वरन् संस्कृति का वर्गीय दृष्टिकोण से निकल कर, ऐतिहासिक आवश्यकताओं में अपने को जन भाषा के निकट लाने को, व्यापकता धारण करना है। उर्दू वाले भारतीय संस्कृति की विरासत को धारण करने वाली हिंदी से दूर रखकर अपनी सांप्रदायिक और संकुचित शैली में ही पड़े रह कर, भारतीय राष्ट्रीयता से दूर रहते हैं। यह नहीं कि उर्दू में राष्ट्रीय परम्परा नहीं, परन्तु अधिकांश वे भारत के विषय में जानते ही नहीं। हिंदी वाले भी उनकी साहित्य शैली को नहीं जानते। यदि उर्दू जो हिंदी की शैली है, हिंदी साहित्य के

इतिहास में जुड़ जाये तो उर्दू वालों का भय दूर हो जायेगा। वे यदि फारसी लिपि फिर भी पढ़ना चाहें, तो पढ़ें, किंतु उन्हें हिंदी साहित्य भी पढ़ाया जाय और उसमें उन्हें इतिहास के सापेक्ष दृष्टि-कोण से नागरी लिपि में उर्दू शैली का साहित्य भी पढ़ाया जाय, तो उनका लिपि का संघर्ष शीघ्र नष्ट हो जायेगा। इस प्रकार दो विभेद दूर हो जायेंगे। उर्दू वाले अधिकांश महमूद गज़नवी को वीर कहते हैं। रूमूज़े बेखुदी में डा० इकबाल ने लिखा है कि इस्लाम मतानुयायी देश की सीमा में बंधे नहीं हैं। वे मूलतः मुसल-मान हैं। परंतु यह धार्मिक दृष्टिकोण है। वैज्ञानिक और जनहित के दृष्टिकोण से उच्चवर्गीय मत है। इस्लाम कोई जाति नहीं। मुसलमान अलग अलग हैं, और व्यक्तिगत दृष्टि से अपने संप्रदाय यानी मज़हब को मानने को स्वतन्त्र हैं, परन्तु उनका वह धर्म जब राजनीति और समाज में बाधा डालता है, तब प्रगतिशील विचा-रक उसका विरोध करने को बाध्य है। हिंदी वाले आज महावीर, बुद्ध, अर्जुन को राष्ट्रीय परम्परा में महान मानते हैं। उर्दू वाला उनके बारे में नहीं जानता। इसका कारण है कि वह दो सौ बरस भर का इतिहास जानता है। यह संकीर्णता सारे हिंदी साहित्य को पढ़ने से दूर हो जायेगी।

यह सवाल प्रगतिशील कहलाने वाले उर्दू के लेखक, जैसे सर-दार जाफरी भी कह उठते हैं कि उर्दू में हिन्दुओं की भी देन है अतः वह मुसलमानों की ही भाषा नहीं है। तर्क करने का यह तरीका संप्रदायवादी है। भाषा तो हिन्दी उर्दू एक ही है। दोनों में संस्कृत फारसी शब्दावली के प्रयोग से भेद हैं। लिपि का भेद है। उर्दू को हिन्दू मुसलमानों की गवाहियों से क्या मतलब? आप वैज्ञानिक ढंग से देखते हैं कि संप्रदाय गिनाते हैं? उर्दू में तो यूरोपीय लेखक भी हुए हैं।

उर्दू का विकास उच्च वर्गीय मुस्लिमों ने किया था, यहां हम संक्षेप में इसका विकास देखते हैं।

उर्दू और हिन्दी—अर्थात् खड़ी बोली भारत में बहुत पुरानी हैं। उसका साहित्य बहुत बाद में रचा गया है। खड़ी बोली से व्यापारी काम लेते थे। उसमें मुसलमानों के आने के पहले ही, भारत में आने वाले ईरानी सौदागरों आदि से व्यापार आदि में प्रयुक्त फारसी शब्द आ गये थे। ईरानी जानने वाले भारत में युधिष्ठिर के समय में ही थे। महाभारत में विदुर म्लेच्छ भाषा में बोला था।

यह शब्द हिन्दी में भरते रहे। जब मुसलमान विजयी हुए तब अलाउद्दीन खिलजी की आज्ञा से अमीर खुसरो ने खालिकबारी लिखी जिसे गांव-गांव में बंटवाया गया। × इससे पूर्व साद के पुत्र मसऊद ने रेख्ता काव्य बनाया। इन काव्यों में हिन्दी छन्द हैं। खालिकबारी की भाषा है—

मुश्क काफूर अस्त कस्तूरी कपूर,
हिंदुवीं आनन्द शादी और सुरूर।
मूश चूहा, गुर्बः बिल्ली मार नाग,
सोजनो रिश्ता ब हिंदी सूई ताग।

यह एक कोष है। खुसरो ने पहेलियां लिखी जिनमें फारसी शब्द आये—

बूझो तो मुश्क है, न बूझो तो गँवार।

खुसरो ने मणिप्रवाल ढंग की चीज लिखी—

× उर्दू साहित्य का इतिहास : ब्रजरत्नदास बी. ए. एल. एल-बी. काशी १९९१ सं०

डा० रामबाबू सक्सेना का अंगरेजी का उर्दू साहित्य का इतिहास तथा श्री चंद्रबली पाण्डेय की 'मुगल बादशाहों की हिन्दी' से संकलित।

मणिप्रबाल = मणि + प्रवाल। तमिल साहित्य में एक शैली है। संस्कृत + तमिल। वैसा ही यहां है। फारसी + हिन्दी।

जे हाल मिसकीं मकुन तगाफुल दुराय नैना बनाए बतियां
कि ताबे हिज्रां न दारम एजां न लेहु काहे लगाय छतियां।

फारसी छन्द शास्त्र के अनुसार फ़ारसी शब्दों से हीन कविता १७ वीं शती के मध्य में प्रारम्भ हुई। गोलकुण्डा के सुलतान मुहम्मद कुली कुतुबशाह इसके प्रसिद्ध कवि थे। [इस भाषा से मिलती-जुलती बम्बई की देंगा, करेंगा, वाली आधुनिक हिंदी है।]

उर्दू को पहले रेख्ता कहते थे। यह एक .फारसी के छंद का नाम है। उसी पर यह नाम पड़ा। इसे दखिनी भी कहते थे। खुसरो ने सिंधी, लाहौरी, काश्मीरी, डूंगरी, द्वारसमुद्र, तैलंग, गुजरात, मलाबार, गौड़, बंगाल, अवध, देहली की अलग अलग भाषाओं का बर्णन किया है। उसने कहा है कि पहले हिंदुई थी। जब जातियां मिल गईं तब हर एक छोटे बड़े ने फारसी सीखी। हिंदुस्तानी शब्द गिलक्राइस्ट साहब ने गढ़ा पर वह चला नहीं। एडवर्ड टेरी ने इस भाषा को इंडोस्तान कहा। रेख़्ता शब्द से ही रेख़्ती बनी। मुसलमानी राज्य के जम जाने पर भी पठान वंशों तक हिंदी ही दफ्तर आदि की भाषा रही। सिक्कों पर भी हिंदी में ही बादशाहों के नाम रहते थे।

खिलजी वंश की चढ़ाइयों के अनन्तर दक्षिण का प्रथम मुसलमानी साम्राज्य १३४७ ई० में बहमनी साम्राज्य के नाम से स्थापित हुआ। १५० वर्ष से अधिक रह कर यह नष्ट हुआ और ५ खण्डों में बँट गया, जो अलग-अलग राज्य बने। यहाँ गंगू ब्राह्मण (गंगाधर) ने मुसलमानों की नौकरी करली। फिर अधिकांश ब्राह्मणों को ही नौकरी मिलने लगी। फारसी की जगह राजकाज ब्राह्मणों के प्रबंध में हिंदुवी में लिखा जाने लगा। १६८६ ई० में गोलकुण्डा तथा १६८७ ई० में बीजापुर का अन्त हुआ। हिंदुओं ने संकट काल में नये मुसलमानों की जगह पुराने मुसलमानों का ही साथ दिया था। दक्षिण के हिंदुई कवि को जब पिंगल न मिला तो उसने .फारसी

छंदों में लिखा। शुजाउद्दीन नूरी गुजराती दखिनी हिंदी का पहला कवि माना जाता है। पर यह संदिग्ध है। १५८० ई० में मुहम्मद कुली कुतुबशाह गोलकुण्डा का सुलतान हुआ। यह अपना उपनाम 'कुतबा' और 'मुआनी' रखता था। इसने फारसी ढंग पर दीवान लिखा जो १८०० पृष्ठ का है और कुलियात के नाम से ज्ञात है। इसमें मसनवी, कसीदे, तरजींह बंद, .फारसी मर्सिये, दखिनी मर्सिये, .फारसी गजलें, दखिनी गजलें, रुबाइयां हैं। प्रेम, प्रकृति और विरह पर लिखा गया है, परन्तु पुरुष प्रेमी और स्त्री प्रेमिका की भारतीय परम्परा ही प्राप्त होती है। उपमाएं और कथानक हिंदी ही रहे हैं।

१६११ ई० में मुहम्मद कुतुबशाह सुलतान हुआ। 'जिल्ले अल्लाह' नाम से लिखता था। इसके बाद अब्दुल्ला कुतुबशाह (१६२६ सन् से १६७२ ई०) हुआ जो अब्दुल्ला उपनाम से लिखता था। इसने औरंगजेब से संधि की थी। इसके समय में अन्य कवि गवासी था जिसने तूतीनमः, क़िस्सै सैफुलमुल्क रचे थे। मौलाना वजीह (१६३५ ई०) सबीरस के रचयिता थे। यह सब कथाएं हिंदू नायक नायिकाओं की प्रेम-कथाएं थीं। छंद फ़ारसी था, लिपि फारसी थी, पर भाषा हिंदी थी। १६७२ ई० से १५८७ ई० तक अबुलहसन कुतुबशाह उपनाम 'तानाशाह' का राज्य रहा, जिसको औरंगजेब ने हराकर राज्य छीन लिया।

बीजापुर में फारसी कवि मुल्ला जहूरीरहा (१८५०–१६१६ ई०) इसका संरक्षक इब्राहीम आदिलशाह द्वितीय स्वयं हिंदी कवि था। उसने 'नौरस' लिखा है। १५५६–१६७२ ई० में अली आदिलशाह द्वितीय हुआ जो शिवाजी का समकालीन था। इसके दरबार में नसरती नामक कवि था। यह ब्राह्मण था पर मुसलमान हो गया था। इसने दखिनी में 'अलीनामा' और 'गुलशने इश्क' लिखीं, तथा 'गुलदस्तए इश्क' नामक काव्य संग्रह बनाया। जन्मांध हाशिमी

हिंदी का अच्छा कवि था। इसने दखिनी में 'यूसुफ वजुलेखा' लिखा था। दौलत तथा फैज़ा इसके समकालीन कवि थे।

उत्तर में बाबर था, जो तुर्की जानता था। हुमायूं के दरबारी कवियों में शेख अब्दुल वाहिब बिलग्रामी और शेख गदाई देहलवी फारसी के कवि थे, पर हिंदी में भी लिखते थे। 'छेम' कवि हुमायूँ का आदरपात्र था। 'फरीद' के नाम से शेरशाह हिंदी कविता लिखता था। उसके फारसी के फरमान नागरी अक्षरों में भी लिखे जाते थे। उसका पुत्र असलेमशाह हिंदी का कवि था—

असलेम शाह पियजी की ना

समभ्कत, जोबन जात परेखे।

सम्राट अकबर हिंदी का सेवक था। उसने नरहरि कवि की पालकी को कंधा देकर उठाया था। टोडरमल हिंदी कवि था, परंतु उसने दफ्तरों के काम फारसी में कर दिये थे। माल विभाग का काम फिर भी हिंदी में होता था। अकबर हिंदी का कवि था—

शाह अकब्बर बाल की बाँह अचिंत गही चलि भीतर भौने।

रहीम इसके समय में ही था जिसने मणिप्रवाल भी लिखा है—

इति वदति पठानी मन्मथाङ्गी विरागी,

मदन शिरसि भूय क्या बला आन लागी।

जहाँगीर के समय कटोरी, पांव आदि हिन्दी शब्द फारसी में भी चल पड़े। जहाँगीर ने कहा है—

साह जहांगीर जान बूझ कर सकुचावत इन नैनन में रैन बिहारे।

उसमान कवि ने लिखा है—

आएउँ सोई बार सुनि लिये गरीबीसाज,

कहा जो मांगु गरीब है, साहब गरीब निवाज।

जहाँगीर 'अहले हिंदवी' हिन्दी से कहता था। शाहजहाँ पहले तुर्की जानता ही नहीं था। उसके समय में हिन्दी थी। उसने पंडित-राज जगन्नाथ को गुन समुन्दर की उपाधि दी थी। वह हिन्दी में

पत्र व्यवहार करता था। उसने क़ैद से जो नागरी अक्षरों में पत्र लिखा था वह औरंगजेब ने पकड़ लिया था। शाहजहाँ की भाषा का नमूना है—

मनमोहन प्राणेश्वर की छवि रीझत, अति मति गति सुझी बुधि बिसारी।
सच अजहू भूल जैहै री तोहि सिख दैवो।

दारा और औरंगजेब के समय में हिन्दी और मुसलमान करीब आये थे। ऊपर हम अल्लोपनिषद् का उद्धरण दे आये हैं। यदि मुसलिम धर्म हिन्दी और संस्कृत में आ जाता तो यह सांप्रदायिकता नष्ट हो जाती। पर उच्चवर्गों और पुरोहित वर्गों में राजनैतिक संघर्ष हुआ। आलमगीर औरंगजेब जीत गया। पर उसे भाषा का डर न था। वह हिन्दी में लिखा करता था, उसे बढ़ावा देता था। उसकी धार्मिकता उसकी राजनीति थी। वह 'उदैपुरी' नामक हिंदू चहेती के कहने से शराब (इस्लाम वर्जित) भी पीने को तैयार हो गया या। जदुनाथ सरकार ने इस पर लिखा। उदैपुरी ने उसे रोक दिया था और कहा था कि तुझे धर्म से च्युत करना मेरा उद्देश्य नहीं था, मैं तो तेरे प्यार की सीमा देखती थी। अल्लामा शिबली नुमानी ने स्वयं लिखा है कि उसके समय में ब्रज-भाषा की बड़ी उन्नति हुई। ईरानी शायर ज़रीन ने हिन्दी सीख कर हिन्दी में लिखा था। औरंगजेब फ़ारसी के विलासी काव्य का विरोध था। उसकी कविता है—

जानन मन जान 'शाह औरंगजेब' रीझ रहे यही तें,
कहत तुमको विद्यारूप चातुरी।

वह सदाचारी काव्य चाहता था। वह शासन के सुभीते के लिये हिन्दी को अनिवार्य्य मानता था। वह मानता था कि कुरआन भी समझ में आने वाली भाषा में पढ़नी चाहिये। उसने हिंदी आकारांत शब्दों को फारसी में हकारान्त लिखने से रोका था कि भाषा विकृत न की जाये, जब उसके पुत्र ने उसे आम भेजे तो उसने उनके नाम 'सुधारस' तथा 'रसना विलास' रखे।

औरंगजेब के बाद मुस्लिम राजनीतिक शक्ति डाँवाडोल होने लगी। उस समय उच्च वर्गीय मुस्लिम शासक, पुरोहित मुल्ला वर्ग तथा विदेशी तत्त्वों ने हिन्दी को फारसी संस्कृति से लादना प्रारंभ किया, ताकि वे अपनी संकीर्णता की रक्षा करके अपने को अलग रख सकें, कहीं हिन्दुओं के विशाल सम्प्रदाय में खो न जायें और जहाँ पहले राजनीति थी, वहाँ उसकी निर्बलता में अब संस्कृति की रक्षा प्रारंभ हुई। डर का एक उचित कारण यह भी था कि हिन्दू मुसलमानों को शूद्र बनाकर स्वीकार करना चाहता था। यदि मुसलमानों के मुल्ला, पठान आदि ब्राह्मण, क्षत्रियों में ले लिये जाते तो शायद इतिहास कुछ और होता।

औरंगजेब का पुत्र आजमशाह हिन्दी कवि था। उसकी भाषा यह है—

'गात हम मन वच क्रम कर पहिचानी'

उसका पुत्र हिन्दी में कह गया है—

शाह आलम शाह के बिन मिले कहा ठाकुर होत है और दूसरे
अब आवत री बैरिन रतियां।

उसके बाद मुइजउद्दीन ने लिखा है—

मोरे गरवां फुलवन को हरवा।

उच्च वगीय मुस्लिमों में इसके बाद फर्रुखसियर के समय से हिन्दी के प्रति वैमनस्य बढ़ा। फर्रुखसियर के समय में सैयद बंधु सशक्त हो गये, जो पुराने मुसलमान थे। हिन्दुस्तानी थे। उन्होंने हिन्दी को बढ़ाया। नै अमीर सरदार जो ईरान से आये थे, उनके चैन में खलल पड़ा। औरंगजेब के समय में राजनैतिक स्वामी होने से उन्हें यह अखरा न था। अब अखरने लगा क्योंकि राजनैतिक शक्ति उतनी नहीं थे। औरंगजेब के बाद ईरानी और विदेशी तत्त्व छा गया था, जो सैयदों के बढ़ने से घबराया। सैयदों को मारा गया। मुहम्मदशाह रंगीला गद्दी पर बिठाया गया। पर वह सैयदों की तरफ झुका। उसकी माता विदेशी गुट्ट से जा मिली।

मुहम्मदशाह हिन्दी प्रेमी रहा। उस समय मुस्लिम उच्च वर्गीय विदेशियों ने लखनऊ के नवाब और हैदराबाद के निजाम के रूप में सिर उठाया। उर्दू इन्हीं जगहों से बढ़ी। वही भाषा थी, परन्तु उसमें अरबी और फारसी ठूसी हुई थी। मुहम्मद शाह की भाषा है—

होरी की ऋतु आई सखीरी चलो पिया पै खेलिये होरी।

इसके समय में अनेक भाषाओं से हिंदी में अनुवाद हुए और ब्रजभाषा की उन्नति हुई। वह राजनीति में विदेशी गुट्ट के साथ था, परन्तु संस्कृति में यहीं का था। उसकी बेगमें फ़ारसी नहीं जानती थी। उनके लिये फज़ली कवि ने हिन्दी में 'करबल कथा' लिखी थी। सौदा को फ़ारसी छोड़ उर्दू (हिन्दी) में कविता करनी पड़ी और इसका उन्हें केशवदास का सा खेद रहा। पहले जो भाषा बादशाही किले में उच्च वर्गीय विदेशी मुस्लिम तत्त्व आपस में बोलते थे, वह जो उनके प्रभाव में फौजों में बढ़ रही थी, अब राजनीतिक शक्ति के अभाव में उसका प्रचार बढ़ाया जाने लगा। सैयद इन्शा ने स्पष्ट किया है कि उर्दू की उत्पत्ति शाहजहाँनाबाद में 'खुश बयान' (उच्चवर्ग) लोगों ने की। इसे 'आमफहम' 'मुश्तरका' और 'नबी की जबान' कहा गया। राजनीतिकरूप से निर्बल मुगलों ने उसे स्वीकार किया। उर्दू के आदि कवियों में सिराजुद्दीन अलीखाँ (मृत्यु १७५५ ई०) ने ब्रजभाषा को सम्मान से देखा था। उन्होंने उर्दू का उल्लेख किया। शाह हातिम ने अपने देहलवी दीवान को फाड़ कर 'दीवानजादा' लिखा जो उर्दू का नहीं है, पर उसे उन्होंने उर्दू कहा। इस समय दक्खिन से वलीआया। साद अल्लाह 'गुलशन' के प्रभाव से वे उर्दू बनाने में लगे। साद अल्लाह सूफीगद्दी पर था। अमीनखाँ तब मंत्री था जिसने एक मकतब खोला था जिसमें उर्दू पढ़ाई जाती थी। यहाँ मिरजाओं और 'रिन्दों' की भाषा बनने लगी। धर्म की आड़ ली गई। रिन्द सूफी थे, मिर्जा उच्च वर्ग। इस भाषा को मुहम्मदशाह रंगीले की राजनैतिक असमर्थता में राज-

मुहर लगवाई गई। देहली में अंजुमन खुलवाई। उसमें जलसे होते और ज़ुबान के मसले छिड़ते। नवाब सैयद नसीर हुसैनखाँ साहब रक्माल ने इस अंजुमन के बारे में कहा है—'इमदतुल्मुल्क ने और उमरा के मशविरा से देहली में एक अंजुमन कायम की। उसके जलसे होते। जबान के मसले छिड़ते। चीजों के उर्दू नाम रखे जाते। लफ्जों और मुहाविरों पर बहसें होतीं और बड़े रगड़ों झगड़ों और छानबीन के बाद अंजुमन के दफ्तर में वह तहकीक-शुदा अल्फाज व मुहावरात कलम बन्द होकर महफूज किये जाते। और बकौले साहब सैरुल्मुताखरीन इनकी नकलें हिन्द के उमरा व रऊसा पास भेजदी जातीं और वह इसकी तकलीद को फख्र जानते और अपनी-अपनी जगह उन लफ्जों और मुहावरों को फैलाते।'

यह उच्चवर्ग का प्रयत्न स्पष्ट है, इसका परिणाम यह हुआ—'वह अल्फाज जिनमें हिंदी के ख़ास हुरूफ शामिल थे और .फारसी लफ्ज़ों में इस्तैमाल नहीं होते, जिनको .फारसीदाँ अपनी जबान से बासानी अदा नहीं कर सकते थे अरब से खारिज होने लगे। इसके अलावा वह अल्फाज़ भी जो अवाम की ज़बानों पर चढ़े हुए थे और ख़वास उनको बाज़ारी क़रार देते थे, मतरूक होने लगे। इस तरह कट छँट कर देहली की टकसाली उर्दू जबान तैयार हुई और उसकी गोद में उर्दू अदब की परवरिश होने लगी 'मुहम्मद-शाह के अहद से इसकी मुस्तक़िल तारीख़ शुरू होती है।'

उच्चवर्गीय प्रयत्न, मुस्लिम पौरोहित्य की राजनैतिक निर्बलता के समय फ़ारसी संस्कृति को बचाने की चेष्टा, जनता की भाषा से घृणा उर्दू के साँप्रदायिक रूप का प्रारंभ थी।

नादिरशाह ने रंगीले के समय में दिल्ली लूटी और चला गया। उसके बाद अहमदशाह गद्दी पर आया। उसकी भाषा है—

घटा ने छोड़ी लटा बूंदन की अब कहाँ रोऊँ माई।

इसके बाद मुग़ल राजकुमार उठती हुई मराठा, .सिक्ख और जाट चोट तथा यूरोपीय सौदागरों के कारण निर्बल हो गये।

ईरानी तूरानी सरदारों की स्पर्धा खेलने लगी। वजीर इमदुतुल्मुल्क की छाया में शाहजहाँ सानी गद्दी पर बैठा। सदाशिवराव भाऊ ने उसे हटाकर मिर्जा जवांबख्त को गद्दी दी। अहमदशाह अब्दाली ने उसे हटाकर शाह आलमसानी को गद्दी पर बिठाया। इस समय कंपनी सरकार का प्रभाव बहुत बढ़ गया था। अजीजुद्दीन की कविता में हिंदी उर्दू दोनों को ही स्थान मिला है—

अजीजुद्दीन उमगत जात है जोबना बह्यौ जात है पानी। (हिंदी)

तथा— जो होवे ख़ादिम निज़ामुद्दीन का दिल से ए ग़रीब
उसके तईं होता है ताज खुसरवी जग में नसीब। (उर्दू)

यह मुस्लिम धर्म की आड़ में ईरानी संस्कृति को उच्चवर्गों ने बचाने का प्रयत्न किया। औरंगजेब ने मुल्लावाद की सहायता लेकर अपने पौरोहित्य की रक्षा के लिये राजनैतिक युद्ध किया था। यहाँ सांस्कृतिक हुआ। औरंगजेब की तारीफ़ डा० इकबाल की रूमूजे बेखुदी में पढ़ने योग्य है, जहाँ कट्टर संप्रदायवादी दृष्टिकोण से दारा की निंदा और औरंगजेब आलमगीर को इस्लाम का रक्षक कहा गया है।

वली 'बाबाएरेख्ता' कहलाते हैं। १७०० ई० के लगभग औरंग-जेब के अन्तिम समय में दिल्ली गये। वहाँ सादुल्ला गुलशन के प्रभाव में आये। दक्खिन लौट कर रेख्ता का काव्य लिखा। रंगीले (१७१९–१७४९ ई०) के काल में लौटकर दिल्ली गये तो आपका अपूर्व सम्मान हुआ। वली की देखादेखी दिल्ली के कवि फ़ारसी छोड़ रेख्ता में कविता करने लगे। १७४४ ई० में वली की मृत्यु हुई। उनकी भाषा भी आज की उर्दू नहीं है। नासिख़ और हातिम ने बाद में भाषा को फ़ारसी से क्लिष्ट कर दिया।

साहित्य में उर्दू दरबारी भाषा रही, वहीं पली। विदेशी सौदागरों की साज़िशों, रुहेलों और मराठों के विद्रोह के समय में उर्दू का दिल्ली केन्द्र पल्लवित हुआ। गरीबी की मार से उर्दू के

लेखक दिल्ली से निकले और लखनऊ, और हैदराबाद, रामपुर आदि में जा बसे।

इसके बाद उर्दू चल पड़ी। यहाँ सारा इतिहास हम नहीं देंगे। हमने वर्ग संघर्षों और स्वार्थों में इसका विकास स्पष्ट कर दिया है। नजीर उर्दू का एकमात्र कवि जनता का कवि था, जो कभी नहीं दब सका, यद्यपि उर्दू के आलोचकों ने उसे बाजारू भी कहा था। नवाबों और रईसों के यहां आर्थिक रूप से निर्भर हिंदू उच्च-वर्गों ने भी उर्दू में कविता की थी।

उर्दू का वर्तमानकाल अंगरेजों के वफादार सर सैय्यद अहमद से प्रारम्भ होता है, जो अंगरेजों के कठपुतले थे। उन्होंने ग़दर (१८५७ ई०) का दोष हिंदुओं पर मँढ़ा और मुस्लिम जनता को बहकाया। ईसाई अंगरेजों की धर्म के नाम पर तारीफ़ की। उर्दू का बवण्डर सांप्रदायिता के नाम पर खड़ा किया। आप यह भूल नहीं सके थे कि आपके पूर्वज शाहजहाँ के समय में फ़ारस से आये थे।

किंतु साम्राज्यवाद के संघर्ष में राष्ट्रीय भावना का भी उदय हुआ। आज जो उर्दू पाकिस्तान में है वह भी हिन्दी है। उसे वे फ़ारसी अरबी से भरना चाहें तो भी वहाँ के प्रगतिशील तत्त्व उसका विरोध करेंगे। जब हम फिर एक होंगे तब वह साहित्य हमारा कहायेगा। कठिन फ़ारसी और अरबी भरी उर्दू इतिहास में चली जायेगी। उर्दू पाकिस्तान के किसी भाग की प्रादेशिक भाषा नहीं है।

इस प्रकार आपसी वैमनस्य को छोड़ कर देखना ही वैज्ञानिक जनवादी दृष्टिकोण का आधार है। पण्डित नेहरू की भाँति बात को न समझ कर टालना, कम्युनिस्ट पार्टी की भाँति चुप रहना, या अनर्गल विवेचन करना (देखिये इंडियन लिटरेचर में भाषा का मैमोरेण्डम), या पुरुषोत्तमदास जी टण्डन की भाँति सांप्रदायिक दृष्टिकोण रखना, या सुन्दरलालजी की भाँति वैज्ञानिक

विश्लेषण का अभावात्मक रूप लेना इस समस्या का हल नहीं है।

उर्दू हिंदी की शैली है। अतः इस शैली को हिंदी साहित्य के इतिहास में आदरणीय स्थान मिलना चाहिये।

उर्दू हिन्दी के अतिरिक्त हिन्दी के जनपदीय क्षेत्रों का बढ़ना भी आवश्यक है और जिन भाषाओं (ब्रज, अवधी, राजस्थानी, मैथिली, आदि) में पद्य है वहाँ शिक्षा बढ़ने पर उनका गद्य भी बढ़ेगा। इन जनपदों की शिक्षा उच्च कक्षाओं तक जनपदीय भाषाओं में ही होनी चाहिये। परन्तु क्योंकि यह जनपदीय भाषाएं हिंदी के ही रूप हैं, इनमें टेकनीकल शब्दावली एक ही हो तो आसानी से काम चल जायेगा। जनपदीय भाषा के साथ हिन्दी भी रहेगी और यह ही अच्छा होगा। हिन्दी राष्ट्र भाषा के रूप में इनमें रह सकती है।

टेकनीकल शब्दावली के लिये मेरी राय में अधिकाँश अंतर्राष्ट्रीय शब्दावली ले लेनी चाहिये, जिसका मूल लैटिन में है। विषयों के विशेषज्ञ शब्दों पर अच्छा विचार कर सकते हैं। विभिन्न हिन्दी के जनपदों की भाषा की जानकारी रखने वाले, तथा अंतर्प्रान्तीय विद्वानों के सम्मेलन से जो शब्दावली बनेगी, वही कोष महत्त्वपूर्ण हो सकता है। जो फारसी आदि के शब्द हैं वे रहने चाहिये, अंगरेजी के जो आगये हैं वे भी रहने चाहिये, पर जो बिल्कुल नये बनेंगे, उन्हें संस्कृत से लेना ही वैज्ञानिक दृष्टिकोण है। टैकनीकल शब्द सब नहीं समझ सकते। अंगरेजी का एम० ए० भी. मैडीकल के शब्दों को समझाने में समर्थ होता है तो कोष की सहायता लेकर ही।

यह सब हुआ उत्तर भारत के विषय में। दक्षिण में भाषाएं आर्य्य परिवार से नहीं निकलीं। वे द्रविड़ परिवार की हैं। दक्षिण

वाले हिंदी के विरोधी नहीं। केवल द्राविड़ संघ वाले ही इसे आर्य्य भाषा समझ कर विरोध करते हैं। इसे ब्राह्मणवाद का समर्थक समझते हैं।

यह सत्य है कि आर्य्य ब्राह्मण ने दक्षिण में कभी अत्याचार किया होगा। किंतु आज का दक्षिण का ब्राह्मण आर्य्य नहीं है। आर्य्यों के जाने के पहले भी द्रविड़ जातियों के समाज वर्गों में बँटे थे। दक्षिण में आर्य्य ब्राह्मण और द्रविड़ पौरोहित्य आपस में किसी प्राचीन काल में ही घुलमिल गये थे। आर्य्य ब्राह्मण ने समस्त द्राविड़ देवताओं की उपासना सीखली थी। शिव, गणेश, कार्त्तिकेय, लक्ष्मी यह सब अनार्य देवता हैं। कृष्ण आर्य्यों का देवता नहीं है, वह मगद्वीपी पुरोहितों के भागवत संप्रदाय का वासुदेव है, जो आभीरों के गोपाल से मिल मिला कर कृष्ण का रूप प्राप्त कर सका है।

द्राविड़ पौरोहित्य भी द्राविड़ जन समाज पर अत्याचार करता था। द्राविड़ योद्धावर्ग पहले लंका से दास पकड़ कर लाया करता था। यह वही बात है कि महमूद गजनवी ने सोमनाथ का मंदिर तोड़ा था अतः आज के मुसलमान से उसका बदला लिया जाय। या यह कि शंबूक को राम ने मारा था अतः अब ठाकुरों का कत्ले-आम शुरू किया जाय।

हम इतिहास में आगे आ गये हैं, और जनवादी दृष्टिकोण संप्रदायों के परे सोचता है। यह सत्य है कि आर्य्य अनार्य्य पुरोहित वर्ग ने दक्षिण में जनता का शोषण किया है, पर आज उनकी सत्ता नष्ट हो चुकी है। पुरोहित वर्ग उत्तर भारत में भी है। जातीय युद्ध उच्च वर्गों के स्वार्थ की आड़ होते हैं, वर्ग संघर्ष को भुला देने के लिये होते हैं। अतः दक्षिण की जनवादी शक्तियों को सचेत रहना चाहिये। दक्षिण पर कोई हिंदी लाद नहीं सकता, परन्तु हिंदी दक्षिण के लाभ की बात है, उससे भारत एक होगा। हिन्दी दक्षिण

में तामिल आदि के स्थान को नहीं लेगी, वरन् अंगरेजी का स्थान ग्रहण करेगी। मजे की बात तो यह है कि द्रविड़ कज़गम के लोग अंगरेजी के विरोधी नहीं है। दक्षिण भारत के लिये हिंदी से सहज कोई भाषा नहीं है। वहां की जनता, स्वार्थी नेताओं के बावजूद हिंदी सीख रही है।

हिंदी के प्रति सबसे उदासीन प्रांत बंगाल है। डा० सुनीति कुमार चटर्जी जैसे भाषा वैज्ञानिक हिंदी को मानते हैं, परन्तु १५ वर्ष बाद! और तब तक वे हिंदी के लिये बंगाल में क्या कर रहे हैं? कुछ नहीं।

भाषा का प्रश्न मुरव्वत का सवाल नहीं है। एक दूसरे की खातिर तवज्जह नहीं है। वह वैज्ञानिक प्रश्न है। जनवाद उसका आधार है। आर्थिक व्यवस्था और सामाजिक अंतर्भुक्ति जनताओं को समीप लाती है। यह सांप्रदायिकता, जातीयता, इस समाज की विषमता के कारण हैं। भाषा के प्रश्न को सुलझाना इसीलिये सीधे ही हमारे जनवादी प्रगतिशील आन्दोलन से सबंध रखता है। शोषणहीन समाज में ही जनताएं एक दूसरे की सीमा को तोड़कर गले मिलती हैं और पारस्परिक वैमनस्य दूर होता है।

स्तालिन ने कहा है कि भाषाएं आज अपनी-अपनी उन्नति करें इसी में आत्म निर्णय का अधिकार है। परन्तु भविष्य में एक ही विश्वभाषा हो जायेगी क्योंकि तब मनुष्य एक होगा। यह दूर की बात है। तब तक उस सान्निध्य को लाने का काम छोटे बंधनों को तोड़ कर राष्ट्रभाषा ही कर सकती है।

दक्षिण के द्राविड़ संघ वालों को जानना चाहिये कि हिंदी का विकास जनवाद के बल पर हुआ है, और वह केवल पुरोहित वर्गों की भाषा नहीं है। उसने सामन्तीय युग में निरन्तर उच्च वर्णों का विरोध किया है, और हिंदी ने साम्राज्यवाद का अजस्र स्वर से

विरोध कर के जनता की ताकत को उठाया है। वह किसी उच्चवर्ग द्वारा काँट छाँट कर नहीं बनाई गई, वह जनता की भाषा है। उसे संस्कृतनिष्ठ बनाने वाले जनवादी परम्परा के लोग नहीं हैं। वे लोग हिंदी में ही विरोध प्राप्त करते हैं। हिंदी में न केवल वर्त्तमान का संघर्ष है, वरन् वह संस्कृति की तमाम विरासत को अपनी गोद में पाल रही है।

७—प्रगतिशील मानदण्ड और साहित्य

प्राचीन काल में काव्य का अर्थ आज से अधिक व्यापक था। उस समय चंपू, नाटक आदि सब ही को यह नाम दिया जाता था। वेदकाल में तो कवि का अर्थ विद्वान ही समझा जाता था। कालांतर में काव्य का व्यापक अर्थ उससे छूट गया। उपन्यास, कहानी, रिपोर्ताज, फीचर, नाटक, एकांकी, गद्यकाव्य, निबंध, आलोचना इत्यादि अनेक रूपों में साहित्य प्रस्तुत होने लगा। पहले निघंटु भी छंद में लिखा जाता था। अब गद्य ने सब का स्थान ले लिया। 'काव्य' अब कुछ ही रचनाओं के लिए प्रयुक्त शब्द रह गया। प्रगतिशील साहित्यिकों ने गद्य साहित्य में अच्छी रचनाएं दी हैं, परन्तु काव्य क्षेत्र में अच्छी रचनाएं न आने के कारण इनको मर्य्यादा नहीं मिली है। काव्य क्या है यह प्रश्न सोचना आवश्यक है। पश्चिम में प्लेटो से लेकर क्रोचे तथा हडसन तक काव्य संबंधी विशेष मत हैं। भारत में भरतमुनि से पहले से लेकर जगन्नाथ पण्डितराज तक इस विषय का मनन हुआ है। आचार्य्य शुक्ल ने हिंदी में कविता क्या है, इस विषय पर स्वतन्त्र निबंध लिखा है। आचर्य्य का दृष्टिकोण हिंदी में अपना विशेष महत्त्व रखता है। आचार्य्य के उपरांत प्रगति के पक्षपाती समालोचकों ने काव्य मनन करते समय अपनी निर्धारणाएं प्रगट की हैं। उन्होंने कहा है कि काव्य को दुरूह नहीं होना चाहिये, जटिलता उसका दोष है। काव्य सरल हो तथा जनता की चेतना के अनुरूप हो, उसकी समझ में आने वाला हो, काव्य वर्ग संघर्ष में लड़ने का हथियार है। काव्य पलायनवादी नहीं होना चाहिये, उसे युग प्रतिबिंबित कर के जनजीवन को प्रतिध्वनित करना चाहिये।

परन्तु वे यह स्पष्ट नहीं करते कि कविता क्या है, क्यों लिखी जाती है ?

कविता मनुष्य की प्रतिभा का परिणाम है जो सीखने से नहीं आती। वह मस्तिष्क की उन प्रवृत्तियों का प्रगटीकरण है जो संवेदनात्मक होती है। आज तक कविता का संबंध हृदय से लगाया जाता रहा है। अतः जब हम मस्तिष्क शक्ति की बात कहते हैं, तब यह सहज ही स्वीकार नहीं की जायेगी। हृदय के विषय में सब जानते हैं कि उसका भाव, विचार आदि से कोई संबंध नहीं है। वह सब क्रियाएं मस्तिष्क में होती हैं। मस्तिष्क ही जब अपने विचार और भाव के अनुरूप काम करता है, तब उसकी शरीर पर भी प्रतिक्रिया होती है। उसे ही हृदय का धड़कना, आँखों का पथराना आदि समझना चाहिये। मस्तिष्क क्या है ? मनुष्य के सिर में एक भौतिक वस्तु है। उसके भीतर गुणात्मक परिवर्त्तन के रूप में शक्ति उत्पन्न होती है। वह कई प्रकार के विभाजनों में बँट सकती है। यह विभाजन हम अपनी सरलता के लिये करते हैं, वैसे यह सब एक दूसरे पर निर्भर हैं। प्रवृत्तियां जो अधिकांश जन्म से होती हैं, वे इसी का अंग बन जाती हैं। चिंतन, भावना आदि उसी के विभिन्न रूप हैं। भावपक्ष और बुद्धिपक्ष का वर्गीकरण इस आधार पर स्थित है कि पहला हृदय को अच्छा लगता है, दूसरा अक्ल को। इसके उदाहरण के लिये कहा जाता है कि जिस प्रकार मिठाई खाना अच्छा लगता है, परन्तु न खाना रोगी के लिये श्रेयस्कर है, इसी प्रकार भाव पक्ष व्यक्ति को वासना और 'रति' की ओर प्रेरित करता है; बुद्धिपक्ष मनुष्य को ऊँचा उठाकर, उसे निम्नताओं से उठाकर अच्छे मार्ग पर लाता है, वह 'योग' है। यहाँ 'रति' का व्यापक अर्थ लेना चाहिये, और 'योग' का अर्थ चित्त वृत्ति निरोध समझना उचित है।

हमारी संस्कृति और साहित्य की परंपरा में यह भेद बहुत पुराना है और इसीलिए काव्य को समझने के लिये सहृदय की

आवश्यकता मानी गई है। जो जीवन को छोड़ कर जाते हैं, इसके सुख दुखों के द्वन्द्वों को ठीक नहीं समझते, उन्हें कविता का असली पारखी नहीं माना जाता। अर्थात् जो वेदांत के अनुसार मायालिप्त हैं, वे ही काव्य के मर्मज्ञ हो सकते हैं। जिनके लिये यह जीवन सत्य है वे काव्य का आनन्द ले सकते हैं। अलौकिक चिंतन की पराकाष्ठा ब्राह्मणवादियों ने ब्रह्मानन्द की अनुभूति में स्वीकार की है। काव्याचार्य्य इस काव्यानन्द को ब्रह्मानन्द सहोदर मानते हैं। हमारे देश में ब्रह्म को न मानने वाले भी अनेक संप्रदाय रहे हैं। हम सारांशतः यही कह सकते हैं कि काव्य के आनन्द को उस काल्पनिक चरमानन्द के समान मनुष्य ने माना है, जिसे सब यदि प्राप्त नहीं करते, तो कुछ लोगों ने ही उसके बारे में कहा है। अर्थात् काव्यानन्द सर्वश्रेष्ठ आनन्द है। यह आनन्द क्यों प्राप्त होता है? आचार्य्य कहते हैं कि जब पाठक और लेखक के भावों का तादात्म्य हो जाता है, अर्थात् जब लेखक की रचना पढ़ कर पाठक की वही अनुभूति जाग उठती है जो लेखक जगाना चाहता है, तब भाव का साधारणीकरण हो जाता है और मनुष्य मनुष्य की बात को हृदय पक्ष की रागात्मिका वृत्तियों के तादात्म्य से समझने लगता है और उसमें रम जाता है। इस रमने की क्रिया से जो आनन्द उत्पन्न होता है, वही आनन्द है जो ब्रह्मानन्द सहोदर है, और सर्वश्रेष्ठ आनन्द है।

आचार्य्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसी को अपना आधार माना था। तभी उन्होंने रहस्यवादी उक्तियों को चमत्कार प्रधान बता कर सर्व श्रेष्ठ काव्य नहीं माना था, क्योंकि वे रचनाएं साधारण सहृदय व्यक्ति के हृदय को आंदोलित नहीं करतीं, वे काव्य के समाज पक्ष को ही श्रेष्ठ मानते थे। उनका दृष्टिकोण ब्राह्मणवादी था। ब्राह्मणवाद भारत में अपने अनेक रूप बदल चुका है और राष्ट्रीय जागरण बेला में उसने जो उठते हुए पूंजीवाद के अनुरूप अपना दर्शन, दयानन्द के द्वारा प्रस्तुत किया

था, उसमें अपना आधुनिकत्व प्रत्येक क्षेत्र में प्रगट किया था। आचार्य्य शुक्ल में भी वही है। किन्तु वे युग द्वन्द्वानुसार, जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, काफी हद तक सामंतीय समाज के ढांचे को श्रेयस्कर समझते रहे। आचार्य्य शुक्ल की सब से बड़ी देन यह हैं कि उन्होंने काव्य की आत्मा के संबंध में अनेक संघर्ष कर के, यह सिद्ध किया कि काव्य के अलंकार, उक्ति-चातुर्य्य, ध्वनि आदि वाह्य परिवेष्टन हैं और काव्य की आत्मा मूलतः रस है। भरत ने जो रसवाद पर कहा था, उसीको उन्होंने अपने ढंग से प्रगट किया। पाश्चात्य चिंतन के नये नये वादों ने उन्हें पराभूत नहीं किया। वे यह मानते थे कि "हृदय पर नित्य प्रभाव रखने वाले रूपों और व्यापारों को भावना के सामने लाकर कविता वाह्य प्रकृति के साथ मनुष्य की अंतः प्रकृति का सामंजस्य घटित करती हुई उसकी भावात्मक सत्ता के प्रसार का प्रयास करती है।" रस मीमांसा पृ० ७ तथा—"सुन्दर और कुरूप—काव्य में बस ये ही दो पक्ष हैं। भला बुरा, शुभ, अशुभ, पाप-पुण्य, मंगल-अमंगल, उपयोगी-अनुपयोगी ये सब शब्द काव्य क्षेत्र के बाहर के हैं। (पृ० ३२) वे लोक कल्याण की भावना को ही ब्रह्म के माध्यम स्वरूप से काव्य का सौंदर्य्य पक्ष मान कर, उसे ही उसके आनन्द का कार्य मानते हैं। स्थायी भावों का वर्णन उन्होंने सुखात्मक और दुखात्मक, नामक दो विभागों में किया है।

किन्तु यह विवेचन पूर्ण नहीं है। काव्य केवल भावात्मक सत्ता का प्रसार नहीं है, वह संवेदना को जाग्रत करने वाली मानवीयता का उदात्त स्वरूप है। प्रत्येक मनुष्य सोचता है। कुछ लोग (मैग-डूगल, डे आदि) तथा आचार्य शुक्ल भी कुछ सीमा तक मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं को काव्य का आधार मानते हैं। मूलतः अंतः प्रवृत्ति और भाव में अन्तर होता है। रस प्रक्रिया में (Subli mation) उदात्तीकरण की जो भावना (Concept) सर्व युगीन साहित्य को मापने का मानदण्ड बनाना चाहती है, वह केवल एक

संकुचित दृष्टिकोण है क्योंकि उदात्त की भावना युगानुरूप होती है। एक युग का 'उदात्त' दूसरे युग का नहीं होता। अन्तः प्रवृत्ति जन्म से आती है। वह केवल एक है। आत्मरक्षा का यत्न। बालक में भी यह जीवित रहने की इच्छा होती है। यह पशुओं में भी होती है। ज्यों-ज्यों बालक बड़ा होता है जीवित रहने की लालसा अपने अनेक रूप और कार्य्य व्यापारों को प्रगट करती है। इस इच्छा का पर्य्याय ही समाज है। जैसे जैसे इस इच्छा का विकास होता है, मनुष्य का विकास भी होता है। यही उसकी मानवीयता है। जिसे पुराने आचार्य्य 'रति' कहते थे, वह मूलतः यही 'मानवीयतावाद' है। काव्य का आदि, मध्य और अन्त इसी मानवीयतावाद की अभिव्यक्ति है, जो मनोविज्ञान के आधार से प्रगट होती है। मनोविज्ञान काव्य का मूलाधार नहीं है, क्योंकि वह युग-व्यवस्थाओं से प्रभावित होता है।

भावपक्ष, मनोविज्ञान, वासनाएं, चिंतन, और उपचेतन की शक्तियां यह सब हमारे मस्तिष्क की शक्तियां है, मनुष्य की भौतिकता के गुणात्मक परिवर्त्तन हैं। कल्पना, सौंदर्य्यबोध दोनों ही इसके भिन्न रूप हैं। कल्पना यद्यपि असीमित है, किंतु वह सीमित है, क्योंकि कल्पना प्रत्यक्ष के ही बिंबप्रतिबिंब से अपना साहश्य देख कर जन्म लेती है और परोक्ष में वह जब कि अपना विस्तार करती हुई प्रतीत होती है, तब भी वह अपनी सीमाओं को लांघ नहीं पाती। वह अगणित (innumerable) है, किन्तु सीमित (Limited) है। सौंदर्य्य बोध समाज की भावनाओं से सदैव सापेक्ष रहता है। हम कभी उन वस्तुओं में सौंदर्य्य नहीं देखते, जिनकी उपादेयता समाज किसी भी युग में या किसी भी रूप में स्वीकृत नहीं करता। इस सब का कारण यह है कि मनुष्य का विकास व्यक्तियों के रूप में उनके समाजीकरण के बाद जन्म लेता है।

जन्म लेने वाला मनुष्य उस अवस्था में मस्तिष्क लेकर जन्म

लेता है। मस्तिष्क वह स्थान है जहाँ भौतिक तत्त्व अपनी क्रिया-शीलता, द्वन्द्वता में गुणात्मक परिवर्त्तन के रूप में चेतना उत्पन्न करते हैं और वह चेतना बुद्धि, भाव, प्रवृत्ति, कल्पना, मनोविज्ञान आदि का विकास करती है। इनका जिसमें विकास हो चुका है, वही काव्य का आनंद लेता है। पागल तभी उसे समझ नहीं सकता, यद्यपि उसका हृदय स्वस्थ होता है। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि मस्तिष्क ही कविता का क्षेत्र है। मस्तिष्क की शक्तियों का एक रूप नहीं हैं। वहाँ अनेक शक्तियाँ हैं। वे सब मिल कर काव्य को जन्म देती हैं। इन शक्तियों में अनुभूति जब प्रधान होती है तब काव्य का जन्म होता है। अनुभूति प्रधान काव्य ही वास्तविक काव्य है क्योंकि वह दूसरों को भी उसी प्रकार रमा लेता है, जिसे साधारणीकरण कहते हैं। इतिहास बताता है कि काव्य का जन्म संगीत की ध्वनियों के बाद हुआ है। ध्वनियाँ जब सार्थक हुई हैं तब भाषा अर्थात् शब्द समूह बने हैं जो समाज में व्यक्ति और व्यक्ति के पारस्परिक संबंध को स्थापित रखने वाले माध्यम बने हैं। हमारा समस्त काव्य इन सार्थक ध्वनि समूहों में प्रगट हुआ है, यह ही बताता है कि हमारा काव्य तब ही जन्म लेता है, जब हमारे पास अपनी चेतना, कल्पना, भाव, प्रवृत्ति, मनोविज्ञान, विचार तथा अनुभूति को प्रगट करने का एक सामाजिक माध्यम होता है। काव्य कैसे जन्म लेता है, इसका स्पष्टीकरण यही है। क्यों जन्म लेता है इसका उत्तर निम्नलिखित है—व्यक्ति की दूसरे व्यक्ति से समान भूमि पर अनुभूति द्वारा सामीप्यीकरण की चेष्टा ही काव्य को जन्म देती है। काव्य मस्तिष्क की उन प्रवृत्तियों का प्रकटीकरण है जो संवेदनात्मक होती हैं। इसीलिये काव्य को यद्यपि अभी तक खंड रूपों में बताया गया है, परंतु आचार्यों ने यह एक झलक प्राप्त करके ही अनुभूति के पर्य्यायरूप में अपने युगानुसार बंधनों में रहकर, उसे हृदय पक्ष की बात कहा है। मनुष्य की सर्वश्रेष्ठ अनुभूतियों की अभिव्यक्ति कविता है। सर्वश्रेष्ठ

शब्द अपने युग के अनुसार सापेक्ष होता है। परन्तु उसकी एक वस्तु सदैव रहती है और वह है समाजीकरण के द्वारा उत्पन्न हुई मानवीयता। उस मानवीयता की अनुभूति के जाग्रत रहने के कारण ही, काव्य बनता है। पुराने आचार्य जिसे रस कहते थे, वह मूलतः इसी मानवीयता की अभिव्यक्ति है। जिसे उन्होंने सबमें समान रूप से स्थित माना था। प्रेम, क्रोध. वात्सल्य, सुख, दुख, सब ही इसी मानवीयता के मूलाधार हैं। इन्हीं का विकास अथवा प्रगटीकरण इसीलिये आजतक काव्य का आधार माना जाता रहा है। भाव स्थायी माना जाता है। किंतु यह भाव समस्तरूप से समाज के नियमों से प्रभावित रहे हैं। किसी युग में जिस घटना से वीर भाव उत्पन्न होता है, अन्य परिस्थिति अथवा अन्य युग में उसीसे वीभत्सभाव भी जन्म ले सकता है। अतः रस शास्त्रियों का यह कहना कि यदि कवि किसी भी रचना में कहीं वीर रस भरता है तो युगांतर तक, उसको पढ़ कर वीररस ही जाग उठेगा, और पाठक अथवा श्रोता पर वही प्रभाव पड़ेगा, यह ठीक नहीं है। समस्त संचारियों के उचित वर्णन के बाद भी, स्थायी भाव तब ही पाठक या श्रोता के ऊपर वही प्रभाव डाल सकता है, जो श्रोता या पाठक के युगानरूप उसको ग्राह्य हो सके।

फिर काव्य में क्या वस्तु है जो अतीत की कथाएँ पढ़ने पर भी वही आनंद प्राप्त होता है, जबकि उस युग की समस्याएँ हमसे दूर हो जाती हैं। वह चित्रण की सफलता होती है, चित्रण सफलता मानवीयता की चित्रण सफलता से प्राप्त होती है अन्यथा नहीं। मनुष्य की प्रवृत्तियाँ (instincts) बहुत धीरे-धीरे बदलती हैं, क्योंकि संसार में सब कुछ गत्यात्मक है, स्थिर कुछ भी नहीं है। किंतु गति का रूप उसके क्षेत्र में बहुत ही धीमा होता है। इसीलिये पुराने काव्य में हमें सब कुछ ज्यों का त्यों पसंद नहीं आता। जितनी प्रवृत्ति ही बदल जाती है, उतना हम अनजाने ही नापसंद

करने लगते हैं। बाकी प्रचीन भी हमें मानवीय भावनाओं के कारण, अपनी संवेदनात्मकता के कारण पसंद आता है।

काव्य केवल अनुभूति जनित आनंद का उच्छ्चलन नहीं है, क्योंकि यहाँ अनुभूति वैज्ञानिक शुष्कता से प्रगट नहीं होती, व्यक्ति में सीमित नहीं हो जाती, साधारणीकरण के द्वारा एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति के पास पहुँचती है।

काव्य केवल प्रचार नहीं है। वैसे तो मोटे तौर पर समस्त काव्य अभिव्यक्ति के माध्यम से प्रचार हैं, परन्तु दृष्टिकोण विशेष के प्रगटीकरण के छन्दबद्ध रूप को काव्य नहीं कहा जा सकता, यदि उसमें मानवीयता की ऊष्मा नहीं है। काव्य की आत्मा उसकी मानवीयता है। रस की निष्पत्ति वह साधारणीकरण द्वारा करती है, कल्पना उसका प्रसार है। सौंदर्य्यबोध उसका सत्य के विभिन्न सापेक्ष रूपों से तादात्म्य है। जिसे रिचार्ड वासना की झंकृति मानता है, वह काव्य की आत्मा नहीं, आत्मा का एक और रूप है, जो तभी सफल है जब उसकी साधारणीकरण के द्वारा अभिव्यक्ति हो।

सत्यसदैव सापेक्ष होता है। अतः उसकी स्थापना विज्ञान का विषय है। काव्य में सत्य का समावेश होता है, परन्तु जब काव्य केवल उसी की स्थापना में लगता है तब जीवन के अन्य क्षेत्रों को छोड़ देता है। उक्तिचारुता काव्य का एक लक्षण मात्र है। वही सब कुछ नहीं है। चमत्कारवाद भी उक्तिचारुता का ही एक अंश है। रसात्मक वाक्य काव्य की अभिव्यक्ति का माध्यम है। काव्य जनित आनंद की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया समाज नियम की सापेक्षिता की ओर देखती है। अतः वह उसकी एक सीमामात्र है। अभिव्यञ्जनावादी, आत्मवादी और ध्वनिवादी जिस आध्यात्मिक प्रक्रिया में इस आनंद को खोजते हैं, वे अध्यात्म को बुद्धि से अलग करके देखते हैं। जिसे पहले आत्मा कहते हैं, वह अब मस्तिष्क चेतना का ही एक रूप प्रमाणित हुई है अतः अध्यात्म वह भूमि है यहाँ बुद्धि

तर्क त्याग कर के समर्पण में निहित होती है। इसलिये तर्कवाद और अध्यात्म बुद्धि की क्रिया प्रक्रियाओं के दो स्वरूप हैं। इन दोनों ही को काव्य का आधार नहीं माना जा सकता।

मनुष्य की प्रवृत्तियों की गत्यात्मकता इतनी धीमी है कि हम उसे सहजही जान नहीं पाते। प्रश्न उठता है कि यदि वे गत्यात्मक हैं तो बहुत कुछ खोकर और बहुत कुछ पाकर मनुष्य आज भी मनुष्य क्यों बना हुआ है ? बुद्धिवादी युग में क्या काव्य को विचार प्रधान बना कर हम उसकी आत्मा 'भाव' की हत्या नहीं कर रहे हैं ? प्रस्तुत प्रश्न एक एकांगी दृष्टिकोण है। गत्यात्मकता धीमी है अतः उसकी गति का रूप एक दम नहीं बदलता। अतः साम्य बना रहना सहज स्वाभाविक है। विचार प्रधान काव्य अनुभूति की संवेदना यदि नहीं जगाता तो वह एकांगी होने के कारण स्वयं नष्ट हो जाता है।

काव्य किसी भी विषय पर हो सकता है। हिटलर पर भी कविता लिखी जा सकती है। किंतु प्रश्न उस पर लिखे हुए काव्य का रूप है। रावणपर जो काव्य लिखा गया है, वही हिटलर पर भी लिखा जा सकता है। यदि कोई व्यक्ति रावण और हिटलर को पूज्य आदरणीय और आदर्श बना कर काव्य लिखता है तो उसकी वर्णन शैली मात्र अच्छी होने पर प्रभाव डाल सकती है, परन्तु वह अधिक नहीं। राम द्वारा शम्बूक वध इसी प्रकार की घटना है। अपने युग में भले ही युग सत्य अर्थात् वर्गवादानुसार उसने उदात्त भावों की सृष्टि की हो, परंतु अब राम का वह भव्य चित्रण शम्बूक संबंध में वीर के स्थान पर वीभत्स को जन्म देता है। लोक कल्याण की भावना मानवीयता का ही उदात्त स्वरूप है।

सब मनुष्य मूलतः रागद्वेषादि में समान होते हैं। इसलिये काव्य के पुराने आलोचक एक 'सामान्य' मानव को काव्य का आधार मानते हैं। वे सामान्य हृदयसत्ता की कल्पना करते हैं, क्योंकि दोनों प्रकार के (शोषित-शोषक) व्यक्तियों को प्रेम चर्चा

आदि प्रिय लगती है प्रस्तुत धारणा यह मान कर चलती है कि साहित्य को वर्ग संघर्ष आदि से दूर रहना चाहिये, क्योंकि यह राजनैतिक असंतोष कुछ दिन का है। परंतु यह प्रगतिशील साहित्य की पहली बात है। वह वर्गों का संघर्ष इसलिये नहीं दिखाता कि केवल घृणा ही फैल जाये। वह संघर्ष के माध्यम से संसार में फैली बुराइयों को स्पष्ट करता है। वह यह प्रगट करता है कि एक सी भावनाओं का मनुष्य जब आर्थिक विषमता के भिन्न भिन्न प्रकार के स्वार्थों में पड़ता है तब उसे उनके अनुरूप ही बदल जाते देर नहीं लगतो। प्रेमचंद ने ऐसे जमीदारों का चित्रण किया है जो बहुत अच्छे आदमी हैं, परंतु वर्ग स्वार्थ उन्हीं को क्रूरतम बना देता है। प्रगतिशील साहित्य यह प्रगट करता है कि समाज की पूरी जानकारी आवश्यक है। मनुष्य की भावनाओं का जन्म दैवी नहीं है वरन् वह अपने भौतिक से प्रभावित होता है। सामान्य मानव में स्त्री पर बलात्कार देख कर क्रोध उत्पन्न होता है। परंतु यदि समाज में बलात्कार न्याय हो (पैशाच पद्धति) तो वह क्रोध नहीं होगा। प्रगतिशील चिंतन मनुष्य के वाह्य का विश्लेषण करके उसकी मनस्थितियों का सही चित्रण करता है। उसके बिना सामान्य 'मानव' की कल्पना अर्थ हीन है। गत्यात्मक समाज में एक ही घटना से सामान्य मानव में एक सी प्रतिक्रिया नहीं होती। मजदूर को भूख से मरते देख कर पूंजीपति में दया क्यों उत्पन्न नहीं होती? अपनी मां बहिनों के सम्मान के लिये प्राण देने वाला मनुष्य समाज में इतनी मां बहिनों को वेश्या बनते देख कर भी हाहाकार क्यों नहीं कर उठता? विभिन्न परिस्थितियाँ विभिन्न भावनाओं को जन्म देती हैं। काव्य सामाजिक है यह हम कह आये हैं, अन्यथा कवि अपनी बात दूसरों को सुनाना ही क्यों चाहता है? वह लोक कल्याण चाहता है। लोक कल्याण की भावना में युगों में परिवर्त्तन होता रहता है। अतः भावनाओं में भी परिवर्त्तन होता है। प्रगतिशील साहित्य कभी यह नहीं कहता

कि पूंजीपति को अपने पुत्र की मृत्यु पर शोक नहीं होता। वह तो उसे उसकी सामाजिक परिस्थिति में सापेक्ष रख कर देखता है। वह यही मानता है कि एक वर्ग का स्वार्थ दूसरे वर्ग का स्वार्थ नहीं होता। वेद के ब्राह्मण शूद्र का स्वार्थ एक न था, न राम रावण का, न उपनिषद् के ऋषि और चाण्डाल का, न द्रोण और एकलव्य का, न बौद्ध और ब्राह्मण का, न तुलसी और कबीर का, न भारतेन्दु और रुडयार्ड किप्लिंग का।

प्रगतिशील साहित्य ही नहीं वरन् आज तक का साहित्य बदलता रहा है। उसका रूप बदला है। युग व्यवस्थाओं में लोक कल्याण की भावना ले जब कवियों ने विभिन्न वर्गों के मानवों की सामान्य वृत्तियों का सफल चित्रीकरण किया है, तभी वह अपनी उस मानवीयता के कारण साहित्य बन सका है, जो कालांतर में भी हमारी मानवीयता को उदात्त से उदात्ततर बना सका है। साहित्य बदलता रहा है, तभी तो प्रगति आज से प्रारंभ नहीं होती, हम आदि से ही ढूंढने का प्रयत्न करते हैं। कब और किस प्रकार कवि ने मनुष्य की कल्याण गरिमा को अपने युग के बंधनों के ऊपर उठाकर दिखाया है, वही हमारे लिये प्रेरणाप्रद है। उसी मानवीयता में हम अपना तादात्म्य आज भी करते हैं। उनके युग बंधनों को तो हम स्वीकार नहीं करते। क्रिया प्रतिक्रिया इतिहास में होती आई है, परंतु उनका सामाजिक कारण अभी तक ज्ञात नहीं था, अब हम उसको पकड़ सके हैं। आज का प्रगतिशील दृष्टिकोण प्रतिक्रिया मात्र नहीं है, वरन् वह आज तक की विरासत की मानवीयता उदात्तस्वर को लेकर, नये मानव की प्रतिष्ठा में लगा हुआ संगीत है जो आगे के लिये पथ प्रशस्त करता है। यह जीवन का सर्वांगीण चित्रण है जो वर्ग संघर्ष को बुनियादी मानकर भी, केवल वर्ग संघर्ष को ही मनुष्य चेतना का पूर्णरूप नहीं मानता और यह भी नहीं मानता कि मनुष्य अपनी सामाजिकता के बिना भी मनुष्य बन सकता है। उसका दृष्टिकोण सापेक्षता के कारण

व्यापकतम है और संकुचित व्यक्तिवाद का इसीलिये वह विरोधी है।

मम्मट ने काव्यपुरुष की कल्पना में ध्वनि, रीति, शब्द, अर्थ, अलंकार, गुण, वृत्तियों आदि का समन्वयकर रसवाद की स्थापना की थी। आधुनिक काल में श्री नंद दुलारे वाजपेयी और श्री गुलाबराय इसी प्रकार के नये रूप ढूंढने के प्रयत्न में हैं। परंतु भरत का रसवाद मूलतः साधारणीकरण पर निर्धारित है। यह याद रखना चाहिए कि बर्बर दास प्रथा का समाज, भरत के समय समाप्त हो रहा था और सामंतवाद का उदय हो रहा था। इससे पहले के रूप में वेदकालीन कविता है। वेद में जनता के विभिन्न रूपों को भी अभिव्यक्ति मिली है। पुरोहित वर्गों ने बाद में अपने स्वार्थ की सिद्धि करने वाली ऋचाओं को ही एकत्र करके हमारे सामने रख दिया है। आरण्यकों, ब्राह्मणों, उपनिषदों में ब्राह्मण पुरोहित वर्ग के हाथ में ही साहित्य और काव्य दिखाई देता है। महाभारत जैसा विशाल ग्रन्थ बर्बर दास प्रथा के टूटने के समय का ग्रंथ है, जिसने विभिन्न जातियों के वैमनस्य को दूर करने के प्रयत्न में जातियों की अन्तर्भुक्ति के साथ, आकार धारण किया है, किन्तु उसमें लड़खड़ाते समाज का भाग्यवाद सर्वोपरि है। सामंतवाद के उदय ने समाज में दास प्रथा को समाप्त करके अर्द्ध गुलाम किस्म के किसान को जन्म दिया। और यह समाज में एक प्रगति थी। उस समय नये मानव ने भाग्यवाद को चुनौती दी और राम जैसे लोकनायक की भावना का उदय हुआ जो अपने पौरुष से समस्त विपत्तियों को मिटाता है। उस हलचल में स्त्री का वह रूप प्रगट होता है जो जीवन संग्राम में सीता के समान कांटों पर चलती है और अग्नि में प्रवेश करके अपनी पवित्रता का प्रमाण देती है, किन्तु धरती की बेटी अपमान न सहने के कारण सामाजिक व्यवस्था के सामने सिर नहीं झुकाती और सदेह वसुन्धरा में प्रवेश

करके प्रमाणित करती है कि मैं फिर धरती में मिल कर वहीं जाती हूँ जहाँ से आई थी।

भरत के समय में पुरोहित वर्ग के हाथ से काव्य छीना जा रहा था। समाज की नयी शक्तियाँ विकास कर रहीं थीं। तब काव्य की व्याख्या हुई। और भरत ने पहले के छुटपुट चले आते रस संप्रदाय के विचारों को मथकर यह तथ्य निकाला कि मनुष्य समान हैं। अतः रसवाद के आधार पर, सामाजिक दृष्टिकोण ने, साधारणीकरण को स्वीकार करके, काव्य को जनता तक पहुँचाया।

महाकवि कालिदास ने शकुन्तला को प्रेम की गरिमा दी और स्त्री के उस भव्य रूप को दिखाया, जो 'अबला' नाम से विद्रोह करता है। उसने विदेशी आक्रांताओं के विरुद्ध राष्ट्र को रघुवंश और कुमार संभव में जाग्रत किया। उसने मेघदूत में और ऋतु-संहार में विलास भी दिखाया, परन्तु प्रेम की मर्यादा अखंड स्थापित की। मेघदूत का प्रेम केवल संचारियों के सौंदर्य्य में समाप्त नहीं हो जाता, वरन् वह देश का वर्णन भी करता है। और व्यक्ति को एकांगी नहीं बनाता।

कालिदास के उपरांत जैसे-जैसे विदेशी आकाताओं की पगचाप हिंदूकुश के परे ही सुनाई नहीं दी, वे भारत में नहीं आये, तब अपनी प्रगति को समाप्त कर चुकने वाला सामंतवाद जनता पर बोझ बन गया। परन्तु उत्पादन के साधन नहीं बदलने के कारण समाज की समस्याएँ उलझती ही चली गईं। भामह, दण्डी, अभिनवगुप्त, विश्वनाथ, कुन्तक, राजशेखर, और जगन्नाथ आदि ने नये-नये रूप दिये। इन्होंने ध्वनि, वक्रोक्ति, स्फोटवाद आदि के सिद्धान्तों द्वारा काव्य को दरबारी बनाने का प्रयत्न किया। जनसाधारण के लिये जो अधिकार भरत ने स्वीकार किया था,

इन लोगों ने बार-बार उस पर हमला करके, काव्य की नई परिस्थितियों के अनुसार, नई व्याख्या करने की चेष्टा करके, उसे जनता से छीन लेना चाहा। परन्तु वे इसमें असफल रहे तभी मम्मट ने समन्वयवाद का पथ पकड़ा था।

प्रगतिशील साहित्य उसी साधारणीकरण के सिद्धांत का वर्त्तमान रूप है। वर्त्तमान होने के कारण वह रसवाद को ज्यों का त्यों 'स्वीकार नहीं' करलेता।

प्रगतिशील आलोचक यह मानता है कि मनुष्य 'सामान्य' है और उसकी 'सामान्यता' उसके चित्रण का आधार है, परन्तु वह इतना ही खंड सत्य नहीं देखता। वह युग के अनुरूप परिस्थिति में रखकर मनुष्य के 'सामान्य' को देखता है। जिस प्रकार सामंत-काल ने नाट्यशास्त्र के माध्यम से 'धीरोदात्त' आदि नायक की कल्पना की प्रतिष्ठापना की थी उसी प्रकार नये रूपों को, नये सत्यों को प्रगतिशील लेखक स्थापित करता है। वह वर्ग संघर्ष को अपना और अतीत की सामाजिकता का वैज्ञानिक विश्लेषण मानता है। रसवादी जब कवि के वर्णित रस द्वारा युगांतर तक पाठक में उसी भाव और रस के उदय की कल्पना करता है, तब प्रगतिशील आलोचक उसे नहीं मानता। किन्तु मानव की प्रतिष्ठा, 'मानवीयता' का वर्णन, वह भी साहित्य का आधार मानता है, तभी वह भी इतिहास और साहित्य में भेद मानता है, वह मानवीयता के वर्णन को शीघ्र-गत्यात्मक जगत, में 'स्थिर रूप प्रतीत होने वाला गत्यात्मक' विषय मानता है। और नग्न मानवीयता को निराधार समझ कर उसे युग के वस्त्र पहनाता है और यही उसका 'कला-कला के लिये' वालों से भेद है। वह 'उपादेयतावाद' की भी सीमा मानता है। कला कला के लिये नहीं, मनुष्य के लिये हैं। मनुष्य समाज का प्राणी है। समाज का प्राणी आवश्यकताएँ देखता हैं। प्रगतिशील विचारक सौंदर्य सृष्टि के सामाजिक कल्याण वाले रूप

को कला, और सामाजिक कल्याण के कलात्मक रूप का काव्य की उपादेयता मानता है।

कला वर्गों में बंटी नहीं होती। उसकी अभिव्यक्ति विभाजित होती है, जो वर्गों का स्वार्थ साधती हैं। ब्रह्मवादी ब्रह्म को शाश्वत मानते थे अतः उन्होंने स्थिरता को खोजने की बड़ी चेष्टा की थी। जो गत्यात्मकता के द्वन्द्वात्मक रूप को मानते हैं वे उस स्थिरता को नहीं मान सकते।

काव्य की अभिव्यक्ति के कई स्वरूप हैं। अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना आदि। यह सब काव्य के लिये ग्राह्य हैं। किन्तु जो व्यञ्जना साधारणीकरण की भूमि पर नहीं फलती फूलती वह अग्राह्य है। काव्य किसी बात को सीधा कह देने स भी हो जाता है। किसी विषय को घुमाफिरा कर भी कहना पड़ता है। यह भेद विषयानुसार ही देखना चाहिये। जितना ही सांकेतिक (Sugges-tive) रूप होगा और फिर भी सहज होगा काव्य उतना ही श्रेष्ठ होगा।

काव्य केवल वर्ग संघर्ष का वर्णन नहीं है। वह मानवीय भावनाओं की विभिन्न सीमाओं को छूता है। आधुनिक प्रगतिवादी ही इस संकुचित दृष्टिकोण को नहीं मानते कि प्रत्येक लेखक केवल वर्ग संघर्ष के आधार पर अंकित किया जाये। महाकवि रवीन्द्र की असंख्य रचनाएँ जो वर्ग संघर्ष को नहीं बतातीं—जैसे, उर्वशि, सोनार तरी, कचदेवयानी, इत्यादि, उनकी मानवीयता, सौंदर्य्य चित्रण ही उनका प्राण है। आभिजात्यकला वह नहीं है जो जीवन के विभिन्न रूपों को देखती है, या सांकेतिक वर्णन करती है, वह वह कला है जो साधारणीकरण की भूमि को छोड़ कर एक वर्गमात्र के सत्य को ही सबका सत्य और स्वार्थ समझ कर 'कला कला के लिये' चिल्लाती है।

लोकानुभूति से कवि में आत्मानुभूति उदय होती है जो व्यक्ति-गत प्रक्रिया से सामाजिक रूप लेकर कविता बन कर फिर लोकानु-

भूति का प्रश्रय ग्रहण करती है। काव्य की गहराई इसमें है कि वह पाठक से कितने अंश तक अपनी अनुभूति को मिलाता है। मौलिकता इसमें है कि वह उसे कितना नया सौंदर्य और अभिव्यक्ति के नये रूप देता है। ऊँचाई इसमें है कि वह उसे कितना उदात्त बनाता है।

किसी कवि को पढ़ कर उसके विचार और दृष्टिकोण मात्र का अध्ययन करके उसके चित्रण और उसकी व्यंजना को न देखना उसके प्रति अन्याय करना है। कोई लेखक अपने विचार से वर्ग स्वार्थ का पोषक हो सकता है। किन्तु उसकी कला में चित्रण और ही बात प्रगट कर सकता है। तालसताय क्रान्ति विरोधी था, किंतु उसकी रचनाओं में क्रान्ति का दर्पण था।

हमारी हिंदी का रीतिकाल काव्य के एक संकुचित रूप का वर्णन है। उसमें बहुत छोटी भूमि को लिया गया है। रीतिकाल जीवन के बहुत छोटे अंश को चित्रित करता है। उसमें श्रृंगार प्रधानता है। वीर काव्य भी है, और अपनी छंदादि की सीमाओं में बद्ध है। जहाँ उसने जन-जागरण दिखाया है और मुस्लिम साम्राज्यवाद का विरोध किया है, वहाँ वह प्रगतिशील है, किन्तु जहाँ वह सामन्तों के गुणगान का वर्णन है, वहाँ वह निष्प्राण है। जहाँ उसमें मानवीयता उदात्त हुई है वहाँ प्रेम के उज्ज्वल रूपों में वह प्रगतिशील है, दूसरी ओर जहाँ केवल व्यभिचार है वह उदात्त नहीं बनाता। देव में प्रेम का अच्छा वर्णन है। रसखान में हिंदू मुस्लिम वैमनस्य का अन्त है। पूर्णरूप से समस्त रीतिकाल शैली के सौंदर्य्य का चित्रण करता है। किंतु हम केवल शैली के सौंदर्य्य को काव्य जैसी व्यापक वस्तु का पूर्ण सौंदर्य्य नहीं मानते। रीतिकाल अधिकाँश उक्ति चारुता पर निर्भर हैं, और उक्ति चारुता काव्य का एक अंश है सर्वाङ्गीणरूप नहीं। राधा कृष्ण का विलासी रूप मुगल बादशाहों तक को प्रभावित कर गया था और उसने धार्मिक संकीर्णता को हटाया था। यह वैमनस्य को दूर कर सकने वाली

रीतिकालीन काव्य की शक्ति मानी जा सकती है। संस्कृत प्रधान इस रीतिकाव्य ने दरबारी शक्ति का विकास किया था। इसका समानान्तर रूप, उर्दू शैली में, ईरानी संस्कृति ने, दर्बारों में 'माशूकों के जनाजे निकाल कर' प्रस्तुत किया। रीतिकाल किसी निराशा की प्रतिक्रिया नहीं थी जो इसकी रचनाओं को रस संचार करने वाला मान लिया जाये। निम्न वर्णों के संत आन्दोलनों की शक्ति को, जब समन्वयवादी उच्च वर्णों के स्वार्थ सिद्ध करने वाले भक्ति संप्रदायों ने दबा दिया, और उच्च और निम्नवर्णों के पारस्परिक युद्ध दब गये, तब भारतीय सामंतों के दो रूप हुए। एक वे सामंत जो मुगलों (विदेशी मानी जाने वाली संस्कृति के प्रतीक) से दब गये और समझौता करने लगे। दूसरे वे सामंत जो जनता की पीड़ा से सहायता लेकर, अपने को मुगलों का विरोधी मानते थे। रीतिकाल में ऐसे वीरभाव और शृङ्गार भाव दोनों मिलते हैं, किन्तु संघर्ष का नेतृत्व उच्च वर्गों के हाथ में रहने से, कविता दरबारी ही बनी रही।

भक्तिकाल में सूर हुए थे। उनके काव्य की सामाजिकता में 'योग' विरोध है। परन्तु उनका बाल वर्णन सुन्दर है। उस बाल वर्णन में जीवन के एक अंग का चित्रण है। उसने मनुष्य जीवन की एक अभिव्यक्ति को साकार रूप दिया है। सूर ने जो शृंगार के वर्णन किये हैं वे शाक्त परम्पराओं के अवशेष हैं। उन्होंने ही रीति काल को प्रभावित किया है। किसी लेखक में, विशेषकर पुरानों में, केवल प्रगति या अप्रगतिशीलता, खोजना ठीक नहीं है। हमें तो उनके विभिन्न दृष्टिकोणों को देखकर, उनकी सीमाओं में से, अपना जीवन सुधारना चाहिये। श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी ने ऐतिहासिक उपन्यास लिखे हैं। वे प्राचीनतावादी हैं, और प्रगतिशील चिंतन के विरोधी हैं। किंतु जहाँ 'जय सोमनाथ' में वे सांप्रदायिकता, और समाज की रूढ़ियों पर प्रहार करते हैं, वहाँ वे इतिहास और समाज को प्रगतिशील तत्त्व देते हैं।

काव्य लोक कल्याण की भूमि पर यह स्वीकार करता है कि मनुष्य को सुखी होना है। जो उसके सुख में बाधा डालते हैं, वे लोकरंजन में बाधा डालते हैं। किन्तु जो यह कहता है कि साहित्य केवल मजदूर वर्ग या किसान वर्ग का चित्रण है, वह साहित्य को संकीर्ण बनाता है। साहित्य हर वर्ग और मनुष्य का समग्र वर्णन है। उसमें किसकी स्वार्थ साधना है यह उसकी सामाजिकता का निर्णय करता है। यह सामाजिकता काव्य के लिए अत्यन्त आवश्यक है। जिस समाज में स्त्री पुरुष दोनों सती प्रथा को श्रेष्ठ समझेंगे वहाँ जीवित स्त्री को जला दिया जाना स्त्री के प्रति करुणा नहीं जगायेगा, वरन् उसे महान् कार्य्य समझा जायेगा। चित्तौड़ की रानियाँ अपनी लज्जा की रक्षा के लिये जीवित जल गई थीं। हम उस महान् बलिदान को देखकर गौरव से सिर झुकाते हैं। परन्तु इस गौरव का आधार क्या है? स्त्री को पर-पुरुष द्वारा कलंकित नहीं होना चाहिये। यही वह आन है जिसके ऊपर यह सारी इमारत खड़ी है। यदि समाज में स्त्री पुरुष इस बात को कोई मूल्य नहीं देते, संभोग और सम्मान का कोई संबंध ही नहीं है, तब क्या यही भाव ऐसे ही जाग सकता है? फिर यह जल मरना निरुद्देश्य हो जायेगा।

किन्तु रसवादी इस सब को वाह्यपक्ष मानते हैं और आत्मपक्ष के आनन्द को वह समाज से निरपेक्ष मानते हैं और सहृदय के लिये रस की निष्पत्ति समान भाव से मानते हैं। रसवादी भूल जाते हैं कि जिसे वे रसवाद कहते हैं, वह रसवाद का सामंतीय समाज के ढाँचे का रूप है, वस्तुतः रसवाद और भी व्यापक है।

संक्षेप में रसवादी यह बातें मानते हैं।

१—रसवाद लोक की सामान्य भाव भूमि का आधार ग्रहण करता है।

२—रसवाद से वैयक्तिक और लोकपक्ष में विरोध पैदा नहीं

होता क्योंकि वह लोक कल्याण के लिये होता है। वह भावों को उदात्त बनाता है। उदात्ती करण का अर्थ है पशुत्व से देवत्व की ओर उठना। मनुष्य का स्वार्थ संकुचित हृदय व्यापकत्व प्राप्त करता है।

३—रस से उत्पन्न आनंद अलौकिक आनंद होता है। इस अलौकिक का अर्थ दैवी आनन्द नहीं, परंतु असामान्य आनन्द है जो भावों की सुखात्मकता और दुखात्मकता के शांत होने पर उत्पन्न होता है।

४—काव्यवाणी का वह विधान है जो संवेदना जगाता है। इसके दो काम हैं। लोकरंजन और सुधार तथा आत्मा को आनंद देना। लोकरंजन की भावना को रसवादी परिवर्त्तनशील मानते हैं। आचार्य शुक्ल भी भावों के विकास और परिवर्त्तनशीलता को मानते थे। हमने ऊपर लिखा है कि भाव प्रवृत्तियों पर प्रभाव डालता है। इसको मनोवैज्ञानिक उल्टा कहते हैं। वे प्रवृत्तियों से भाव का निर्माण मानते हैं। यहाँ हम अपनी बात को स्पष्ट करते हैं। हम 'मानवीयता' को भी स्पष्ट कर देते हैं।

१—प्रगतिशील चिंतन रसवाद द्वारा लोक की सामान्य भाव भूमि का आधार ग्रहण करना मानता है परंतु उसके साथ वह 'सामान्य' को अपरिवर्त्तनशील नहीं मानता। यह सामान्य भूमि भी धीरे धीरे बदलती रहती है। गत्यात्मक जगत में सापेक्ष स्थिरता हो सकती है, पूर्ण स्थिरता कभी नहीं हो सकती।

२—रसवाद का वैयक्तिक पक्ष और लोकपक्ष का अविरोध, प्रगतिशील चिंतन स्वीकार करता है और मानता है कि काव्य लोक कल्याण के लिये होता है। वह उदात्तीकरण करता है। उदात्तीकरण को पहले देवत्व के रूप में abstract (शून्य) स्वरूप दिया जाता था। प्रगतिशील चिंतन लोकरंजन के रूप में समाज की वैज्ञानिक व्याख्या वाले वर्गसंघर्षों के इतिहास को सापेक्ष दृष्टि में रख कर लोकरंजन के आदर्श का नया मूल्यांकन करता है। पहले व्यक्ति

के गुण दोषों को केवल व्यक्तिगत समझा जाता था, अब उसकी बहुत सी बुराइयों को समाज की रीति नीति से सापेक्ष रख कर देखा जाता है।

३—रसवाद जिसे आनंद कहता है वह अपनी क्रिया प्रक्रिया में ठीक है, किंतु प्रगतिशील चिंतन यह भी मानता है कि आनंद संवेदना की अनुभूति है, और संवेदना अपने में समाप्त नहीं हो जाती, वह सामाजिक क्रिया प्रक्रिया है, इसलिये व्यक्ति का यह आनंद समाज के आनद का ही परोक्ष पर्य्याय है।

४—काव्य रचना अब व्यक्ति का काम है। पहले काव्य रचना समाज में सामूहिक होती थी। कालांतर में विकास करके वह व्यक्तिगत हुई है। अब भी लोकगीतों की सृष्टि एक व्यक्ति नहीं करता, बहुत से लोग मिलकर एक गीत बनाते हैं। स्त्रियों के गाने ऐसे ही बनते हैं। काव्य वाणी का वह विधान है जो संवेदना जगाता है, यह ही सत्य है। संवेदना लोकरंजन है। लोकरंजन में हम समाज की वैज्ञानिक व्याख्या करते हैं और उसी कसौटी पर आँकते हैं। आत्मा के आनंद पक्ष को हम भी मानते हैं, परंतु इस आनंद की भी लोकानुरूप अनुभूति होनी चाहिये। बर्बरता या बलात्कार में असामान्य सुख प्राप्त करके आनंद प्राप्त करने वाला व्यक्ति हमारे लिये हेय है। रसवाद भी इसे मानता है। रसवाद इस विषय को व्यक्ति पर छोड़ देता है। वह आनंद को पूर्ण (absolute) मानता है। हम आनंद को सापेक्ष मानते हैं। वह इस आनंद को शून्य (abstract) मानता है। हम इसे भौतिक आधारों से प्राप्त होने वाला मानते हैं। रसवादी इस आनंद को सब युगों में एक सा मानते हैं। हमारे मतानुसार यह युगानुरूप परिवर्त्तित होता रहता है।

प्रारंभ में जब मनुष्य विकसित नहीं था तब प्रवृत्तियां भाव का निर्माण करती थीं। बुद्धि परिपाक होने के पहले बालक में अब भी

वही होता है। किंतु बुद्धि आजाने पर भाव ही प्रवृत्तियों को चलाता है।

रसवादी जिसे उदात्तीकरण कहते हैं वह ही अपने समाज सापेक्ष स्वरूप में 'मानवीयतावाद' है। प्रश्न उठता है कि रसवादी इसी को 'रति' कहते हैं। इसको नया नाम देने की आवश्यकता ही क्या है? वस्तुतः रति और मानवीयतावाद में भेद है।

जिस प्रकार कविता वह नहीं है जो भावों को जगाती है, वरन वह है जो भावों की संवेदना को जगाती है अर्थात् केवल किसी के भीतर भाव पैदा कर देने में और उसके भीतर उन भावों की अनुभूतियों को अन्यों के प्रति संवेदनात्मक बनाने में भेद है, उसी प्रकार 'रति' व्यक्ति को आधार मान कर लोक रंजन को उसका सहायक या सामाजिक रूप मानती है, जब कि मानवीयतावाद व्यक्ति को समाज का अंग मान कर, लोक कल्याण की भूमि पर ही व्यक्ति के आनंद पक्ष को स्वीकार करता है।

रसवाद जब 'सहृदय' पाठक या श्रोता का वर्णन करता है तब वह 'सहृदय' की व्याख्या यों करता है। जो पागल या मूर्ख नहीं है, जो संन्यासी योगी या भिक्षु नहीं है, वरन् सामाजिक व्यक्ति है और सुख दुख की वासनाओं से प्रभावित होता है, और जिस में कविता को कुछ समझने की शक्ति है, वह सहृदय है। जब भरत मुनि काव्य को जन सामान्य के लिये नीचे ले आये थे और उन्होंने काव्य को मुक्त किया था, उस समय यह परिभाषा बनी थी। तभी वह इतनी मुक्त है। यह परिभाषा प्रयोगों और प्रतीकों, वक्रोक्ति और अलंकार के अनुयायियों के लिये लागू नहीं हो सकती जिसमें कुछ ही लोग समझ सकने के अधिकारी हों। जिस प्रकार भारतीय संगीत पहले जन समाज की वस्तु थी, और कालांतर में वह काव्य के छंदों की सी राग रागिनियों के शास्त्र में फँस कर केवल संगीत-गणित-शास्त्रियों के लिये रह गया, काव्य को भी केवल 'समझदारी' अर्थात् दुरुहता का भार देना, काव्य को बांधना है। रीतिकाल के

कवि अपनी शैलियों में बांध कर भी उसे बांध नहीं सके थे। काव्य रसात्मक वाक्य ही है। रसात्मक के साथ ऊपर कही हुई लोक कल्याण, सहजता आदि की बात अपने आप आ जुड़ती हैं। काव्य के उन अंगों का हम विवेचन ऊपर कर आये हैं।

काव्य मस्तिष्क ही से निकलता है। हृदय पक्ष और बुद्धि पक्ष मस्तिष्क की ही चेतना के दो रूप हैं। हृदयपक्ष भाव है। भाव (Emotion) का प्रवृत्ति (instinct) से संबंध है। बुद्धि (intellect) निर्णयवाद में लिप्त रहती है। प्रगतिशील विचारक कोरी पटिया पर लिखना प्रारंभ नहीं करता। वह अपनी राष्ट्रीय संस्कृति की विरासत को स्वीकार करता है। कहना और बात है और इसको लागू करना और बात है। प्रस्तुत प्रयत्न इस सम्बन्ध में प्रथम है और इसमें भूल रह जाना स्वाभाविक है। इसे विद्वान सुधार ही लेंगे।

भारत में ही शताब्दियों से साधारणीकरण का सिद्धांत रहा है। यूरोप वाले जब काव्य को अनुकरणवाद मानते थे तब वहाँ बर्बरदास प्रथा थी। वहाँ के सामन्तवाद और भारतीय सामंतवाद में भेद थे। यद्यपि उत्पादन की प्रणाली समाज के वर्गों के संबंध नियत करती है, परन्तु फिर भी कुछ अन्य तथ्य उस पर प्रभाव डालते हैं। भारत में जातियों की अंतर्भुक्ति, वर्णव्यवस्था आदि ने अपना प्रभाव डाला था। और पंचायत प्रणाली ने भी सामंतवादी ढांचे के भीतर ही एक जनतांत्रिकता का छोटा रूप कायम रखा था। भारत में सामंतवाद बहुत दिन रहा। उसमें निम्न वर्णों ने बार-बार वर्ण व्यवस्था को तोड़ने का यत्न किया। यह मानवतावादी संघर्ष, यद्यपि समन्वयवादी था, तथापि उसने मानवतावाद की परम्परा को जीवित रखा। पुराने समन्वयवाद का कारण यह था कि व्यक्ति अपने चाहने के बावजूद समाज के उत्पादन के साधन नहीं बदल पाता था। रसवाद जब सामान्य मानव की बात कह कर पुराने मानवतावाद के समन्वयवाद को आगे लाकर

रखता है, तब वह रसवाद के सामंतीय समाज के रूप को प्रस्तुत करता है। यदि कहा जाये कि शोषक और शोषित दोनों सहृदय होते हैं, तो व्यक्तिपक्ष के आनन्द भोग में वह ठीक है, परन्तु हम रसवाद के मूल सिद्धान्त को भूल जाते हैं कि वह भाव का उदात्तीकरण करता है और उदात्तीकरण का आधार लोकरंजन है और लोकरंजन का वैज्ञानिक आधार समाज की वैज्ञानिक व्याख्या है। और समाज की वैज्ञानिक व्याख्या वर्गवाद में बद्ध व्यक्ति का विश्लेषण है। कोई व्यक्ति बहुत ही भला क्यों न हो, किंतु यदि उसका आचरण किसी शोषक वर्ग का सहायक है, तो हम उसके इस द्वन्द्व को दिखाकर ही सफल काव्य लिख सकते हैं। केवल कुत्सित समाज शास्त्री ही यह कह सकता है कि अमुक शोषक वर्ग के व्यक्ति में मनुष्य हृदय नहीं है, वह केवल वर्ग का 'टिपिकल' प्रतिनिधि है। ऐसे लोग ही यह भी मानते हैं कि कलाकार जिस वर्ग में उत्पन्न होता है, वह अपने ही वर्ग की चेतना का प्रतिनिधित्व करता है और जिस वर्ग में जो पैदा होता है उसमें उसी वर्ग की चेतना होती है। यदि कोई मजदूर वर्ग में जन्म लेता है तो इनके अनुसार वह निश्चय ही वर्गभेद जानता है और मार्क्सवादी है। यह सब ठीक नहीं है। हृदय शोषक में भी होता है, किंतु उसका अपना स्वार्थ दूसरे वर्ग का हृदयहीन शोषण करता है। यदि हम यह मानें कि काव्य वह है जो शोषक और शोषित दोनों को समान आनन्द देता है, तो हम लोकरंजन के पक्ष का उदात्तीकरण स्पष्ट नहीं कर सकते। उदात्तीकरण के अब तक के मानदंड रसवाद के साथ सामंतीय सिद्धान्त हैं। इन सिद्धान्तों का बदलना आवश्यक है। कलाकार अपने वर्ग से बद्ध होता है, परन्तु उसकी कला उसकी चेतना है, वह समस्त युग से प्रभावित होती है, अतः वह वर्ग से भी ऊँची उठने पर ही सच्चा चित्रण करती है। मजदूर जन्म लेते ही मार्क्सवादी नहीं होता, उसे सीखना पड़ता है तब ही वह वर्ग विश्लेषण को समझता है।

कविता का माध्यम भाषा है। भाषा सामाजिक वस्तु है। भाषा के माध्यम से ही विचार जन्म लेता है। विचार (idea) प्रवृत्ति और भाव से मिल कर जब आकार ग्रहण करता है, तब कविता बनती है। अतः कविता भौतिक का चेतन बिंब है। यह चेतन भौतिक का गुणात्मक परिवर्त्तन बन कर मस्तिष्क में उत्पन्न होता है, जैसे तेज पानी में से गुणात्मक परिवर्त्तन होने से बिजली निकलती है। काव्य शक्ति दैवी नहीं होती। जो संवेदनशीलता की मात्रा अधिक रखते हैं वे कवि हो जाते हैं। एक ही समय में बहुत-बहुत कवि होते हैं। उनमें जो अच्छे होते हैं वे ही चमकते हैं, बहुत से बुरे कवि आलोचक बन जाते हैं और फिर अच्छी कविता लिखने वालों को समझने की असमर्थता से चमत्कारवाद का आश्रय लेते हैं। वे अंततोगत्वा अच्छे आलोचक भी नहीं होते।

जन-कल्याण की भावना का परिवर्त्तन, युग की आवश्यकता है। काव्य सदैव युग के अनुरूप रूप धारण करता रहता है। वह वेद काल में उतना बद्ध नहीं था जितना बाद में बर्बरदास प्रथा में बँध गया। तब हृदय की 'सामान्यता' छोड़ कर वह ब्राह्मण क्षत्रिय वर्णों की आवश्यकताओं के अनुसार बदल गया। फिर सामंतवाद का उदय उसे मुक्त कर लाया। सामंतवाद के विकास के रुकने के साथ वक्रोक्ति, अलंकार और रीति आदि ने उसे बांधा। भारतेन्दु-काल ने फिर उसे मुक्त किया। परन्तु छायावाद ने फिर उच्चवर्गीय पूंजीवादी राष्ट्रीय आन्दोलन के समय, उसे अभिव्यक्ति की विशिष्ट शैली दी। फिर काव्य मुक्त हो रहा है किन्तु कुत्सित समाज शास्त्रियों ने उसे निष्प्राण दस्तावेजों का पद्यीकरण बनाया। और वर्गवाद के पोषकों ने 'कला कला के लिए' में मूल प्रवृत्तियों को खोजना प्रारम्भ किया। उन्होंने शैली के चक्कर में उसके भाव, भाव के उदात्तीकरण, उसके लोकरंजन के स्वरूप को छोड़ दिया। उन्होंने भाव के विकासवाद का त्याग कर के उसे स्थिर कर दिया

और वे इसी से प्रभाव नहीं डाल सके। इस विषय पर हम आगे लिखेंगे।

कविता मनुष्य की आयु पर निर्भर है। मनुष्य जो कविता जवानी में लिखता है, बुढ़ापे में नहीं लिखता। मनुष्य जीवन के विभिन्न रूप हैं। अतः यह कहना कि केवल शृंगार ही हृदय को रमाता है, जीवन के एक पक्ष को ही लेना है। सहृदयों में न आने पर भी, संसार के दुख सुख से निर्लिप्त बने रहने की चेष्टा करने वाले साधू सन्त भी भारत में महाकवि हुए हैं और उन्होंने सहृदय कहे जाने वालों के हृदयों को आंदोलित किया है। यह क्या कम आश्चर्य्य की बात है। इन साधू-सन्तों ने अपनी दार्शनिक वीतरागी निर्लिप्ति के रहते हुए भी समाज में मानवतावाद के लिये युद्ध किया है और उनकी 'रति' लोकरंजन की भूमि पर ही व्यक्ति के आनन्द पक्ष को जहां तक स्वीकार कर सकी है, वहीं तक की उनकी मानवीयता ने युगों तक अपना प्रभाव डाला है। जहाँ वे दुरूह व्यक्तिवादी रहस्यवाद के क्षेत्र में चले गये हैं, वहां उन्होंने चमत्कारवाद के अतिरिक्त कुछ नहीं छोड़ा। आयु बढ़ने के साथ मनुष्य में विकास होता है। जिस प्रकार मनुष्य की बुद्धि परिपक्व न होने तक प्रवृत्ति उसके भाव पर बलिष्ठ होती है, और बुद्धि के परिपक्व हो जाने पर भाव प्रवृत्ति को दबा लेता है, उसी प्रकार आयु बढ़ने के साथ भाव पर मस्तिष्क की अन्य क्रियाएं अपना प्रभाव बढ़ाने लगती हैं। यह क्रियाएं चिंतन की ओर लाती हैं। किंतु चिंतन जब भाव का साथ छोड़ देता है तब वह कविता नहीं रहता। वह भाव के साथ जुड़ कर ही कविता है। भाव और चिंतन का परिमाणात्मक भेद काव्य में भिन्नता ला सकता है, परन्तु भावहीन चिंतन कविता नहीं है। मैकौले जब सभ्यता के विकास के साथ काव्य का ह्रास देखता था, तब वह पूंजीवादी सभ्यता से अपना मतलब लगाता था। पूँजीवादी सभ्यता का विकास अपनी पूर्णता में हृदयहीन होता है और

शोषक वर्ग सामान्य मानवों का नहीं रह जाता।* जनता—शोषित ही तब काव्य को बचाते हैं। काव्य का भविष्य साम्यवादी समाज में उज्ज्वल है। उसी समाज में लोकरंजन और व्यक्ति का विकास मिलकर एक हो जाते हैं। मनुष्य के विकास के साथ भाव जैसे-जैसे बदलता जायेगा, काव्य भी बदलता जायेगा। जिस प्रकार काव्यारंभ के समय में कोई यह नहीं बता सकता था कि भविष्य में भाव विकास बीसवीं सदी में वह हो जायेगा (जो अब है), उसी प्रकार हम भी भविष्य के बारे में नहीं बता सकते। इसीलिए काव्य अपने शरीर और चेतन के लिए युग पर आश्रित है। युग की समस्याएं बदल जाती हैं, आचार विचार बदल जाते हैं, परन्तु पुरानी कविता अपनी 'मानवीयता' के सफल चित्रण के कारण परवर्त्ती काल में पसन्द की जाती है।

पुराना मानवतावाद वर्गों के समन्वयवाद को ही लोक रंजन मानता था। उसमें संसार सदैव दुखी रहा। नया मानवतावाद वर्ग संघर्ष को तेज़ कर के मनुष्य को इस वर्गवाद के दुःख से मुक्त करना चाहता है। पुराने सन्त धन को बुरा बता कर उसे छोड़ने को कहते थे। नये विचारक मनुष्य को धन से ऊपर मानकर, धन को मनुष्य का दास बनाना चाहते हैं, ताकि धन पाप की जड़ नहीं

* बंगाल के अकाल में मनुष्यों को भूख से तड़प-तड़प कर मरते देखकर भी, स्त्रियों को वेश्या बनते देख कर भी, उच्चवर्ग (चोर बाजारियों) का हृदय नहीं पसीजा। करुणा कहां गई ? क्या चोर-बाजारी अपनी पत्नी से प्रेम नहीं करता, या अपने बच्चे की मौत पर नहीं रोता ? पर उसका स्वार्थ था, जिसने उसे मनुष्य नहीं रहने दिया। उसके व्यक्ति का आनन्द लोकरंजन से दूर हो गया था। इस नियम को ही शोषक वर्ग पर लागू करना चाहिये। हम अच्छे हृदय के शोषक का वर्ग स्वार्थ के द्वन्द्व में पड़ा रूप दिखा सकते हैं, पर शोषक के शोषण का न्याय नहीं दे सकते।

बने, मनुष्य की सेवा कर सके। पुराना मानवतावाद तकली जैसी छोटी मशीन को चलाकर बड़ी मशीन की निन्दा करता है, नया मानवतावाद बड़ी मशीन को भी मनुष्य की ईजाद मानकर मनुष्य को उस मशीन के ऊपर स्वामी बनाना चाहता है। वर्गवाद के संबंध, मशीन के प्रभुत्व के कारण उसके आरंभ आदि को न समझने वाला मशीन को ही बुरा बताता है। जिस प्रकार काव्य के अलंकार काव्य को सुन्दर बनाने के लिए हैं, परन्तु अलंकारमात्र को कविता कहना, कविता को निष्प्राण कर देना है, उसी प्रकार मशीन मनुष्य का अलंकार है, परन्तु मशीन का शासन मनुष्य को निष्प्राण कर देता है।

जन रंजन और लोक कल्याण का अर्थ यह नहीं है कि हम काव्य को केवल उसकी उपादेयता के लिए ही पढ़ें। उपादेयतावाद काव्य में उपदेशात्मकता ढूँढ़ता है और उपादेयता और उपदेश का भाव से संबंध नहीं है, केवल चिंतन से संबंध है, अतः वह काव्य नहीं है। उपादेयता और उपदेशात्मकता काव्य के अंग हैं, काव्य उनका अङ्ग नहीं है। काव्य जीवन का सर्वांगीण चित्रण है। वह समाज में ही समाप्त नहीं हो जाता, वह मनुष्य को प्रकृति से भी मित्रता की ओर ले जाता है। इसका अर्थ यह नहीं कि मनुष्य प्रकृति से डरता है, या उसकी विजय नहीं करता, वरन् इसका अर्थ यह है कि प्रकृति की समस्त सुन्दरता जो मनुष्य का रंजन करती है, उसका भी वह अनुभव कराता है।

हमने जो प्रगतिशील चिन्तन के अनुसार काव्य की परिभाषा दी है, वह व्यापक है। कुत्सित समाज शास्त्री कह सकते हैं कि यह तो पार्टीजन काव्य के विरुद्ध धारणा है। वस्तुतः ऐसा नहीं है। पार्टीजन काव्य का अर्थ पार्टीकाव्य नहीं है। उसका अर्थ है जनजीवन से तादात्म्य, लोकरंजन को व्यक्ति के संकुचित आनन्द से ऊपर रखना, और समन्वयवादी मानवतावाद के स्थान पर वर्ग विश्लेषण वाले मानवतावाद को प्रतिष्ठापित करना। रूस में और

भारत में अन्तर भी है। रूस की मानवतावादी विचारधारा अल्प-कालीन थी। भारत की बहुत पुरानी है। रूस में साधारणीकरण के सिद्धान्त की, क्रांति से ५० वर्ष पूर्व, झलक भर मिलने लगी थी। वहां विचार (idea) को पूर्ण (absolute) समझते थे और उसका समाज से कोई संबध प्रतिष्ठापित नहीं किया गया था। क्रान्ति से पूर्व रूस भारत की भांति सुसभ्य नहीं था। दूसरे पार्टीजन काव्य का रूस में भी गलत अर्थ लगाया गया था। मायकोवस्की जैसा महाकवि त्रात्स्कीवादियों के प्रचार के कारण अन्त में आत्महत्या कर के मरा था। स्तालिन ने उस समय यही कहा था कि मायकोवस्की हमारे युग का सर्वश्रेष्ठ कवि था, किन्तु उसने सम्पूर्ण मानव (Man as a whole) नहीं देखा। लेनिन स्वयं पुश्किन को मायकोवस्की से अच्छा कवि बताता था। क्रान्ति के पहले रूस में जो महान लेखक हुए थे, क्रान्ति के बाद रूस संभवतः इसी संकीर्णतावाद के कारण वैसे महान् लेखक अभी पैदा नहीं कर सका, वैसे ही जैसे प्रगतिशील आन्दोलन के पहले के भारत में जन संघर्षों से उत्पन्न होने वाले प्रेमचन्द जैसा कलाकार अभी तक का प्रगतिशील आन्दोलन पैदा नहीं कर सका है। यद्यपि प्रगतिशील कविगण उक्ति चतुराई को जनजीवन का चित्रण समझ कर प्रस्तुत करने की भद्दी नकल करते हैं, परन्तु अकबर इलाहाबादी जैसा 'सरकारी नौकर' कवि और कलाकार उपस्थित नहीं कर सके हैं।

आचार्य शुक्ल ने जब रसवाद पर मनन किया है तब उन्होंने भरत के रसवाद को ज्यों का त्यों नहीं स्वीकार कर लिया। इसीलिये रसवादी उन्हें रस शास्त्र का अधिकारी प्रवक्ता नहीं मानते। जैसा कि हम काव्य की शुक्ल जी वाली परिभाषा देते समय कह आये हैं, उद्धृत कर आये हैं, शुक्लजी ने काव्य को मंगल अमंगल की भावना से भी परे कहा है। परन्तु बाद में जब उन्होंने काव्य का समाज पक्ष लिया है तब वे लोकरंजन की पुकार उठाते रहे हैं। शुक्लजी में यह द्वन्द्व है और इसके रहने के दो कारण हैं।

१—शुक्लजी ने पूँजीवाद के उदय के समय में लिखा और काव्य को जहां एक ओर पूँजीवाद मुक्त कर रहा था, उसके वर्ग-स्वार्थ की सीमाएं भी थीं। अतः व्यक्तिपक्ष और समाजपक्ष को यहाँ शुक्लजी के मूलाधारों में अंतर्विरोध के साथ देखा जा सकता है।

२—शुक्लजी ब्रह्मवादी थे और इस प्रकार वे एक स्थिरता को मानते थे। स्थिर ब्रह्म और विकासशील जगत के इस सामंजस्य ने दूसरा अन्तर्विरोध उपस्थित किया था और वह व्यक्तिपक्ष और लोकपक्ष के विरोध में प्रगट हुआ था।

आचार्य्य शुक्ल ने हिंदी साहित्य का जो इतिहास लिखा है वह युग विशेष और वर्ग विशेष के दृष्टिकोण से लिखा गया है। तभी भक्तिकाल उन्हें निराशा का युग लगा था। वे ब्राह्मणवादी थे और निम्न वर्णों के उदय में वे समाज और संस्कृति का ह्रास देखते थे। उन्होंने रीतिकाल को समाज में रस संचार माना है, इसका कारण यही है कि तब की दरबारी कविता में उन्होंने शृंगार भाव की प्रमुखता देखी है। परन्तु वे तुलसी के प्रशंसक और रीतिकाल के विरोधी जैसे, इसलिए रहे हैं कि एक में उन्हें अपने दृष्टिकोण के जनकल्याण का पूरा आदर्श प्राप्त हुआ है, दूसरी ओर उन्हें रस-वाद के प्राण का विरोध होता हुआ दिखाई दिया है। भारतीय रसवाद युगों की 'मानवीयता' का रूप है और जनजागरण के प्रभाव के कारण आचार्य शुक्ल ने उसे ही स्वीकार किया था। प्रारंभ में वे छायावाद के विरोधी थे। छायावाद अपनी शैली के अतिरिक्त एक और भेद प्रस्तुत करता था, वह जन कल्याण का वह पुराना आदर्श नहीं मानता था। शुक्लजी दुरूहता के विरोधी थे, छायावाद दुरूह भी था। व्यक्ति के आनन्द पक्ष में शुक्लजी भले ही ब्रह्मवादी रहे हों, परन्तु अन्तर्विरोधों के रहते हुए भी, समाज पक्ष में उन्होंने लोकरंजन को ही अपने सामने आदर्श रखा और इसका कारण न केवल 'मानवीयतावाद' की पुरानी परंपरा

थी, वरन् राष्ट्रीय जागरण का भी प्रभाव था जो समस्त भारत को जाग्रत कर रहा था।

भारत में ब्राह्मणवाद के कार्य्यकलापों का एक रेखाचित्र हम पहले दे आये हैं। वह शुक्लजी की परिस्थिति को बिल्कुल स्पष्ट कर देता है। शुक्लजी रहस्यवाद के विरोधी थे क्योंकि रहस्यवाद जन-साधारण के लिए नहीं होता। सन्तों का रहस्यवाद किस प्रकार उनके समन्वयवाद के दृष्टिकोण से उद्भूत हुआ था, यह हम पहले ही समझा आये हैं। उस रहस्यवाद के भी व्यक्तिपक्ष और समाजपक्ष दोनों ही थे। आचार्य्य शुक्लजी तुलसी के नये युग के संस्करण थे। तुलसी को समझने के लिए, तथाकथित प्रगतिशील आलोचकों को, पहले भारतीय इतिहास को समझना चाहिये, तब अपनी बुद्धि से काम लेना चाहिए। जो तुलसी और कबीर को एक समझते हैं वे प्रगति से बहुत दूर हैं, और उन्हें अपनी भोंड़ी नुक्ताचीनी छोड़ देनी चाहिये, और मध्यकाल का विवेचन करते समय धर्म और ऐतिहासिक विषय वस्तु को सापेक्ष रूप से रख कर देखना चाहिए।

यदि हम इसी दृष्टिकोण से देखें तो हमें ज्ञात होगा कि सुमित्रानन्दन पंत कभी भी मार्क्सवादी कवि नहीं था। वह पहले से आज तक अपना एक अलग जीवन दर्शन रखता है। वह मानवतावादी कवि है और राष्ट्रीय आन्दोलन के दौर में उसने सामंतीय ढाँचे से काव्य को मुक्त किया था, किन्तु उसका मानवतावाद सदैव ही वर्ग समन्वयवादी था, आज भी है। उसी समन्वयवाद को आज वह 'अंतस में स्थिर सब कुछ' में बतलाता है। किन्तु प्रगतिशील विचारक को केवल पंत का समन्वयवाद ही नहीं देखना चाहिये, उसे इतिहास का ध्यान रखते हुए, उसके दोनों रूपों की प्रतिष्ठापना करनी चाहिये। पंत का वह काव्य जिसने प्रगतिशील साहित्य को प्रेरणा दी है, वह सदैव ही प्रगतिशील रहेगा।

सूर्य्यकांत त्रिपाठी 'निराला' पंत की तुलना में अधिक विद्रोही रहा है। उसने जीवन में कष्ट अधिक पाये हैं, कुछ उसमें 'बोहीमि-

वन' प्रभाव भी रहा है। निराला भी मार्क्सवादी नहीं है। उसमें वेदान्तवाद है और भक्ति भी है। वह निराशा के स्वरों में भी डूबा है, परन्तु उसने निरन्तर मानवतावाद को पालापोसा है। यद्यपि वह वर्गों के विभेद में दलित वर्ग से सहानुभूति रखता है, परन्तु वह वर्ग संघर्ष की व्याख्या वाले मानवतावाद में पूर्ण नहीं उतरता। निराला ने यथार्थ की परंपरा को अपने मानवतावाद के द्वारा पंत के समान ही बढाया है।

महादेवी वर्मा ने गीत लिखे हैं। वे एकांतिक गीत हैं। उनका समाजपक्ष गौण ही है। परन्तु उन गीतों में महादेवी ने स्त्री के प्रेम को स्वर दिया है। यह सत्य है कि उसने समाज के बंधनों के कारण सीधे ही न कह कर, एक विशिष्ट शैली को अपनाया है। इसके अतिरिक्त महादेवी ने सौंदर्य के व्यक्तिपक्ष के जो चित्र बनाये हैं और काव्य में उपस्थित किये हैं, वे समाज के सौंदर्य्य पक्ष में भी ग्राह्य हैं।

महादेवी के साथ ही अनेक प्रेम गीतकारों की रचनाएँ हैं। प्रगतिशील चिंतन प्रेम गीतों के प्रति यही दृष्टि कोण अपनाता है। वह स्वस्थ प्रेम चाहता है। जहाँ दुरूहता है वह काव्य नहीं है।

जयशंकर 'प्रसाद' व्यक्तिवादी कवि था, और उसने यथार्थवाद की परंपरा को भारतेंदु से जोड़ा था। किंतु उसकी सर्वश्रेष्ठ रचना कामायनी छायावादी परंपरा की चीज है। फिर भी वह सुन्दर है। उसकी शैली विशिष्ट है। प्रसाद में व्यक्ति की अतृप्तियाँ भी हैं। परन्तु प्रसाद ने आनंदवाद को अभिव्यक्ति दी है। वह आनंद उसने राष्ट्रीय जागरण में देखा है। तितली और कंकाल में उसने समाज के घोर यथार्थ का चित्रण किया है। उसने इतिहास के महान् क्षणों का चित्रण किया है और उनमें मनुष्यत्व की विजय दिखलाई है।

इन के अतिरिक्त हिन्दी में बच्चन, दिनकर, इत्यादि अनेक कवि हैं, जिनके काव्य पर गहरे अध्ययन की आवश्यकता है। इन कवियों

ने क्या यथार्थ की परम्परा को आगे नहीं बढ़ाया ? यहाँ विस्तार भय से हम इन सबका विवेचन नहीं कर रहे हैं। यशपाल, राहुल सांकृत्यायन, आदि पर विद्वानों को मनन करना चाहिये।

प्रेमचन्द के साथ ही तो उनके युग के यथार्थ की परम्परा समाप्त नहीं हो जाती ? विश्वम्भरनाथ शर्म्मा 'कौशिक' आदि ने समाज में जो यथार्थ दिया था वह क्या अपना कोई महत्त्व नहीं रखता ?

प्रगतिशील काव्य की यह व्यापकता उसकी जीवनी शक्ति को बढ़ाती है और सब तत्त्वों को अपने भीतर आत्मसात करती है जो विभिन्न बंधनों और समय विशेषों में उसकी सहायता करते रहे हैं।

प्रगतिशील विचार की अभिव्यक्ति अब हुई है किन्तु वर्ग संघर्ष इस ज्ञान के पहले का है। और मानवतावाद के रूप में यह प्रगति पहले भी किसी न किसी रूप में समाज में होती आई है। यदि प्रगति नहीं होती तो हम आदिम साम्यवाद से तरक्की करते हुए बर्बर दास प्रथा, सामंतकाल और फिर पूँजीवादी युग तक कैसे आ पहुँचते ? कैसे इस युग की इस जनवादी चेतना तक आ पहुँचते जो वर्गहीन समाज बनाना चाहती है ? प्रगति पहले भी थी, परन्तु उसकी वैज्ञानिक व्याख्या उस समय नहीं हुई थी, जो अब ही संभव हो सकी है। साहित्य जनता को संघर्ष के लिये तैयार करता है। किंतु युग विशेष की परिस्थिति का भी उस पर प्रभाव पड़ता है और उसकी भी अभिव्यक्ति विशेष सदैव होती है। यदि आज का 'साहित्य साम्यवादी यथार्थ' नहीं है तो इसका कारण यही है कि पूँजीवादी विषमता का, लेखकों के विषम जीवन के माध्यम से उस पर प्रभाव पड़ता ही है।

कोई भी लेखक अपने प्रारंभिक काल में अपने पूर्ववर्तियों से प्रभावित होता है। अधिकांश आज के कवि भी छायावादी परम्परा में होकर आये हैं। उनकी प्रगतिशीलता जाँचने के लिये उनकी रचनाओं का कालक्रम देख कर उनका अंकन करना चाहिये। यदि

यह विकास क्रम नहीं देखा जायेगा तो किसी भी लेखक के साथ अन्याय होगा।

प्रश्न उठता है कि यह समस्त विषमताएँ जो साहित्य पर अपना प्रभाव डाल रही हैं, वे अग्राह्य हैं, अतः क्या उनके प्रभाव से विषम हुए साहित्य का हमारे लिये कुछ मूल्य है ? है। वह युग विषमता का यथार्थ है, जो जाने या अनजाने रूपों में प्रगट हुआ है। वही हमें आगे बढ़ा कर हमारे कार्य को द्रुततर करता है।

बहुधा प्रगतिशील विचारक भारतेंदु काल की प्रशंसा करते हैं और महावीर प्रसाद द्विवेदी के युग के काव्य को अच्छा नहीं कहते और छायावाद को प्रतिक्रिया कहते हैं परन्तु यह भूल है। इतिहास ने अपने विकास में युग परिस्थितियों से ही इस क्रम को उपस्थित किया है। इसके होने न होने का प्रश्न नहीं। जब हम इतिहास देखते हैं, तो जो हो चुका है, उसी का अध्ययन करते हैं और युग की परिस्थितियों को देखकर प्रगति या प्रतिक्रिया को ढूंढते हैं। भारतेंदु काल में हिंदी काव्य जनता के समीप तो था परन्तु वह 'नई दुनिया' के विद्रोह से परिचित नहीं था। उस अधिकांश काव्य में मर्म को छूने वाली शक्ति नहीं है। द्विवेदी युग के काव्य में राष्ट्रीय जागरण बढ़ गया था किंतु अभिधामूलक वह काव्य उपादेयतावाद और उपदेशात्मकता की ओर खिंच चला था। छायावाद का विकास एक नये प्रकार का विद्रोह था, जिसने सामंतीय मानदण्डों को तोड़ दिया। हम उसकी सीमाओं और बन्धनों को पहले ही दिखा आये हैं।

भगवती चरण वर्मा, दिनकर, बच्चन आदि छायावादी युग के परवर्ती काल के कवि हैं जिन्होंने छायावाद की सीमाओं को तोड़ दिया और छायावाद को समाज की विषमता से ग्रस्त नये यथार्थ की ओर यह लोग ले आये। इनका दृष्टिकोण भी व्यक्तिवादी था। परन्तु यह उतने दुरुह नहीं थे, जितने छायावादी कवि। इनकी

शैली की सहजता की सहायता लेकर प्रगतिशील काव्य आया। समाज के यथार्थ चित्रण में भगवती चरण वर्मा की भैंसागाड़ी एक श्रेष्ठ रचना है। नरेन्द्र का उदय भी इसी समय हुआ जिसमें रोमान्टिकता तो थी किंतु इसी व्यक्ति मूलक समाज यथार्थ का पुट भी रहा।

यशपाल ने प्रेमचन्द के बाद समाज को अपने यथार्थवादी उपन्यास दिये। उनमें वैसा ही रोमान्सवाद अपनी झलक देता रहा जैसे कुछ कुछ गोर्की में हमें प्राप्त होता है। यशपाल को यौनवादी कह कर उस पर आक्षेप लगाये गये हैं, जो व्यर्थ हैं। यशपाल ने यथार्थ वर्णन में यौन संबंधों को विकृत करने वाले दर्शनों का चित्रण किया है।

राहुल सांकृत्यायान ने साम्राज्यवाद और सामंतवाद विरोधी रचनाएँ लिखी हैं। यह सत्य है कि उसका मार्क्सवाद बौद्ध दृष्टिकोण से ग्रस्त है, किन्तु वह उसे साम्राज्यवादी या संप्रदायवादी नहीं बना देता, जिस तरह कि कुत्सित समाजशास्त्री बिना समझे हुए, उसके वाक्यों को संदर्भ से अलग करके, प्रस्तुत करते हैं।⊛

आलोचना के क्षेत्र में हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने एतिहासिक विश्लेषण दिये हैं। वह विश्लेषण उसने वर्गवाद के विकास को समझा कर किया है। यह सच है कि वह वर्ग संघर्ष वाले मानवतावाद को पूर्णतया नहीं मानता, परंतु वह मानवतावाद की उस परम्परा का हामी बन कर साहित्य में आया है, जो प्रतिक्रियावाद की जड़ें काटती है।

यह विवेचन ही हमारे पथ का इंगित करता है। हमें वही छोड़ देना है जो हमारे लिये त्याज्य है, अन्यथा जो हमारे समाज और साहित्य में विकासशील है, उस तथ्य को छोड़ देना केवल हमारा संकीर्णतावाद ही कहला सकता है।

⊛ देखिये अमृत राय की 'साहित्य में संयुक्त मोर्चा'। उन्होंने कुसित्त समाज शास्त्रियों को प्रगट किया है।

प्रगति और प्रयोग का जन्मजात संबंध है। प्रगति जीवन दर्शन है, प्रयोग उसका वाह्यरूप है। प्रगति का द्वन्द्वात्मक परिवर्त्तनशील विकास ही नये रूपों को ढंढता है और उससे नवीन प्रयोगों की उद्भावना होती है। किंतु दुर्भाग्य से प्रगति और प्रयोग दोनों ही को हिंदी में ठीक से नहीं समझा गया है। प्रगति का अर्थ यदि संकीर्ण मनोवृत्ति के तथाकथित मार्क्सवादियों ने विकृत किया है, तो वर्ग संघर्ष के कठोर सत्य से पलायन करने वाले अध्यात्मवादी, अंतश्चेतनावादी, प्रतीकवादी, ध्वनिवादी, प्रकृतवादी, प्रयोगवादी, तथा 'कला कला के लिये' वालों ने प्रयोग का अर्थ विकृत किया है। दोनों ओर से दो प्रकार की अति का वर्णन होता है। पहले वाले केवल वर्ग संघर्ष के आधार पर समस्त मानवीय मूल्यों और साहित्य के समस्त चित्रों की व्याख्या करने का प्रयत्न करते हैं, केवल लोक कल्याण की भावना को देखते हैं और लोकरंजन की भूमि पर उद्भूत व्यक्ति के उस आनंद पक्ष को नहीं देखते जो शैली, चित्रण आदि के सौंदर्य से उत्पन्न होता है, तो दूसरी ओर के लोग वर्गसंघर्ष का आधार छोड़ कर समन्वयवाद पकड़ कर, लोक कल्याण के ऊपर संकुचित व्यक्तिवाद रख कर, आनंदपक्ष की भावना को युग और देश से अलग करके, 'कला' को ऊपरी वासना की झंकृति मान कर चलते हैं। पहले प्रकार के लोग साधारणीकरण के अर्थ में कला के रूप पर बिल्कुल ध्यान नहीं देते, दूसरे प्रकार के लोग केवल कला के वाह्यरूप को देखते रह जाते हैं। पहले प्रकार के आलोचक काव्य में उपदेशात्मकता उपादेयता और प्रचारमात्र तथा राजनीति ढूंढते हैं, दूसरे प्रकार के आलोचक काव्य में केवल अनर्गलता, दुरुहता, राजनीति से पलायन और पुरानी बातों को दुहराते समय उसे प्रस्तुत करने के नये रूप ढूंढते हैं। दोनों ही काव्य और साहित्य का मर्म नहीं समझते और दो विचार धाराओं के रूप में समाज के दो वर्ग स्वार्थों की हिमायत करने का प्रयत्न करते हैं।

प्रगति क्या है? प्रगति केवल राजनीति नहीं है। वह समग्र मानव का एक नया जीवनदर्शन है, जो वर्गवाद को मिटा कर, मनुष्य का एक ऐसा सुखी समाज बना सके, जहाँ मनुष्य विज्ञान की सहायता से सृष्टि के रहस्यों को समझ सके। वर्गवाद को मिटाने के लिये वह शोषक वर्गों का विरोध करती है। वह यह मानती है कि शोषित वर्ग ही समाज को मुक्त करके वर्गहीन समाज का निर्माण कर सकते हैं। वह यह मानती है कि 'सामान्य' मानव वर्गों के स्वार्थों में पड़ कर लोकरंजन की उस भावभूमि का व्यक्ति के आनंद से तादात्म्य नहीं कर पाता जो होना चाहिये। वह भाव के साधारणीकरण का सिद्धांत मानती है।

प्रयोग क्या है? वह पुरानी कला को नये छन्दों में प्रकट करता है। प्रकृतवाद के रूप में वह नग्नतामात्र का प्रचार है। ध्वनिवाद के रूप में वह शैलीमात्र का अभ्यास है। प्रतीकवाद के रूप में वह साधारणीकरण की समानभावभूमि का त्याग है। अंतश्चेतनावाद के रूप में वह केवल यौनवाद का अध्ययन है और जो संसार में हो रहा है उसे भाग्यवाद का पर्य्याय मान कर छोड़ देना है। 'कला कला के लिये' वाले रूप में वह व्यक्ति के संकुचित आनन्दपक्ष को देखना है और लोकरंजन की उस सामान्य भूमि का त्याग है जिस का युग और काल से संबंध है।

प्रगतिशील साहित्य की परम्परा हिंदी साहित्य के जीवंत संघर्षों में से पैदा हुई है और आगे बढ़ रही है। प्रयोगवादी साहित्य की परम्परा पश्चिमीय देशों के मध्यवर्गीय जीवन से आई है जो वर्गवाद से घबरा गया है और नया रास्ता न खोज कर अपनी सत्ता में ही अपना अन्त देखना चाहता है। उसके लिये जीवन प्रवाह नहीं। यदि है भी तो वह प्रवाह में सिर्फ बहता भर है, वह अपनी सत्ता के चेतन को भाग्यवाद के सहारे छोड़ कर उसे अकर्मण्य बना देता है।

प्रगतिशीलता व्यापकता का रूप है। अन्य मत संकीर्णमतावलंबी

हैं। यदि वर्ग संघर्ष की आधार भूमि को यह विभिन्न मत भी स्वीकार करलें तो यह सब प्रायः किसी न किसी रूप में प्रगति के अंग हैं क्योंकि प्रतीक, ध्वनि, प्रयोग काव्य के कुछ स्तैमाल हैं। अंतश्चेतना (यौनवाद) का प्रभाव कुछ हद तक जीवन में है, उसका स्वस्थ रूप प्रेम है, 'कला कला के लिये' वालों की सौंदर्य भावना अपने स्वस्थ रूप में अच्छी है। प्रकृतवाद का स्वस्थ रूप और यथार्थ की समीपता प्रगति का एक अंग है। इन सबका संकुचित व्यक्तिवाद, पलायनवाद, वर्गवाद-विरोध जब नष्ट हो जाता है, तब यह सब प्रगति के अंग हैं।

हिंदी में कुछ नमूने (Pattern) बन गये हैं। किसी भी कविता को देख कर ही बताया जा सकता है कि वह किस मत के अंतर्गत है। कविताएं ऐसी लिखी और सुनाई जाती हैं जो किसी न किसी संकुचित स्कूल के भीतर समा जायें। जीवन की विविधता का चित्रण करने वाली कविताएं, जो इन स्कूलों में नहीं खप जातीं, इसीलिये वे बेचारी भटक रही हैं और उनका कोई मूल्यांकन नहीं हो पाता। कभी कभी कला के क्षेत्रों में बड़े अच्छे मज़ाक हुआ करते हैं। पहले पिकासो के चित्र मध्यवर्गीय पलायन और विकृति के पर्य्याय थे। जब पिकासो कम्युनिस्ट हो गया तो वे ही चित्र सर्वहारा वर्ग को आगे बढ़ाने लगे और मध्यवर्गीय पूंजीवादी संस्कृति के भण्डाफोड बन गये। सार्त्रे पहले अस्तित्ववादी था, किंतु कुछ दिन से वह प्रगतिशील सा होने लगा है। कुछ प्रगतिशील विचारकों की यह डाँवाडोल तबियत ही पूंजीवाद के ह्रास काल में मरणोन्मुख संस्कृति के इन विभिन्नवादों को जीवित रहने की शक्ति देती है क्योंकि ये विचारक मध्यवर्गीय संस्कारों को छोड़ नहीं पाते।

काव्य और कला के क्षेत्र में यह बातें नहीं भूलनी चाहिये। कलाकार अपने मुख से वर्गस्वार्थ का पोषण कर सकता है, परन्तु उसकी कलाकृति उसी के द्वन्द्वों और अंतर्विरोधों को स्पष्ट करके

उसके खोखलेपन की ओर इङ्गित कर सकती है। उसके कहने और करने का भेद प्रगति की सहायता करने वाला तथ्य होता है।

प्रगतिशील साहित्य उस मानवतावाद को मानता है, जो वर्ग संघर्ष को आधार मानकर चलता है और ये मानता है कि वर्ग संघर्ष के कारण, व्यक्तिपक्ष के आनंद भाव का, लोकपक्ष के आनंद भाव से पूर्णतादात्म्य नहीं होता। प्रयोगवादी साहित्य तथा उसके जैसे उपरिलिखित साहित्य उस मानवतावाद को मानते हैं, जो वर्गसमन्वय को आधार मान कर चलते हैं और उनपर व्यक्तिपक्ष का संकुचित आनंद भाव अपनी संकीर्णता में लोकपक्ष के आनन्द भाव को ठेस पहुंचाता है और उसकी न कोई सामान्य भाव भूमि है, और रस की जगह वे चमत्कारवाद का आश्रय ग्रहण करते हैं। जनसमाज को आनन्द आवे न आये, अर्थात् लोक रंजन की भाव भूमि बने न बने, यदि उन्हें 'कुछ' पढ सुनकर 'मजा' आगया, उनकी 'वासनाएँ झंकृत' होगईं, तों उनका उद्देश्य पूरा होगया। यह मनुष्य के 'विकासवाद' को न मानकर 'स्थिरता' को मानना है। और यह विनाश का चिंतन है।

जब बर्बरदास प्रथा के युग में काव्य पुरोहित वर्ग के हाथ में था, तब उगते हुए सामंतवाद के विकास के समय में भरतमुनि ने काव्य को रसवाद के आधार पर जनता के लिये प्रस्तुत किया था। किंतु क्योंकि यह प्रगति सामंतीय विकास के समय में हुई थी इसमें कुछ बातें थीं जो अब लागू नहीं होतीं। ब्राह्मणों, आरण्यकों और उपनिषदों से मुक्त करके काव्यनाट्यशास्त्र की ओर, कविता को साधारणीकरण के आधार पर जनसमाज के लिये लाया गया था। सामंतकाल ने इतनी प्रगति की थी—वह दास प्रथा का अन्त करके जागीरी किसान प्रथा ले आया था। उस जमाने के हिसाब से वह प्रगति थी। आज वही सिद्धांत लागू करना, यानी जागीरी किसान को समाज में उसीरूप में रखना प्रतिक्रियावाद है। उस समय जो प्रगति थी, वह अपने से पहले के युग के प्रति थी। इसका

अर्थ यह नहीं कि किसान बन जाने पर जनसमाज का शोषण बंद हो गया था। वह दासप्रथा की तुलना में बहुत कम होगया था। फिर भी बना ही रहा। यह जब हम कहते हैं कि फिर शोषण बना ही रहा, तो इसका यह अर्थ होता है कि उच्च वर्गों ने अपने स्वार्थ को स्थापित रक्खा। वह वर्गस्वार्थ भी रसवाद के सिद्धान्त का सामाजिक आधार बना। परन्तु क्योंकि दासप्रथा के अन्त में मनुष्य को समान माना गया, काव्य भी सामान्य मनुष्य के लिये माना गया।

जैसे-जैसे सामंतयुग का काल लम्बा होता गया, और समाज में उत्पादन की प्रणाली न बदल पाने के कारण, विषमता फैली, उच्च-वर्ग और निम्नवर्गों के स्वार्थों के बीच में दरार बढ़ती गई, यह काव्य क्षेत्र में भी प्रगट हुआ। वक्रोक्ति, रीति आदि के मत दरबारी काव्य के आधार बने, जिनसे काव्य को दुरूह बनाने का यत्न होने लगा।

हिन्दी के प्रारम्भ काल में काव्य के दो रूप थे। एक ओर वीर काव्य और दरबारी काव्य था, दूसरी ओर सिद्धों तथा नाथों का काव्य था। यह द्वन्द्व बराबर रहा और द्वन्द्व में भी प्रत्येक के भीतर भी वर्गों के पारस्परिक अन्तर्विरोधी के कारण द्वन्द्व बना रहा। इनसे इतिहास आगे बढ़ा। हिंदी का रीतिकाल फिर सामंतों और उच्च-वर्गों के लिये आराम और चैन का समय था। निम्न वर्णों का समन्यववादी विद्रोह थम गया था। उच्चवर्ण के भक्तों ने समाज को रियायतें दे दीं। आपसी मनमुटाव कम हुआ क्योंकि मुस्लिम साम्राज्यवाद का शोषण बहुत बढ़ गया था। उस समय दो प्रकार के सामंत थे। वे जो जनहित के साथ उस साम्राज्य से लड़ रहे थे, दूसरे जो विलासरत थे। दोनों रूपों में काव्य दरबारी था। भक्ति-काल और सन्तकाल जो आशावादी थे, समाज पक्ष लिये हुए थे, (आचार्य शुक्ल ने जिन्हें वैज्ञानिक विश्लेषण के अभाव में निराशा का युग कहा है,) वे अब अपना कार्य्य समाप्त कर चुके थे, तुलसी ने वर्ण-संघर्ष को मोड़ कर मुगलों के विरुद्ध कर दिया था।

रीतिकाल रस-संचार का युग बन कर नहीं आया, वरन् अपनी दरबारी परंपरा को लेकर आया। इस युग की कविता ने रसवाद को काव्य के अन्य मतों से ढँकने की चेष्टा की।

इस युग के बाद भारतीय पूंजीवाद ने सिर उठाया और छाया वादियों ने फिर काव्य को मुक्त किया। छायावादियों ने काव्य को सामंतीय जाल से छुड़ाया परंतु निम्न मध्यवर्गीय चेतना के बंधनों ने उस काव्य को जन समाज के पास जाने से रोका। इस समय जो धारा काव्य को जन समाज की ओर ले जाने की चेष्टा कर रही है, वह प्रगतिशील विचार धारा है। जो उसे बढ़ने से रोकती है और विभिन्न मतांतरों की जाली ओढ कर नये नये रोड़े अटकाती हैं, वह धारा प्रयोगवादी है।

इस प्रकार जिसे हम आज प्रयोगवाद कह रहे हैं, यद्यपि उसका वाह्यरूप यूरोप से आया है, परन्तु वर्ग संघर्ष में उसका अपना प्रति क्रिया वादी स्वरूप सदैव रहा है। और आज यह प्रयोगवाद ह्रास प्राय पूंजीवाद को बनाये रखने की चेष्टा है।

यहाँ यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि बहुत से प्रयोगवादी कहे जाने वाले कवि आज भी साम्राज्यवाद के विरोधी हैं, पूंजीवादी और सामंतवादी समाज को मिटाना चाहते हैं। इसका उत्तर स्पष्ट र सहज है। ऐसे कवि दो कारणों से उस ओर हैं—

१—वे या तो अपनी चेतना को अभी तक पुराने मोह से मुक्त नहीं कर सके हैं, विकास पूरा नहीं कर सके हैं।

या २—वे, विकृत दृष्टिकोण वाले तथाकथित मार्क्सवादियों के नाम से चलने वाले मार्क्सवादियों के कुत्सित समाज शास्त्र की संकीर्णता से घबराकर उधर चले गये हैं। वे नमूनों (Patterns) में फँसना नहीं जानते। वे जीवन का सर्वांगीण चित्र देखना चाहते थे, जब कि उन्हें केवल राजनीतिक चित्र ही दिया गया।

प्रगतिशील साहित्य के व्यापक दृष्टिकोण में यह लोग यदि पूर्ण-रूप से नहीं तो, कुछ अंश तक सफल उतरते हैं। उनके काव्य की

'मानवीयता' कला क्षेत्र और भावक्षेत्र में हमारे काव्य की वस्तु है। अज्ञेय का 'शेखर' जो व्यक्तिवाद की नीवों पर खड़ा है, 'मानवीयता' के आधार पर ही श्रेष्ठ साहित्य है। उसमें जो सुस्ती और उबाने वाली निर्बलता है, वह उसकी निराशा के कारण नहीं, बल्कि उसकी कमजोर शैली के कारण है, जिसमें ओज का अभाव है। शेखर का व्यक्ति समाज की अनेक रूढ़ियों का वीरता से खंडन करता है, उसने यथार्थ वर्णन भी किया है। उसकी अनुभूति फ्रायड-वादी अवश्य है वह। अंतः प्रकृति और वाह्य प्रकृति में भेद करती है। उपचेतनवाद को ही इसके मूल में रखा जाता है।

उपचेतन मनुष्य के शरीर में है। अतः जिस प्रकार चेतन मस्तिष्क शक्ति मनुष्य के विकास में मस्तिष्क के भौतिक तत्त्वों के गुणात्मक परिवर्त्तन से प्राप्त हुई है, उसी प्रकार उपचेतन शक्ति एक गुणात्मक परिवर्त्तन है। उस उपचेतन को समझना वास्तव में मैस्मरिज्म का काम है और योग संप्रदाय का मूल रूप है। अब मैस्मज्मि एक विज्ञान है और वह ही उसकी असली शक्ति की खोज और जाँच कर सकता है। जो उपचेतन के वर्णन के नाम पर आज व्यक्ति वैचित्र्य को प्रस्तुत करते हैं, वे अपने चेतन मस्तिष्क के द्वारा ही उसे सामने रखते हैं। जो केवल यौन समस्याओं को ही उपचेतना का एकमात्र भण्डार समझते हैं, वे असल में उपचेतन को नहीं समझते। यौन समस्या के प्रति भारत में पूरा वाममार्ग का दर्शन है और उसने चीनक्रम, गंधर्वक्रम, महाराजक्रम इत्यादि के द्वारा मध्य-काल में ही साहित्य ही नहीं, जीवन में भी अनेक प्रयोग किये हैं। यदि वह यौन समस्या जिसको सब समझ सकते हैं, उपचेतन के नाम पर साहित्य में प्रस्तुत की जाती है, जिसका समाज से भी संबंध है या औरों से भी सम्बन्ध है, और सब के चेतन से सहज ग्राह्य है, तब वह हमारे काम की है। जिसका अपने चेतन से सम्बन्ध नहीं है, चेतन के भावों से सम्बन्ध नहीं है, वह उपचेतन की व्यक्ति वैचित्र्य की बात है, और व्यक्तियों के उपचेतन का विज्ञान है, उसका साहित्य

में तभी स्थान हो सकता है जब वह सहज हो और अपनी विकृति के स्थान पर स्वस्थ हो, यौन समस्या को जीवन का एकमात्र ध्येय नहीं बनाले, और यौन समस्या को वही स्थान दे जो जीवन में उसका स्थान है। जो यह मानता है कि मनुष्य भोजन इसलिये करते हैं कि उनमें वीर्य्य और रज पैदा हों, वे केवल विकृत दृष्टि-कोण के लोग ही माने जा सके हैं। उपचेतन के वर्णन के नाम पर चेतन के द्वारा, यौन-मोह फैला कर, जो वर्ग संघर्ष से दूर करने का यत्न किया जाता है, वह अनर्गल होता है। यदि अहं और समाज में कोई सामंजस्य नहीं है तो व्यक्ति और समाज में कोई सामंजस्य नहीं है। यदि दोनों अलग हैं तो स्वसंवेद्य को सामाजिक वाहन-भाषा द्वारा, दूसरों के पास ले जाने की आवश्यकता ही क्या है, जब आप यह मानते हैं कि आपकी बात समझना न औरों के लिये सहज है, न आवश्यक ही? इलाचन्द्रजोशी की 'पर्दे की रानी' को अंतश्चेतनावाद का प्रतीक माना जाता है। उसमें अंतश्चेतना-वाद क्या है? यौन अतृप्तियों की घुटन। जोशीजी ने चाहे जो कुछ सोच कर लिखा हो, पर कलाकृति क्या कहती है! वह मध्यवर्ग की घोर आर्थिक और सामाजिक विषमता को दिखाती है। वह मध्य-वर्गीय युवकों का निरुद्देश्य जीवन बताती है। वह बताती है कि वेश्या की पुत्री को कभी सम्मान नहीं मिलता। यह उसका तथ्य है। यदि इस उपन्यास को केवल अंतश्चेतनावादी माना जाये, तो उसमें यथार्थ और समाज के चित्रण ठीक कैसे माने जायें? किंतु वे ठीक हैं। तब उपन्यास केवल वही नहीं है जो (संभवतः) लेखक बनाना चाहता था, बस लेखक की कमी क्या है? उसने अपने पात्रों को जैसे वे हैं वैसे ही बने रहने की इच्छा दी है। वह उसके अंतश्चेतनावाद का मूल है। वह है समाज को बदलो मत। वह तो ऐसा ही रहेगा। वर्गसंघर्ष के विरोध के लिये लेखक ने अपने पात्रों के लिये मनोविज्ञान के आधार लेकर एक न्याय खड़ा करने का यत्न किया है, किंतु वह असफल हुआ है। उसकी कलाशक्ति अच्छी

है, और इसलिये जो वह कहना चाहता है, वह उपन्यास से नहीं झलकता। हमें एक नितांत असहाय स्त्री मिलती है जो समाज के क्रूर नियमों के कारण दुख पा रही है। वकील का पुत्र इस नारी से संभोग करने को जीवन का चरम लक्ष्य बनाकर, झूंठ बोल कर उसे ठग कर, रेल के नीचे कट जाता है, पर उससे सामाजिक बंधन विवाह–में नहीं बँधना चाहता। यह क्या अंतश्चेतनावाद है? यह तो एक विकृत मनुष्य का ही चित्रण है, और इसे हमें व्यक्ति वैचित्र्यवाद के अंतर्गत रखना चाहिये।

कोई नई बात कहने के पहले लेखक को पाठक में उसके साहचर्य्य की भावना देखनी, या पैदा करनी होगी, तभी लेखक की बात पाठक की समझ में आयेगी, अन्यथा वह अस्पष्ट रह जायेगी। और जो स्पष्ट नहीं होगी वह उक्तिवैचित्र्य में चली जायेगी, जिसका वर्त्तमान स्वरूप यदि तथातकित प्रयोगवाद है, तो पुराने जमाने में उसे उलटबाँसी कहते थे, और दृष्टिकूट पदों के रूप में वह एक समय जीवित रही थी। यदि केवल व्यंग करना उसका ध्येय है तो उसे चुटकुलों का सा स्थान दिया जा सकता है। यह व्यंग ताना मारने के बराबर है, काव्य का पुराना व्यंग नहीं। अधिकाँश में 'विभिन्न रूप वादी' नागरिक चेतना के निम्न-मध्यवर्गीय नमूने हैं, जो निम्न मध्यवर्गीय पूँजीवादी हृदयहीनता से कुण्ठित हैं, और दूसरी ओर ये प्रगतिशील साहित्य को राजनैतिक-मात्र मान कर अपने लिये ऐसे अजीब अजीब रास्ते खोजते हैं।

काव्य के नये रूप के प्रस्तुत करने में ये नये-नये छन्द बनाते हैं। प्रसाद की कविता है—

> बीती विभावरी जागरी
> अम्बर पनघट में डुबा रही
> ताराघट ऊषा नागरी।

आजकल के प्रयोगवादी इसको यों देखेंगे—

बी तो
वि भा व री
जा
ग
री
अंबरप न घट मेंडु बार ही
ता रा
घट
ऊ षा
ना ग
री।

किन्तु यह तो सतही बात हुई। इन समस्त वादों का उदय ऐतिहासिक दृष्टिकोण से हम देख चुके हैं। क्या यह समस्तवाद अपने वर्गसमन्वय के अतिरिक्त, केवल व्यञ्जना मात्र देने के कारण ध्वनि में लिये जा सकते हैं? ध्वनि अपने व्यापक रूप में रस का ही पर्य्याय मानी गई हैं। अपने छोटे रूप में वह काव्य का एक रूप ही है।

रस संप्रदाय ऐन्द्रिय आनंद को ही सर्वस्व नहीं मानता। बुद्धि और कल्पना का सहारा लेकर ही बढ़ता है। रस संप्रदाय का एक यह दोष अवश्य था "कि प्रबंध काव्य के साथ उसका संबंध ठीक बैठ जाता था, परन्तु स्फुट छन्दों के विषय में विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी आदि का सङ्गठन सर्वत्र न हो सकने के कारण कठिनाई पड़ती थी और प्रायः अत्यंत सुन्दर पदों को भी उचित गौरव न मिल पाता था। ध्वनिकार ने इसीलिये तीसरी शक्ति व्यञ्जना पर आश्रित ध्वनि को काव्य की आत्मा घोषित किया।" (ध्वन्यालोक। भूमिका। डा० नगेन्द्र पृ० २२, १९५२)

उपर्युक्त पढ़ने पर याद रखना चाहिये कि साधारणीकरण और रसवाद का नाटक के साथ उदय हुआ था। वह आगे भी प्रबंध

काव्य पर तो लागू हो गया क्योंकि एक का 'वर्त्तमान' दूसरी अवस्था में 'अतीत' का चित्रण होगया, परन्तु गीतकाव्य पर अधिक ध्यान नहीं दिया गया। गीतकाव्य उस समय तक अधिकांश देवताओं के प्रति प्रार्थनापरक था, या वह किन्हीं देवी-देवताओं के विस्तृत जीवन में से किसी अंश का एक खंड चित्रण था। अतः आश्रय में पहले से उसके लिये एक साहचर्य्य भाव बने रहे से गीत उसमें खप जाता था।

किंतु सामंतकाल के समाज में जब विषमता बढ़ी तब काव्य का साधारणीकरण छोड़ कर 'ध्वनि' को व्यापक बनाया गया। इसने रस वाद के 'साधारणीकरण' को छोड़ कर यह कहा, कि शब्द के व्यंग्य अर्थ में ही काव्य है। यानी कि जो भी कहा जाय यदि वह अपनी अभिधा के अतिरिक्त दूसरा अर्थ पहुँचादे तो वह काव्य है। इसको शब्द, अर्थ ध्वनि सब पर लागू किया गया। वस्तु, अलंकार, रसादि जिसमें ध्वनित हों उस काव्य को ध्वनि कहा गया। ध्वनि संप्रदाय जब यह कहता है कि शब्द को सुनकर व्यञ्जना होती है, तभी भाव जागता है और उसकी संवेदना जागती है और तब रस की निष्पत्ति होती है, तब वह व्यञ्जना को शब्दार्थ की व्यापक शक्ति के रूप में मानता है। एक प्रकार से वह उस व्यंजना को देश और काल पर निर्भर भी मानता है। रस को वाच्य न मानकर, अप्रत्यक्ष प्रतीति पर जोर देकर, रस-ध्वनि मानने वालों ने रस के साथ अलंकार, ध्वनि और वस्तु-ध्वनि को भी स्थान देने की चेष्टा की है। ध्वनि संप्रदाय काव्य के वाह्य को काव्य की आत्मा के बराबर बनाने को सचेष्ट हुआ था। किंतु वह पूर्णरूप से उसमें सफल नहीं हुआ। उसे अन्त में यही मानना पड़ा कि रस प्राण है ध्वनि उसके बाद है। यदि रस नहीं है तो ध्वनि की रमणीयता निरर्थक है।

रस मूलतः व्यापक है, उसकी नाट्य की अभिव्यक्ति में वह विभावानुभाव व्यभिचारी के संयोग से निष्पन्न है। भाव विभूति

प्रबंधकाव्य में ही समाप्त नहीं हो जाती, वह गीततत्व में भी उतर आती है। अतः यह वैमनस्य उठता ही नहीं। मस्तिष्क की विभिन्न शक्तियों में से भाव रस का आधार है। परन्तु भाव स्वतंत्र नहीं है वह सब ही मस्तिष्क शक्तियों की सहायता लेता है, स्वयं परिवर्तन शील है, विकासशील है, परन्तु प्रवृत्ति से उसका मूल संबंध होने के कारण, वह इतने धीरे बदलता है, कि उसका बदलना दिखाई नहीं देता, उसके वाह्यरूप अवश्य युगानुसार बदलते रहते हैं।

क्या प्रयोग वाद कोई ऐसी नयी बात बताता है जिसे हम नहीं जानते ? क्या वह कोई ऐसा आनंद देता हैं जो हम जैसे नहीं पा सकते ? यदि कला का मूल रहस्य यह है कि 'अपने कर्त्ता के अतिरिक्त और सभी के लिये अव्यक्त रहे।' तो वह "प्रकारान्तर से ध्वनि की स्वीकृति" (५१० नगेन्द्र वही, पृ० ४७) भले ही हो, किंतु उसका समाज पक्ष गौण है, और वह व्यक्ति वैचित्र्यवाद का ही अंग है।

डा० नगेन्द्र ने इसी भूमिका में हिंदी काव्य का भी अच्छा विकास दिखाया है परन्तु हमने जो सामाजिक विश्लेषण किया है, वे उससे कहीं अलग नहीं दिखाई देते। स्वयंभू में उन्होंने 'रस' का उल्लेख नहीं किया। हम बता चुके हैं सामंतीय विषमताओं से ग्रस्त दरबारी काव्य अलंकार आदि में घुस गया था। चंद ने रसों में वीर और शृङ्गार को ही माना है, और भवभूति के 'करुण' को नहीं लिया, जो लोकपक्ष की सामान्य भाव भूमि है, जो "मा निषाद प्रतिष्ठांत्वमगमः" का मूलस्रोत माना गया है, जो समस्त व्यक्ति और लोक को जोड़ देने वाली मानवीयता का मूलाधार है। धीरे-धीरे रस का विरोध बढ़ता गया। तुलसी ने लोक परक और व्यक्ति परक को मिलाने के कारण रस को स्वीकार किया था। रीतिकाल ने रस पर गहरा हमला किया। देव अवश्य रस के प्रतिपालक थे। यद्यपि उनका वाह्य रूप रीति से भरा था, परन्तु क्योंकि उन्होंने

'स्वकीया' का गुण गाया था, और यों लोकपक्ष का उन्होंने आधार लिया था, वे रस के पक्षपाती बने रहे, अपने युगबंधनों के बावजूद वे रस की ओर से बोलते रहे।

छायावाद की विशिष्ट शैली ने हिंदी में गहरा प्रभाव डाला है। आधुनिक प्रगतिशील काव्य उसकी प्रतिक्रिया के रूप में जनता के समीप जाने के लिये अधिकाधिक अभिधा प्रधान हो गया। जो विशिष्ट शैली, या आभिजात्यशैली के प्रतिपादक हैं, या उससे प्रभावित हैं, वे एकदम अभिधा प्रधान काव्य को काव्य नहीं मानते। शैली जहाँ एक दम अभिधा प्रधान हुई, वहाँ वस्तु विषय भी संकीर्णतावादियों की दया से राजनीतिमात्र रह गया। इसकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप हिंदी में प्रयोगवाद का जन्म हुआ। इसमें जहाँ एक ओर अभिधा प्रधान शैली को ही, काव्य की सांकेतिकता (suggestiveness) छोड़ कर अपना अंत मान लेने के विरुद्ध आवाज है वहाँ बढ़ते हुए वर्गसंघर्ष भरे नये मानवतावाद को सह-सकने का भय भी है। यही प्रयोगवाद है। शैली और वस्तु दोनों को ही दुरूह किया जाता है। उसके लिये 'प्रभाववाद' 'प्रकृतावाद' 'अंतश्चेतनावाद' 'प्रतीकवाद' आदि का सहारा लिया जाता है।

लेकिन यह गलत है कि प्रगतिशील काव्य वही है जो केवल लठ्ठमार अभिधा प्रधान है। रसात्मक वाक्य प्रगतिशील साहित्य का भी अंग है। पलायन वादी कहे जाने वाले बच्चन की उस रचना (एकांत संगीत) में भी जीवन के संबल चित्र हैं, जो किसी भी ?ग में, प्रगतिशील हैं—

प्रार्थनामत कर, मतकर, मतकर,
युद्ध क्षेत्र में दिखला भुजबल।
रह कर अविजित, अविचल प्रतिपल,
मनुज पराजय के स्मारक हैं
मठ, मस्जिद, गिरजाघर,
इत्यादि।

प्रगतिशील साहित्य केवल राजनीति में समाप्त नहीं हो जाता वह इतना संकीर्ण नहीं है जितना समझा जाता है। सौंदर्य्य के समाजपक्ष को मानते हुए भी वह उसके व्यक्ति पक्ष का विरोधी नहीं है, परन्तु वह सौंदर्य्य को युगनिरपेक्ष नहीं मानता, न यह समझता है कि वह अपने आप में पूर्ण (absolute) है। वह उसे सापेक्ष मानता है और उसको विकासशील मानता है। उसकी सौंदर्य भावना में व्यक्ति और समाज पक्ष शत्रु नहीं हैं, एक दूसरे के पूरक हैं, जब कि प्रयोगवाद सौंदर्य्य का स्थिरीकरण करके उसको बीच में ही समाप्त कर देना चाहता है।

यहाँ तक कि प्रयोगवादी कहे जाने वाले 'अज्ञेय' का कलाकार भी 'अज्ञेय आलोचक' के हाथ में नहीं है। वह यही कहता है कि वह बहुत लड़ चुका है—(निवेदन इत्यलम् पृ० १२८)

मैं जो अपने जीवन के,
क्षण क्षण के लिये लड़ा हूँ।
अपने हक के लिये,
विधाता से भी उलझ पड़ा हूँ॥

परन्तु मध्यवर्ग का यह व्यक्ति बड़ी ईमानदारी से स्वीकार करता है कि वह हार गया है—

सहसा शिथिल पड़ गया है,
आक्रोश हृदय का मेरे।
आज शांत हो तेरे आगे,
छाती खोल खड़ा हूँ।

वह अकेला लड़ा था। बिचारा हार गया। कितनी सरलता से वह बताता है कि अकेला लड़ना और वह भी विधाता से? यानी भाग्य से, अर्थात् विषमता से, व्यर्थ है। कोई और साहसी होता तो और लड़ता, लड़ने के तरीके ढूंढता, पर वह व्यक्ति रूप में रहा, हार गया, हार तो उसने समाज के सामने लिख कर

मान ली। यह प्रयोगवाद क्या बुरा है। मध्यवर्ग का इससे अच्छा चित्रण क्या हो सकता है? वह किसके आगे छाती खोल कर खड़ा है? ईश्वर के, या अपने किसी शत्रु के? वह रहस्यवादी होता तो हम मानते कि वह भगवान के सामने है? पर वह स्वयं नहीं जानता। वह कौन है लेखक नहीं बताता। वहकहता है—

मुझे घेरता ही आया है
यह माया का जाला,
मुझे बांधती ही आई है
इच्छाओं की ज्वाला।

यहाँ वह संतों के त्यागवाद में आस्था नहीं रखता।

मेरे कर का खंग मुझी से
स्पर्धा करता आया,
साधन आज मुक्ति की हो
तेरे कर की वरमाला।

उसने जिस हथियार से समाज को, या ईश्वर को, या विधाता को चुनौती दी थी, वह अस्त्र इतना मजबूत नहीं था। वह उल्टा उसी का नाश करने वाला था, अतः उसने मुक्ति किससे मांगी है। जिससे लड़ने चला था, उसी से वरमाला मांगी है। मतलब है कि लड़ कर नहीं जीत सकता, मुझे रियायतें चाहिये। आप जो देदें। वही मेरे सिर आँखों पर! वह कहता है—

मर्म दुख रहा है,
पर पीड़ा तो है सखी पुरानी,
व्यथा भार से नहीं झुका है
यह मस्तक अभिमानी।

इतना होने पर भी दुख है और दुख उसके लिये पुराना हो गया है, फिर भी उसे अहं का गर्व है। मन झुक गया है, पर मस्तक नहीं झुका। मध्यवर्गीय युवक का यह विरोध क्या उसके दैनिक जीवन में नहीं झलकता? तभी वह कहता है—

आज चाहता हूँ कि मौन ही,
रहे निवेदन मेरा।
स्वस्ति वचन में ही हो जावे,
मेरी पूर्ण कहानी।

इसीलिये वह चुप रह जाने में गनीमत समझता है। इस कविता में सिवाय इसके कि जाये की जगह 'जावे' जैसा पुराना रूप प्रयुक्त हुआ है, मुझे कोई प्रयोगवादी चीज नहीं मिलती। सीधी बात है, सीधा मतलब निकलता है। जिन कविताओं में से अच्छा या बुरा, जैसा भी हो, मतलब निकल आता है, वह प्रयोगवादी नहीं हैं, जिनमें से नहीं निकलता, वे अनर्गलतावादी हैं।

क्या 'अज्ञेय' में ही यह निराशावाद है? (अर्चना पृ० ६) निराला को पढ़िये—

दुरित दूर करो नाथ, अशरण हूँ, गहो हाथ।
हार गया जीवन रण, छोड़ गये साथी जन।
एकाकी, नैशक्षण, कण्टक पथ, विगत पाथ॥
देखा है, प्रात किरण फूटी है मनोरमण।
कहा, तुम्हीं हो अशरणशरण, एक तुम्हीं साथ॥
जब तक शत मोह जाल, घेर रहे हैं कराल।
जीवन के विपुल व्याल, मुक्त करो, विश्वनाथ॥

यह एक भक्त का निराशावाद है, वह एक भगवानरहित का निराशावाद था।

यह कविगण मानवतावादी हैं। इनमें किसी में वर्गवाद बनाये रखने की सचेष्टता है, कोई गौणरूप से उस वर्गवाद की आध्यात्मिकता को मानता है। इन सबको छोड़ना नहीं है। ये क्या कहते हैं इसमें बहस नहीं है। ये क्या लिखते हैं? और उस लिखे में से कितना हमारे काम का है, यही हमारा दृष्टिकोण होना चाहिये। पुराने वर्गवाद की पोषक कविता हमारे लिये उतनी हानिकारक नहीं, जितनी नये युग में प्रगति के नाम पर संकीर्णता

वाद को प्रचारित करने वाली कविता, क्योंकि पहली मरणोन्मुख है, दूसरी इतिहास के विकास में भ्रमोत्पादन करती है।

रामविलास शर्मा की 'दिवास्वप्न' कविता में व्यक्ति के नैराश्य का चित्रण देखिये, क्या यह अज्ञेय की परम्परा से श्रेष्ठ है, या जनवादी है—(तारसप्तक १, पृ० ६६)

भूले अतीत का स्वप्न जागता, मिट जाता,
संकुचित एक पल सा हो फीका वर्त्तमान।
देखतीं उसे ही, भर आतीं आँखें, फिर पलकें,
झँप जातीं, खोजातीं छवि वह निराकार।
मैं रह जाता फिर प्रतिदिन सा, प्रतिदिन साही,
गरजता अनागत का अगाध फिर अंधकार।

यहाँ अतीत का स्वप्न वर्तमान को फीका कर देता है। जब वह चला जाता है, कवि वैसा का वैसा ही रह जाता है और भविष्य उसे डराने लगता है। कवि एक तो दिन में सुपना देख रहा था, और फिर उसे दिन में भविष्य का अँधेरा डराने लगता है? व्यक्ति भविष्य से क्यों डरता है? निम्नमध्यवर्गीय हृदय सदैव डरता है। कितना ही वह जनवादी चोगे ओढ़े, पर उसका मन फिर भी क्रान्ति से डरता रहता है। संकीर्णतावाद का जन्म यों होता है—(कार्यक्षेत्र, ता० सप्तक १ पृ० ६३)

धरती के पुत्र की
होगी कौन जाति, कौन मत, कहो कौन धर्म?
धूलि भरा धरती का पुत्र है,
जोतता है बोता जो किसान इस धरती को
मिट्टी का पुतला है,
मिट्टी के चिर संसर्ग में।

किसान आखिर कवि को मिट्टी का पुतला ही दिखाई देता है, अभी वह धरती का पुत्र उसके मध्य वर्गीय क्रान्ति-नेतावाद के भाव को तोड़कर मनुष्य भी नहीं बन सका है। सन्त और भक्त भी इस किसान को मिट्टी का पुतला ही कहते थे। उनकी राय में भी यं

बिचारा मिट्टी में ही मिल जाता था, जब कि प्रेमचन्द इस किसान को मनुष्य मानते थे।

कुसंस्कृत भूमि ये किसान की
धरती के पुत्र की,
जोतनी है गहरी दो चार बार दस बार,
बोना महातिक्त कहाँ बीज असन्तोष का,
काटनी है नये साल फागुन में फसल जो क्रान्ति की।

यहाँ कुसंस्कृत भूमि सामंतीय समाज है। कवि उसमें उलट पुलट करवाना चाहता है। किन्तु असन्तोष का बीज बोकर क्रान्ति की फसल काटना निम्न मध्य वर्गीय नेतृत्व का दुरभिमान है, जैसे ये लोग क्रान्ति की फसलें कटवाने के लिए असन्तोष के बीज बुवाते फिरते हैं। इतिहास अपना असन्तोष अपने आप प्रकट करता है। असन्तोष अपने आप ऐतिहासिक कारणों से जन्म लेता है। क्रान्ति का नेतृत्व उस असन्तोष को वैज्ञानिक व्याख्या के आधार पर भावनात्मक मात्र नहीं रहने देता, उसे इतिहास की आवश्यकता का रूप देकर नया जीवन दर्शन बना देता है। जो असन्तोष के बीज बोने की बात सोचते हैं वे यह नहीं मानते कि क्रान्ति इतिहास की आवश्यकताओं के कारण होती है। वे इतिहास की परिस्थिति और क्रान्ति के नेतृत्व को मिलाकर नहीं देखते। यह 'निम्न मध्य वर्गीय क्रान्तिवाद' यथार्थ को नहीं समझता।

इस प्रकार का प्रभाव छायावाद की विशिष्ट शैली का परिणाम है जो उस युग में आये हुओं में सहज संभाव्य है।

नागार्जुन 'लक्ष्मी' नामक कविता में कहते हैं—

गये नहीं कभी जेल
खेलते ही रहे खेल
बन गये दमड़ीमल तीस हजारी

(नया पथ नवम्बर १६५३ पृ० १६४)

क्या अर्थ हुआ दमड़ीमल जेल तो गये नहीं, पर तीस हजारी बन गये। इसका मतलब है कि अगर वे जेल हो आते तो शायद तीस हजारी बन जाने के हकदार हो जाते।

आगे आप पं० नेहरू का मजाक उड़ाते हैं। क्योंकि वे जन नेताओं जैसे अच्छे नहीं हैं। लिहाजा आपने बात खोजकर निकाली है—

लहू की फेंके थूक
मरें शूद्र शम्बूक
खेलें क्रिकेट राम योजना विहारी।

पंडितजी राम हैं। जनता शंबूक है। अतः ५ वर्षीय योजना बनाने वाले नेहरू तथा उनके संग खेलने वाले बुरे हैं। खेद है, इसका क्या मतलब लिया जाए ? यह जनवादी परम्परा को साफ नहीं करती, क्योंकि पंडित नेहरू के साथ ही गोपालन जैसे कम्युनिस्ट नेता उक्त मैच खेले थे।

यह कविता नागार्जुन ने क्यों लिखी ? उनकी विचार धारा की परम्परा में यह चुटकुलेबाजी, अनर्गलता और वाहवाही लूटने की प्रथा पड़ गई है। × यह सब कुत्सित समाज-शास्त्र है। यह प्रगतिशील साहित्य नहीं है।

हिन्दी साहित्य आज एक महान् युग में से होकर गुजर रहा है। हमें जहाँ एक ओर अपनी समस्त सांस्कृतिक विरासत की इन प्रयोगवादियों से रक्षा करनी है, समाज को आगे ले जाना है, वहाँ संकीर्ण मतावलम्बी प्रगतिशील लेखकों का पर्दा फाश करके, मनुष्य की प्रगति को निम्न मध्य वर्गीय टुटपूँजियों के हाथ से भी इसे बचाना है।

प्रगति और प्रयोग दोनों काव्य के शाश्वत गुण हैं। किंतु इनका

× १९४८ में रेडियो पर ये लोग नहीं जाते थे क्यों कि फासिस्ट सरकार थी। अब सब लोग जाते हैं। शायद अब इन लोगों की राय में रेडियो पर कम्युनिस्टों का अधिकार हो गया है ?

असली रूप हमें पहचानना है। प्रगति वस्तु विषय है, प्रयोग शैली है। प्रगति आत्मा है, प्रयोग शरीर है। किन्तु जिन रूपों में ये आज हिन्दी में प्रचलित हैं, वे दो जातिवाद हैं। इन दोनों का समन्वय इतिहास की आवश्यकता है, किन्तु कैसे? जब प्रयोगवाद अपने जन विरोधी तत्व को छोड़ दे। जो नहीं छोड़ेगा विनष्ट हो जायगा क्योंकि वह श्रेष्ठ कला नहीं दे सकेगा। प्रगतिशील साहित्य वर्ग संघर्ष को मानकर, मनुष्य के सर्वाङ्गीण चित्र को प्रस्तुत करने वाला नया मानवतावाद है, जो समाज की वैज्ञानिक व्याख्या करके पुरानी श्रेष्ठ विरासत को अपने भीतर लेता हुआ वर्गहीन समाज बनाता हैं और मनुष्य को रूढ़ियों से मुक्त करके ज्ञान की। ओर ले जाता है और व्यक्ति और समाज के बीच के उन समस्त व्यवधानों को तोड़ देता है जो उन्हें विकास में एकचित्त होने से रोकते हैं और इसी लिए वह हवा के नहीं बल्कि जगत और शोषित समाज के समीप आता है, और कठोर सत्यों में से जीवन की शक्ति ग्रहण करता है। मनुष्य की इस गौरव गाथा का शिवमंगलसिंह 'सुमन' ने यों प्रारम्भ किया है:—

मुर्दों में प्राण फूँकने को
    मेरी वाणी विह्वल आतुर
पत्थर सी छाती फोड़ रहे
    फिर आज उमंगों के निर्झर
जिह्वा पर ताला हो अथवा
    छाती पर वज्र प्रहार प्रबल
        फिर भी मेरा विश्वास अटल

और (प्रलज–सृजन पृ० ८४)

हाथों में लिए मृदु बीन
अपने गान में तल्लीन
मैं युग युग फिरा गतिहीन
रचता नित नया सङ्गीत

धरता नित निराले वेष
गाने को अभी अवशेष
अंबुधि में भरे हैं गान
अम्बर में भरे हैं गान
धरती में भरे हैं गान
कनकन में भरे हैं गान
जन जन में भरे हैं गान
कैसे मौन हो फिर हाय
मेरी श्वास का सन्देश
गाने को अभी अव शेष।

अभी बहुत कुछ गाने को पड़ा है। उसे गाने के लिए कवि विह्वल हो रहा है, क्योंकि वह अब दासत्व के पत्थरों को तोड़ रहा है और नये युग का सजन करना चाहता है।

लेखक की अन्य रचनाएँ

उपन्यास :—(१) घरौंदे ५) (२) बिषादमठ ४) (३) मुर्दों का टीला ७॥) (४) सीधासादा रास्ता ६॥) (५) चीवर ५) (६) प्रतिदान ४) (७) अंधेरे का जुगनू ५) (८) हुजूर १॥) (९) काका २) (१०) पराया ३) (११) उबाल (प्रेस में) (१२) अधूरा किला (प्रेस में)

कहानियाँ :—(१३) इन्सान पैदा हुआ २।) (१४) ऐयाश मुर्दे ३।) (१५) अंगारे न बुझे २॥) साम्राज्य का वैभव २) (१७) समुद्र के फेन २।॥) (१८) तूफानों के बीच १)

नाटक :—(१९) स्वर्गभूमि का यात्री २) (२०) रामानुज १॥)

काव्य :—(२१) मेधावी ३) (२) अजेय खंडहर २) (२३) राह के दीपक २) (२४) पिघलते पत्थर २) (२५) कामधेनु (प्रेस में ((२६) आर्य्या (प्रेस में)

सचित्र काव्यानुवाद :—(२७) गीतगोविन्द (प्रेस में) (२८) ऋतु संहार (अंगरेजी में भी अनूदित) (प्रेस में) (२९) मेघसंदेश (अंगरेजी में भी अनूदित) (प्रेस में)